संकल्पविकल्परहित। शुद्ध सर्वांगीं विभूत। यालागीं बोलिजे 'अवधूत'। येरहवीं विख्यात ब्राह्मणु॥ २७०॥ सभोंवता समस्तु। प्रपंच निजबोधें असे धूतु। यालागीं बोलिजे 'अवधूतु'। येरहवीं विख्यातु ब्राह्मणु॥ ७१॥ अहं धुई तो 'अवधूतु'। तोचि योगी तोचि पुनीतु। जो का अहंकारग्रस्तु। तोचि पतितु जन्मकर्मी॥ ७२॥ वार्धक्य यावें देहासी। तंव देहपण नाहीं देहापासीं। रिगमु नव्हेच जरेसी। तारुण्यासी तें मूळ॥ ७३॥ आणिकही त्याचीं लक्षणें। निच नवा बोधु मैळों नेणें। भोगिजे नित्य नूतनपणें। परम तारुण्यें टवटवला॥ ७४॥ निजबोधाचिया सत्ता। द्वैत जिंतिलें तत्त्वतां। ऐसा निःशंकु विचरतां। भय सर्वथा त्या नाहीं॥ ७५॥ ऐशीं लक्षणें निर्धारितां। अवधूत निजबोधें पुरता। यदूसी उपजली विनीतता। श्रद्धा सर्वथा अनिवार॥ ७६॥ करूनि साष्टांग दंडवत। अतिनम्र श्रद्धायुक्त। हात जोडूनि पुसत। प्रसन्न चित्त रायाचें॥ ७७॥

यदुरुवाच—कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्कर्तुः सुविशारदा। यामासाद्य भवाँल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत्॥ २६॥

अपूर्व बुद्धि हे स्वामी। तुमचे ठायीं देखों आम्ही। जे न लभे यमनियमीं। कर्मधर्मीं आचरतां॥ ७८॥ दिसतोसी सर्वार्थीं कुशळ। परी कांही न करूनि निश्चळ। अकर्तात्मबोधें तूं केवळ। जैसें बाळ अहेतुक॥ ७९॥ तूं बालाऐसा वर्तसी। परी बालबुद्धि नाहीं तुजपासीं। सर्वज्ञ सर्वथा होसी। ऐसें आम्हांसी दिसतसे॥ २८०॥ येवोनियां या लोकासी। पावोनियां नरदेहासी। सार्थकता तुझ्याऐसी। आणिकापाशीं न देखों॥ ८१॥

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः। हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः॥ २७॥

प्रायशा ये लोकीं लोक। धर्मअर्थकामकामुक। येचिविखीं ज्ञान देख। आवश्यक करितांति॥ ८२॥ आम्ही स्वधर्म करितों म्हणती। स्नानसंध्येची कीर्ति मिरविती। शेवटीं गायत्रीचें फळ देती। अर्थप्राप्तीलागोनी॥ ८३॥ वेदोक्त आम्ही करितों याग। संस्थापितों वेदमार्ग। शेखीं तो करिती जीविकायोग। स्वर्गभोग वांछिती॥ ८४॥ एक म्हणती आम्ही स्वकर्मक। कुश मृत्तिका नाशिती उदक। समयीं आलिया याचक। इवलीसी भीक न घालिती॥ ८५॥ दांभिक वाढवावया स्फीती। वैष्णवदीक्षा अवलंबिती। देवपूजा इळफळीत दाविती। शंख लाविती दों हातीं॥ ८६॥ आयुष्यदानी पुण्यपुरुष। आम्ही चिकित्सक अहिंस। स्थावर जंगम जीव अशेष। मारूनियां यश मिरविती॥ ८७॥ यश वाढवावयाकारण। तुळापुरुष करिती दान। देहो मूत्रविष्ठें परिपूर्ण। धन त्यासमान जोखिती॥ ८८॥ परी परमार्थांचिया चाडा। कोणी वेंचीना कवडा। भूल कैशी पडली मूढां। स्वार्थ रोकडा विसरले॥ ८९॥ पूर्वीं अदृष्टीं नाहीं प्राप्ती। ते श्रीकामा उपास्ती करिती। श्रियचा स्वामी श्रीपती। त्यातें न भजती अभाग्य॥ २९०॥ लक्ष्मी विश्वगुरु हरीची पत्नी। तीतें जो तो राखे अभिलाषूनी। नेदिती हरीची हरिलागोनी। त्यातें पतनीं हरि पचवी॥ ९१॥ रोगत्यागें आयुष्य मागती। यालागीं सविता उपासिती। देहो नश्वर हें नाठवे चित्तीं। पडली भ्रांती निजपदा॥ ९२॥ एवं आयुष्य-यश-श्रीकामीं। समस्त भजतां देखों आम्ही। परी नवल केलें तुवां स्वामी। परब्रह्मीं निजबोधु॥ ९३॥ विषयबळ अलोलिक। मिथ्या भ्रमें भ्रमले लोक। ज्ञानसाधनें साधोनि देख। विषयसुख वांछिती॥ ९४॥ वेदांतवार्तिकवाक्स्फूर्ती। अद्वैत ब्रह्म प्रतिपादिती। शेखीं पोटासाठीं विकिती। नवल किती सांगावें॥ ९५॥ एक म्हणविती योगज्ञानी। वायुधारणा दाविती जनीं। टाळी लावूनि बैसती ध्यानीं। जीविका मनीं विषयांची॥ ९६॥ ऐसे विविदिषा लोक। साधनें

साधूनि झाले मूर्ख। तुवां केलें जी अलोलिक। आत्मसुख साधिलें॥ १७॥ ऐसें स्वामी अवधूता। तुवां तृणप्राय केलें जीविता। तुच्छ करोनि लोकां समस्तां। निजात्महिता मीनलासी॥ १८॥ निजानंदें निवालासी। अंतरी शीतळ झालासी। ऐसें दिसताहे आम्हांसी। उपलक्षणेंसी परियेसीं॥ १९॥

त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः। न कर्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत्॥ २८॥

सर्वज्ञज्ञाता तूं होसी। तें ज्ञातेपण दिसों नदेसी। कांहीं करिसी ना वांछिसी। जडत्वें दाविसी निजशांती॥ ३००॥ सर्वथा उगा अससी। परी तूं अंगें विकळ नव्हसी। अंगीं अव्यंगु दिसतोसी। स्वरूपरूपेंसीं शोभितु॥ १॥ ज्ञान एकलेपणें ठेलें। दुजेनिवीण परदेशी झालें। तें तुजमाजीं सामावलें। यालागीं आलें 'कवि' पद॥ २॥ करूनि झालासी अकर्ता। हेचि तुझी थोर 'दक्षता'। ब्रह्मरसें 'रसाळ' बोलतां। चवी अमृता तें कैंची॥ ३॥ ब्रह्मरस तू प्यालासी। ब्रह्मानंदें मातलासी। जगीं 'उन्मत्त' झालासी। दृष्टीं नाणिसी कोणातें॥ ४॥ सदा सावध निजरूपेंसी। यालागीं 'माझें-तुझें' न म्हणसी। तेंचि 'पिसेंपण' तुजपाशीं। दिसे जगासी सर्वथा॥ ५॥ निजबोधें तृप्त झालासी। परमानंदें निवालासी। तीं हीं लक्षणें तुजपासीं। निधरिंसीं दिसताती॥ ६॥

जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना। न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गांभःस्थ इव द्विपः॥ २९॥

कामलोभदावाग्नी-। माजीं जळतां लोक तीन्ही। देखत असों जी नयनीं। वेगळा कोणी दिसेना॥ ७॥ ते दावाग्नीमाजीं असतां। तूं न पोळसी गा अवधूता। नवल तुझी अक्षोभ्यता। नकळे सर्वथा आम्हांसी॥ ८॥ वणवा जळे दोंही थडीं। गजें गंगाजळीं दिधली बुडी। त्यासी न लागती तापाच्या वोढी। तैसें निरवडीं तुज देखों॥ ९॥ ऐशीं द्वंद्वें तुज नातळती। दृढ राहिलासी ब्रह्मस्थितीं। कांही एक करीन विनंती। कृपामूर्ति दयाळुवा॥ ३१०॥

त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम्। ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः॥ ३०॥

तूं ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण। निजानंदें परिपूर्ण। त्या आनंदाचें कारण। विशद करून सांगावें॥ ११॥ तूं देहीं वर्तसी विदेहस्थिती। तुज विषय आतळूं न शकती। हे अलिप्तपणाची प्राप्ती। कवण्या रीतीं तुज झाली॥ १२॥ तुज नाहीं रायाची भीड। न करिसी धनवंताची चाड। दीनवचन मानिसी गोड। पुरविसी कोड निजबोधें॥ १३॥ ऐसा केवळ तूं कृपाळू। आर्तबंधु दीनदयाळु। निजात्मभावें तूं केवळु। भक्तवत्सलु भावार्थें॥ १४॥ ऐसा यदूचा संवादु। आवडीं सांगे गोविंदु। उद्धवासी म्हणे सावधु। हृदयीं बोधु धरावा॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच—यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा। पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः॥ ३१॥

श्रीमुखें श्रीकांत। यदूचें भाग्य वर्णित। ब्राह्मणभक्त सत्त्वयुक्त। बुद्धिमंत श्रद्धाळु॥ १६॥ भगवद्भाग्यें भाग्यंवतु। यदूसी भेटला तो अवधूतु। त्यासी होऊनि अतिविनीतु। असे विनवितु निजहिता॥ १७॥ मृदु मंजुळ वचनीं प्रार्थिला। मधुपर्कविधानें पूजिला। अवधूत अतिसंतोषला। बोलता झाला निजमुखें॥ १८॥

ब्राह्मण उवाच—सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः। यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह ताञ्छृणु॥ ३२॥

क्षीरसागर उचंबळला। कीं कृपेचा मेघ गर्जिन्नला। निजसुखाचा वाधावा आला। तैसें बोलिला ब्राह्मणु॥ १९॥ ऐकें राजया चूडामणी। यदुकुळदीप दिनमणी। धन्य धन्य तुझी वाणी। निजगुणीं निवविलें॥ ३२०॥ राजा आणि सात्त्विकु। सिद्धलक्षणें लक्षकु। पृथ्वीमाजीं तूचि

एकु। न दिसे आणिकु सर्वथा॥ २१॥ सुंदर आणि सगुण। उत्तमोत्तम केला प्रश्न। पुसिलें निजानंदकारण। तें यथार्थ जाण सांगेन॥ २२॥ गूरूविण आत्मप्राप्ती। सर्वथा न घडे गा नृपती। ते गुरूही मी तुजप्रती। यथानिगुतीं सांगेन॥ २३॥ निजबुद्धीच्या विवेकस्थितीं। बहुत गुरु म्यां केले असती। जे जे सद्गुण म्यां देखिले भूतीं। ते ते स्थितीं तो गुरु॥ २४॥ बुद्धीनें अंगिकारिलें गुणा। निजधैर्यें धरिली धारणा। तेणें मी मुक्त झालों जाणा। स्वेच्छा अटणा करीतसें॥ २५॥ संसारु तरावया। मुख्य 'सद्बुद्धि' गा राया। रिगमू नाहीं आणिका उपाया। व्यर्थ कासया शिणावें॥ २६॥ सद्बुद्धि नाहीं ज्यापासीं। तो संसाराची आंदणी दासी। उसंत नाहीं अहर्निशीं। दुःखभोगासी अनंत॥ २७॥ सद्बुद्धि नाहीं हृदयभुवनीं। तेथ वैराग्य नुपजे मनीं। मा तो तरेल कैसेनीं। विवेक स्वप्नीं न देखे॥ २८॥ वैराग्याचेनि पडिपाडें। ज्यासी सद्बुद्धि सांपडे। तेथ संसार कोण बापुडें। घायें रोकडें विभांडी॥ २९॥ आधीं संसारु एकु असावा। मग तो खटाटोपें नासावा। जो रिघाला विवेकगांवा। त्यासी तेव्हां तो नाहीं॥ ३३०॥ संसारनाशासी मूळ। शिष्य-प्रज्ञाचि केवळ। तिचें झाल्या अढळ बळ। होये मृगजळ संसारु॥ ३१॥ जे मी गुरु सांगेन म्हणे। तें निजप्रज्ञेचेनि लक्षणें। हेयादेयउपायपणें। घेणें त्यजणें सविवेकें॥ ३२॥ हेचि मऱ्हाठिया भाखा। सांगेन तें सावध ऐका। जेणें शिष्याचा आवांका। पडे ठाउका प्रत्यक्ष॥ ३३॥ ऐक प्रज्ञेचीं लक्षणें। सांगेन दृष्टांतपणें। सूप चाळणी रांधणें। घेणें त्यजणें विवेकें॥ ३४॥ चाळणीमाजीं जें जें पडे। सूक्ष्म निजतत्त्व तळीं सांडे। उरती गुणदोषांचे खडे। करिती बडबडे खडबडित॥ ३५॥ ऐसी जे अवस्था। ते त्यागावी सर्वथा। भ्रंशु होईल स्वार्था। हे राखतां त्रिशुद्धी॥ ३६॥ सुपाची दशा ते ऐशी। त्यजी रजःकण भुसासी। निडारल्या निजबीजासी। निजहृदयेंसीं राखत॥ ३७॥ स्वयें वैराग्यें तापणें। ते दशा 'रांधणें' म्हणें। अपक्वासी परिपक्व करणें। निजगुणें निजांगें॥ ३८॥ एवं या दोनी दशा। दृढ धराव्या वीरेशा। तेणें परमार्थु होये आपैसा। जेवी आरिसा हातींचा॥ ३९॥ यदूसी म्हणे ब्राह्मण। जें म्यां सांगितलें लक्षण। तेथें ठेवूनियां मन। सावधान परियेसीं॥ ३४०॥ जो जो जयाचा घेतला गुण। तो तो गुरु म्यां केला जाण। गुरूसी आलें अपारपण। जग संपूर्ण गुरु दिसे॥ ४१॥ ज्याचा गुण घेतला। तो सहजें गुरुत्वा आला। ज्याचा गुण त्यागरूपें घेतला। तोही गुरु झाला अहितत्यागें॥ ४२॥ एवं त्यागात्यागसमतुकें। दोहींसी गुरुत्व आलें निकें। राया तूं पाहें पां विवेकें। जगचि असकें गुरु दिसे॥ ४३॥ ऐसें पाहतां सावकाशीं। गुरुत्व आलें जगासी। हेंचि साधन जयापासीं। तोचि परमार्थासी साधकु॥ ४४॥ ऐसें सांगतां अचाट। तुज वाटेल हें कचाट। तरी गुरु सांगों श्रेष्ठ श्रेष्ठ। मानिले वरिष्ठ निजबुद्धीं॥ ४५॥

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः। कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद्गजः॥ ३३॥
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः। कुमारी शरकृत्सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत्॥ ३४॥

गुरु सांगेन अशेष। संख्याप्रमाण 'चोवीस'। त्यांचीं नांवें तूं परिस। सावकाश सांगेन॥ ४६॥ पृथ्वी वायु आकाश। अग्नि आप सीतांश। सातवा तो चंडांश। कपोता परिस आठवा॥ ४७॥ अजगर सिंधु पतंग। मधुमक्षिका गज भृंग। हरिण मीन वेश्या साङ्ग। नांवें सुभग 'पिंगला'॥ ४८॥ टिटवी आणि लेंकरूं। कुमारी आणि शरकारु। सर्प कातणी पेशस्करु। इतुकेन गुरु चोवीस॥ ४९॥ पावावया तत्त्व पंचविसावें। चोविसां गुरूंसी उपासावें। विवेकयुक्तिस्वभावें। गुरु भजावे निजबुद्धीं॥ ३५०॥ ठाकावया निजबोधासी। निजविवेकें अहर्निशीं। गुरुत्व देऊनि अनेकांसी।

निजहितासी गुरु केले॥ ५१॥ कोण युक्ति कोण विचारु। कोणें लक्षणें कोण गुरु। केला तोही निजनिर्धारु। सविस्तारु परियेसीं॥ ५२॥

एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः। शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः॥ ३५॥

ऐकें राजवर्य नृपती। विवेकधवलचक्रवर्ती। गुरुसंख्या तुजप्रती। यथानिगुतीं सांगितली॥ ५३॥ यांचिया शिक्षिता वृत्ती। शिकलों आपुलिया युक्तीं। मग पावलों आत्मस्थिती। विकल्पभ्रांती सांडूनी॥ ५४॥

यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज। तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते॥ ३६॥

नहुषाचा पुत्र ययाती। ययातीचा यदु निश्चितीं। 'नाहुषनंदन' यदूसी म्हणती। मूळ व्युत्पत्ती तेणें योगें॥ ५५॥ यालागीं म्हणे 'नाहुषनंदना'। पुरुषांमाजीं पंचानना। सांगेन गुरूंच्या लक्षणा। विचक्षणा परियेसीं॥ ५६॥ ज्या गुरूचें जें शिक्षित। मी शिकलों सुनिश्चित। तें ते सांगेन समस्त। सावध चित्त करीं राया॥ ५७॥ ऐकावया गुरुलक्षण। यदूनें सर्वांग केलें श्रवण। अर्थीं बुडवूनियां मन। सावधान परिसतु॥ ५८॥ शब्द सांडोनियां मागें। शब्दार्थामाजीं रिगे। जें जें परिसतु तें तें होय अंगें। विकल्पत्यागें विनीतु॥ ५९॥

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः। तद्विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम्॥ ३७॥

परमार्थीं मुख्य शांती। साधकांसी पाहिजे निश्चितीं। यालागीं प्रथम गुरु क्षिती। निजशांतीलागूनी॥ ३६०॥ 'पृथ्वी' गुरु त्रिविध पाहीं। पर्वत वृक्ष आणि मही। यांचीं लक्षणें धरितां देहीं। गुरुत्व पाहीं पृथ्वीसी॥ ६१॥ अंतरनिग्रहो ते 'शांती'। बाह्येंद्रियनिग्रहो ते 'दांती'॥ उभयसहिष्णुता ते 'क्षांती'। क्षांतीसी क्षिति गुरु केली॥ ६२॥ पृथ्वीते नानाभूतीं। माझी माझी म्हणौनि झोंबती। नाना भेदीं भिन्न करिती। निजवृत्तिव्यवहारें॥ ६३॥ त्या भूतांचें भिन्न वर्तन। पृथ्वी संपादी आपण। मोडों नेदी अभिन्नपण। अखंड जाण सर्वदा॥ ६४॥ तैसें योगियांचे लक्षण। करितां कर्म भिन्नभिन्न। वृत्ति अखंडदंडायमान। सर्वदा जाण असावी॥ ६५॥ देहासी अदृष्टयोगें गती। भूतें अदृष्टयोगें आक्रमिती। भूतीं निजात्मता भाविती। द्वंद्वें न बाधिती साधकां॥ ६६॥ येथ भूतीं पृथ्वी पूजिली। नातरी विष्ठामूत्रीं गांजिली। हर्षविषादा नाहीं आली। निश्चल ठेली निजक्षांतीं॥ ६७॥ भूतें पार्थिवेंचि तंव झालीं। तिहीं पृथ्वी पूजिली ना गांजिली। ऐक्यें द्वंद्वभावा मुकलीं। निश्चळ झाली निजरूपें॥ ६८॥ तैसाचि योगियाही जाणा। भूतवैषम्यें डंडळेना। सर्वभूती निजात्मभावना। विषमीं समाना भावितां॥ ६९॥ आतां पृथ्वीची अभिनव शांती। ते सांगेन राया तुजप्रती। जे शांति धरोनि संती। भगवद्भक्ती पावले॥ ३७०॥ पृथ्वी दाहेंकरूनि जाळिली। नांगर घालूनि फाळिली। लातवरीं तुडविली। तोडिली झाडिली पैं भूतीं॥ ७१॥ तो अपराधु न मनूनि क्षिती। सवेंचि भूतांतें प्रसन्न होती। तेथेंचि पिकवूनि नाना संपत्ती। तृप्ति देती भूतांतें॥ ७२॥ ऐसऐशिया निजशांती-। लागीं गुरु म्यां केली क्षिती। ऐक सभाग्या भूपती। शांतीची स्थिति अभिनव॥ ७३॥ एकें अपराधु केला। दुजेनि उगाचि साहिला। इतुकेनि शांतु केवीं झाला। उपेक्षिला अपराधी॥ ७४॥ ऊंसु मोडी त्या गोड भारी। छेदितें शस्त्र गोड करी। पिळिलियाआळिलियावरी। स्वादाचिया थोरी अपकाऱ्यां देतु॥ ७५॥ अपराध साहोनु अंगी। त्याच्या प्रवर्ते हितालागीं। तेचि 'शांती' पैं जगीं। होय दाटुगी निर्द्वंद्व॥ ७६॥ अपराध साहोनि

अंगावरी। अपराध्या होइजे उपकारी। हें शिकलों पृथ्वियेवरी। परोपकारीं पर्वत॥ ७७॥

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः। साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम्॥ ३८॥

पृथ्वीपासोनि झाले। ते पर्वतही म्यां गुरु केले। त्यांपासोनि जें जें शिकलें। तेंही वहिलें परियेसीं॥ ७८॥ रत्न-निकर समस्त। पर्वत परार्थचि वाहत। तृण जळ नाना अर्थ। तेही परार्थ धरितसे॥ ७९॥ कोणासी नेमी ना निवारी। उबगोनि न घाली बाहेरी। याचकाचे इच्छेवरी। परोपकारीं देतसे॥ ३८०॥ ग्रीष्माअंतीं सर्व सरे। परी तो देतां मागें न सरे। सवेंचि भगवंते कीजे पुरें। वर्षोनि जळधरें समृद्धी॥ ८१॥ जंव जंव उल्हासें दाता देतु। तंव तंव पुरवी जगन्नाथु। विकल्प न धरितां मनाआंतु। देता अच्युतु अनिवार॥ ८२॥ सत्य अच्युत दाता। हें न मनेचि तत्त्वतां। यालागीं दरिद्रता। विकल्पवंता लागली॥ ८३॥ एवं पर्वताची जे उत्पत्ती। ते परोपकारार्थ एकांतीं। उपकारावांचूनि चित्तीं। दुजी वृत्ति जाणेना॥ ८४॥ त्या पर्वताऐशी तत्त्वतां। असावी साधकासी उदारता। काया वाचा आणि चित्ता। सर्वस्व देतां उल्हासु॥ ८५॥ चेष्टामात्रें परोपकारता। सर्वदा करावी समस्तां। कोटिलाभा हाणोनि लाता। उपकारीं तत्त्वतां उद्यतु॥ ८६॥ परमार्थाचिया चाडा। स्वार्थ सांडोनि रोकडा। परोपकारार्थ अवघडा। रिघे सांकडा परार्थें॥ ८७॥ उपकारुचि साकारला। कीं परोपकारु रूपा आला। तैसा जन्मोनि उपकारी झाला। उपकारला सर्वांसी॥ ८८॥ ऊंसु जैसा अवधारीं। सर्वांसी गोडपणें उपकारी। तैसाचि योगिया संसारीं। परोपकारी मधुरत्वें॥ ८९॥ जैसे पर्वतीं निर्झर। तैसे उपकाराचे पाझर। सुकों नेणती निरंतर। कृतोपकार जग केलें॥ ३९०॥ सांडोनि कृपणवृत्तीची संगती। उपकारी पर्वत एकांतीं। राहिलासे उपकारमूर्ती। धैर्यवृत्ति निर्धारें॥ ९१॥ परोपकारालागीं निश्चित। गुरु केला म्यां पर्वत। आतां वृक्षापासोनि जें शिक्षित। तेंही समस्त परियेसीं॥ ९२॥ सर्वांगें सर्वभावेंसी। सर्वकाळ सर्वदेशीं। पराधीन होआवें सर्वांसी। हें वृक्षापाशीं शिकलों॥ ९३॥ वृक्ष जेणें प्रतिपाळिला। तो त्या आधीन जाहला। कां जो छेदावया रिघाला। त्याही झाला स्वाधीनु॥ ९४॥ योगिया पालखीसी घातला। तेव्हां त्याचिया आधीन झाला। एकीं झूळीं द्यावया चालविला। तेव्हां त्याच्याही बोला आधीनु॥ ९५॥ सांडूनि देहींची अहंता। योगियासी झाली पराधीनता। विश्व माझा आत्मा सर्वथा। सर्वांच्या वर्तता बोलाआंतु॥ ९६॥ सर्व तें मीचि आहें। यालागीं साधक बाधक न पाहे। त्याच्या बोलामाजीं राहे। वर्तता होये संतोषें॥ ९७॥ प्राप्त जें जें सुखदुःख। तें तें अदृष्टाआधीन देख। आत्मा मानुनी सकळ लोक। पराधीन देख वर्तत॥ ९८॥ सकळ लोकीं निजात्मता। देखता जाहली पराधीनता। हें वृक्षापासोनि तत्त्वतां। 'परात्मता' शिकलों॥ ९९॥ आणीक एक लक्षण। वृक्षापासोनि शिकलों जाण। अतिथीचें पूजाविधान। तें सावधान परियेसीं॥ ४००॥ अतिथि आल्या वृक्षापासीं। वंचनार्थु न करी त्यासी। पत्रपुष्पफलमूळच्छायेसीं त्वचाकाष्ठांसी देतसे॥ १॥ जो वृक्षासी प्रतिपाळी। कां जो घावो घालूं ये मूळीं। दोंहीसीही सममेळीं। पुष्पीं फळीं संतुष्टी॥ २॥ जैसा वृक्ष समूळ सगळा। अर्थियांलागीं सार्थक जाहला। तैसा चित्तें वित्तें देहें बोला। साधु संतुष्टला अर्थ्यांसी॥ ३॥ अतिथीसी नव्हे पराङ्मुख। हा साधूसी गुण अलोलिक। अन्न धन उदक। यथासुखें देतुसे॥ ४॥ अर्थी आल्या अर्थावयासी। विमुख न व्हावें सर्वस्वेंसीं। हें शिकलों वृक्षापासीं। विवेकेंसीं निजबुद्धीं॥ ५॥ एवं

पृथ्वी गुरु झाली ऐसी। दुजें गुरुत्व तें वायूसी। आलें जें जें युक्तीसी। तें तें परियेसीं नरदेवा॥ ६॥ गुरुत्व जें वायूसी। तें दों प्रकारीं परियेसीं। एक तें प्राण वृत्तीसीं। बाह्य वायूसी दुसरें॥ ७॥

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः। ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः॥ ३९॥

प्राणाचियेपरी। जो विषयीं आसक्ती न धरी। विषय सेविलियाही वरी। नव्हे अहंकारी प्राणु जैसा॥ ८॥ प्राणाभ्यासें क्षुधा अद्भुत। तेव्हां प्राणासीच क्षोभ येत। तेणें काया वाचा चित्त। विकळ पडत इंद्रियें॥ ९॥ तया प्राणासी आधारु। भलतैसा मिळो आहारु। परी धडगोडांचा विचारु। न करी साचारु पैं प्राणु॥ ४१०॥ तैसाचि योगिया पाहीं। तो अभिमान न धरी देहीं। विषयो सेवी परी कांही। आसक्ति नाहीं तयासी॥ ११॥ क्षुधेचिया तोंडा। मिळे कोंडा अथवा मांडा। परी रसनेचा पांगडा। न करी धडफुडा तयासी॥ १२॥ ज्ञानधारणा न ढले। इंद्रियें नव्हती विकळें। तैसा आहार युक्तिबळें। सेविजे केवळें निजधैर्यें॥ १३॥ प्राणास्तव इंद्रियें सबळें। प्राणयोगें देह चळे। त्या देहकर्मा प्राणु नातळे। अलिप्त मेळें वर्ततु॥ १४॥ त्या प्राणाच्या ऐसी स्थिती। योगियाची वर्तती वृत्ती। सर्व करूनि न करी आसक्ती। देहस्थिति नातळे॥ १५॥ ब्रह्मादिकांचा देह पाळूं। कां सूकरादिकांचा देह टाळूं। ऐसा न मानीच विटाळू। प्राणु कृपाळु समभावें॥ १६॥ तैसेंच योगियाचें कर्म। न धरी उंच नीच मनोधर्म। कदा न देखे अधमोत्तम। भावना सम समभावें॥ १७॥ आवडीं प्रतिपाळावा रावो। रंकाचा टाळावा देहो। ऐसा प्राणासी नाहीं भावो। शुद्ध समभावो सर्वत्र॥ १८॥ प्राण अपान समान उदान। सर्व संधी वसे व्यान। इतुकीं नामें स्थानें पावोनि जाण। न सांडी प्राण एकपणा॥ १९॥ तैसे उंच नीच वर्णावर्ण। अधमोत्तमादि गुणागुण। देखोनियां योगी आपण। भावना परिपूर्ण न सांडी॥ ४२०॥ प्राणु असोनि देहाभीतरीं। बाह्य वायूसी भेद न धरी। तैशी योगिया भावना करी। बाह्याभ्यंतरीं ऐक्यता॥ २१॥

विषयेष्वाविशन्योगी नानाधर्मेषु सर्वतः। गुणदोषव्यपेतात्मा न विपज्जेत वायुवत्॥ ४०॥

पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः। गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक्॥ ४१॥

ऐक्यता साधावी चतुरीं। ते वायूच्या ऐशी दोंहीपरी। बाह्य आणि अंतरीं। ऐक्यकरीं वर्तावें॥ २२॥ प्राणवृत्तीचीं लक्षणे। तुज सांगितलीं संपूर्णें। आतां बाह्य वायूचीं चिन्हें। सावधानें परियेसीं॥ २३॥ वायु सर्वांतें स्पर्शोनि जाये। परी अडकला कोठें न राहे। तैसें विषय सेवितां पाहे। आसक्तु नव्हे योगिया॥ २४॥ असोनि इंद्रियांचेनि मेळें। तो विषयांमाजी जरी खेळे। तरी गुणदोष आसक्ति मेळें। बोधु न मळे तयाचा॥ २५॥ वस्त्र चंदन वनिता माळा। सदा भोगितां विषयसोहळा। वायु नातळे जेवीं जाळा। तेवीं योगी वेगळा विषयांसी॥ २६॥ जैसें वारेनीं जाळ उडे। परी जाळीं वारा नातुडे। तेवीं भोग भोगितां गाढे। भोगीं नातुडे योगिया॥ २७॥ जातया वायूचे भेटी। सुगंध कोटी घालिती मिठी। त्यांची आसक्ती नाहीं पोटीं। उठाउठीं सांडितु॥ २८॥ तैसा आत्मत्वें योगिया पाहीं। प्रवेशलासे सर्वां देहीं। देह गुणाश्रयो पाहीं। ठायींच्या ठायीं तोचि तो॥ २९॥ निजात्मदृष्टीचेनि बळें। तो देहगुणांसी नातळे। जैसा गंधावरी वारा लोळे। परी नाकळे गंधासी॥ ४३०॥ तेचि परिपूर्ण आत्मस्थिती। राया मी सांगेन तुजप्रती। जैसी आकाशाची प्रतीती। सर्व पदार्थीं अलिप्त॥ ३१॥

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत्॥ ४२॥

सर्व पदार्थीं समत्व। यालागीं आकाशासी गुरुत्व। असंगत्व अभेदत्व। निर्मळत्व जाणोनी॥ ३२॥ विषमीं असोनि समत्व। संगीं असोनि असंगत्व। भेदु करितां अभेदत्व। यालागीं गुरुत्व आकाशा॥ ३३॥ वैर सर्पामुंगुसांसी। आकाश दोंहीचे हृदयवासी। वैर निर्वैरता आकाशासी। ते स्थिती योगियासी पाहिजे॥ ३४॥ तेणें आकाशदृष्टांतें। ब्रह्मभावें आपणियातें। योगी देखिजे पुरतें। व्यापकत्वें आपुल्या॥ ३५॥ ब्रह्मसमन्वयें पाहतां पाहीं। स्थावरजंगमांच्या ठायीं। तिळभरी वाढी रिती नाहीं। आपण पैं पाहीं कोंदला॥ ३६॥ आकाश सर्व पदार्थीं असे। परी असे हें सर्वांसी न दिसे। तेवीं दृश्य-द्रष्टा-अतीतदशें। सर्वत्र असे योगिया॥ ३७॥ नभ न खोंचे सांबळें। जळेना वणव्याचेनि जाळें। नव्हतां ज्वाळांवेगळें। असे सगळें टवटवित॥ ३८॥ तैसीं योगियासी द्वंद्वें सकळें। बाधूं न शकतीं कवणे काळें। नव्हतां द्वंद्वावेगळें। स्वरूप सगळें शोभत॥ ३९॥ योगिया छेदावया लवलाहें। सोडिले शस्त्रांचे समुदाये। तो शस्त्रांमाजीं अपणियातें पाहे। न रुपती घाये जेवीं गगना॥ ४४०॥ जें जें द्वंद्व बाधूं आलें। तें तें स्वरूप देखे आपुलें। सहजें द्वंद्वभावा मुकलें। अबाधित उरलें निजरूप॥ ४१॥ गगन बुडालें दिसे डोहीं। परी तें उदकें भिजलेंचि नाहीं। तैसा असोनियां सर्व देहीं। अलिप्त पाहीं योगिया॥ ४२॥ आकाश चिखल माखूं जातां। तें न माखे माखे लाविता। तैसा योगिया दोषी म्हणतां। दोषु सर्वथा म्हणत्यासी॥ ४३॥ गगन असोनियां जनीं। मैळेना जनघसणीं। तैसा योगिया सकळ कर्में करूनी। कर्मठपणीं न मैळे॥ ४४॥ मोटे बांधितां आकाशातें। चारी पालव पडती रिते। तेवीं कर्मीं बांधितां योगियातें। कर्म तेथें निष्कर्म॥ ४५॥ घटामाजीं आकाश असे। तें वाच्य कीजे घटाकाशें। पाहतां घटा सबाह्य समरसें। आकाश असे परिपूर्ण॥ ४६॥ तैसा आत्मा म्हणती देहीं। तंव तो देहा सबाह्य पाहीं। देह मिथ्यात्वें ठायींचे ठायीं। चिन्मात्र पाहीं परिपूर्ण॥ ४७॥

तेजोऽबन्मयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः । न स्पृश्यते नभस्तद्वत्कालसृष्टैर्गुणैः पुमान्॥ ४३॥

नभ पृथ्वीरजें न गदळे। उदकेंकरीं न पघळे। अग्नीचेनि ज्वाळें न जळे। वायुबळें उडेना॥ ४८॥ कडकडीत आभाळें। येऊनि आकाश झांकोळे। त्या समस्तां नभ नातळे। अलिप्त बळें संस्थित॥ ४९॥ तैसेंचि योगियासी। असतां निजात्मसमरसीं। काळें सृजिलिया गुणांसी। वश्य त्यांसी तो नव्हे॥ ४५०॥ काळाचें थोर सामर्थ्य जाण। देहासी आणी जरामरण। योगी देहातीत आपण। जन्ममरण न देखे॥ ५१॥ स्वप्नीं चिंतामणी जोडला। सवेंचि अंधकूपीं पडला। जागा जाहल्या न म्हणे नाडला। तैसा घडला देहसंगु॥ ५२॥ जो ब्रह्मादि देहांसी खाये। तो काळु वंदी योगियाचे पाये। जो काळाचाही आत्मा होये। निधडा पाहें महाकाळु॥ ५३॥ विजू कडकडूनि आकाशीं। तेजें प्रकाशी गगनासी। गगन नातळे ते विजूसी। असोनि तिशीं सबाह्य॥ ५४॥ तैसा सत्त्वगुण प्रकाशी ज्ञान। त्यासी योगिया नातळे जाण। ज्ञानस्वरूप निखळ आपण। वृत्तिज्ञान मग नेघे॥ ५५॥ झालिया सूर्यउदयासी। दीपप्रभा नये उपेगासी। तेवीं 'सहज' आलिया हातासी। वृत्तिज्ञानासी कोण पुसे॥ ५६॥ सत्त्वें प्रकाशिलें ज्ञान। तें आवडोनि नेघे जाण। अथवा खवळल्या रजोगुण। कर्मठपण त्या न ये॥ ५७॥ हो कां तमोगुणाचेनि मेळें। क्रोधमोहांसी नातळे। गुणातीत झाला बळें। बोधकल्लोळें स्वानंदें॥ ५८॥ उदकासी गुरुपण। आलें तें ऐक लक्षण। अवधूत म्हणे सावधान। नृपनंदन यदुवीरा॥ ५९॥

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूतृणाम्। मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः॥ ४४॥

लक्षणें पाहतां जळ। स्वभावें अतिनिर्मळ। प्रकृतीस्तव कोमळ। मधुर केवळ सर्वांसी॥ ४६०॥ पवित्र व्हावया प्राणियांसी। तीर्थीं तीर्थत्व उदकासी। इतुकीं लक्षणें योगीयासी। अहर्निशीं असावीं॥ ६१॥ उदकीं रिघाले जे समैळ। ते स्वभावें करी निर्मळ। परी न धरी अहंबळ। जे म्यां हे मळ क्षाळिले॥ ६२॥ तैसें योगियासी भजनशीळ। भावें भाविक जे केवळ। त्यांचे निरसूनि कळिमळ। न धरी बळ गुरुत्वें॥ ६३॥ प्राणु गेला तरी प्राणियांसी। कठिणत्व उपजेना मानसीं। जें जें भेटे तयासी। मृदुता कैसी वर्तत॥ ६४॥ जेवीं चंद्रकिरण चकोरांसी। पांखोवा जेवीं पिलियांसी। जीवन जैसें कां जीवांसी। तेवीं सर्वांसी मृदुत्व॥ ६५॥ जळ वरिवरी क्षाळी मळ। योगिया सबाह्य करी निर्मळ। उदक सुखी करी एक वेळ। योगी सर्वकाळ सुखदाता॥ ६६॥ उदकाचें सुख तें किती। सवेंचि क्षणें तृषितें होती। योगिया दे स्वानंदतृप्ती। सुखासी विकृती पैं नाहीं॥ ६७॥ उदकाची जे मधुरता। ते रसनेसीचि तत्त्वतां। योगियांचें गोडपण पाहतां। होय निर्विता सर्वेंद्रियां॥ ६८॥ लागल्या योगियाची गोडी। अमृताची चवी थोडी। ब्रह्मेंद्रादि पदें बापुडीं। अर्धघडीमाजीं करीत॥ ६९॥ तापले आले उदकापाशीं। अंगस्पर्शें निर्विवी त्यांसी। तैसीचि दशा योगियासी। स्पर्शें तापासी निवारी॥ ४७०॥ उदकें निर्विलें ज्यासी। परतोनि ताप होये त्यासी। योगी कृपेनें स्पर्शें ज्यासी। त्रिविध तापांसीं निर्मुक्त॥ ७१॥ योगी ज्यासी निर्विवी जिवेंभावें। त्यासी जीवु गेलियाही तापु नव्हे। निर्वालेपणें तो वोल्हावे। स्वानुभवें डुल्लत॥ ७२॥ मेघमुखें अधःपतन। उदकाचें देखोनि जाण। अधःपातें निवती जन। अन्नदान सकळांसी॥ ७३॥ तैसें योगियासी खालुतें येणें। जे इहलोकीं जन्म पावणें। जन निर्विवी श्रवणकीर्तनें। निजज्ञानें उद्धरी॥ ७४॥ पर्जन्योदक देखतां जाण। जेवीं निवती सकळही जन। कां गंगादिकांचें दर्शन। करी मोचन पापाचें॥ ७५॥ तैसें योगियाचें दर्शन। भाग्येंवीण नव्हे जाण। ज्याने देखिले त्याचे चरण। करी मोचन भवरोगा॥ ७६॥ न घडे दर्शन स्पर्शन। तरी करावें त्याचें नामस्मरण। इतुकेनि भवमूळ जाण। करी छेदन तें नाम॥ ७७॥ सांडूनि भगवंताचें कीर्तन। केल्या भक्ताचें नामस्मरण। केवीं तुटेल भवबंधन। ऐसें न म्हणा सर्वथा॥ ७८॥ देवासी पूर्वी नामचि नाहीं। त्यासी भक्तीं प्रतिष्ठूनि पाहीं। नामरूपादि सर्वही। नानाविलासही अर्पिले॥ ७९॥ ऐसा भक्तीं देव थोर केला। आणूनि वैकंठीं बैसविला। भक्तउपकारें दाटला। मग त्याच्या बोलामाजीं वर्ते॥ ४८०॥ देवो भक्तवचनेंकरीं। झाला नर ना केसरी। प्रगटला खांबामाझारीं। शब्द करी भक्ताचा॥ ८१॥ आतांही प्रत्यक्ष प्रमाण। दासांचेनि वचनें जाण। पाषाणप्रतिमे देवो आपण। आनंदघन प्रगटे पैं॥ ८२॥ भक्तभावें आभारला। देवो उपकारें दाटला। यालागीं नुलंघवे बोला। पांगें पांगला भक्तांच्या॥ ८३॥ एवं जेथ भक्तांचें नाम घेणें। तेथ अवश्य देवें धांवणें। भक्तउपकारा उत्तीर्ण होणें। वेगें पावणें यालागीं॥ ८४॥ यालागीं भक्ताचें नाम घेतां। तुटती भवबंधनव्यथा। ऐसें सांगतां अवधूता। प्रेम सर्वथा न संडे॥ ८५॥ आतां अग्नि गुरु जो करणें। त्याचीं सांगेन लक्षणें। काना मना एक करणें। सावधपणें परियेसीं॥ ८६॥

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः। सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत्॥ ४५॥

अग्नि निजतेजें देदीप्यमान। साक्षात हातीं न धरवे जाण। उदरमात्रीं सांठवण। सर्व भक्षण

निजतेजें॥ ८७॥ तैसाचि योगियाही जाण। भगवद्भावें देदीप्यमान। त्यासी धरावया आंगवण। नव्हे जाण सुरनरां॥ ८८॥ हातीं न धरवे खदिरांगारु। तैसा योगिया अतिदुर्धरु। तयासी न शके आवरूं। मायाव्यवहारु गुणेंसीं॥ ८९॥ अग्नीसी जेवीं मुखचि पात्र। तैसें योगियासी उदर मात्र। ठेवा ठेवणें विचित्र। नाहीं पात्र गांठीसी॥ ४९०॥ अग्नीनें जें जें सेवणें। तें जाळूनि आपुल्याऐसें करणें। यापरी सर्व भक्षणें। नाहीं स्पर्शणें मळासी॥ ९१॥ चंदन सुवासे दुर्गंध धुरे। निंब कडू ऊंस गोडिरे। तें जाळूनि आकारविकारें। कीजे वैश्वानरें आपणाऐसीं॥ ९२॥ तैसा योगी जें अंगीकारी। तें आत्मदृष्टीं निर्धारी। दोष दवडूनियां दूरी। मग स्वीकारी निजबोधें॥ ९३॥ भोग्य जें भोगूं जाये। तेथ आत्मप्रतीति पाहे। भोक्ता तद्रूपचि होये। हा भोगु पाहे योगिया॥ ९४॥ अग्नींत पडिलें जें समळ। तें अग्निमुखें होय निर्मळ। योगिया जें सेवी अळुमाळ। परम मंगळ तें होय॥ ९५॥ अग्निमुखीं यागु घडे। तेणें अदृष्टें स्वर्ग जोडे। योगियाचे मुखीं जें पडे। तेणें जोडे निजपद॥ ९६॥ आणिक अग्नीचें चिन्ह। ऐक राया सावधान। तेंचि साधकासी साधन। सिद्ध लक्षण सिद्धाचें॥ ९७॥

क्वचिच्छन्नः क्वचित्स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम्। भुङ्क्ते सर्वत्र दातॄणां दहन् प्रागुत्तराशुभम्॥ ४६॥

भीतरीं तेजस्वी वरी झांकिला। होमकुंडीं अग्नि पुरिला। कां यज्ञशाळे प्रज्वळला। याज्ञिकीं केला महायागु॥ ९८॥ जो जो उपासका भावो जीवीं। त्या त्या श्रेयातें उपजवीं। पूर्वोत्तर अशुचित्वें आघवीं। जाळूनि हवी सेवितु॥ ९९॥ तैशीचि योगियाची लीळा। भाविकां प्रकट दिसे डोळां। एकां गुप्तचि होऊनि ठेला। न दिसे पाहिला सर्वथा॥ ५००॥ ऐशियाच्याही ठायीं। भावबळ भाविक पाहीं। अर्पिती जें जें कांहीं। तेणें मोक्ष पाहीं मुमुक्षां॥ १॥ तें पडतांचि योगियांच्या मुखीं। संचित क्रियमाणें असकीं। जाळोनियां एकाएकीं। करी सुखी निजपदीं॥ २॥ आणीकही अग्नीचें लक्षण। राया तुज मी सांगेन जाण। जेणें सगुण आणि निर्गुण। दिसे समान समसाम्यें॥ ३॥

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः। प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि॥ ४७॥

अग्नि सहजें निराकार। त्यासी काष्ठानुरूपें आकार। दीर्घ चक्र वर्तुल थोर। नानाकार भासतु॥ ४॥ तैसीचि भगवंताची भगवद्गती। स्वमायाकल्पित कल्पनाकृती। तेथ प्रवेशला सहज स्थितीं। बहुधा व्यक्ती तो भासे॥ ५॥ जैसें गंगेचें एक जळ। भासे भंवरे लहरी कल्लोळ। तैसा जगदाकारें अखिल। भासे सकळ जगदात्मा॥ ६॥ कां छायामंडपींच्या चित्रासी। दीप प्रभा भासे जैसी। राम रावण या नांवेंसीं। दावी जगासी नटनाट्य॥ ७॥ तैशा नानाविधा व्यक्ती। नाना मतें नानाकृती। तेथ प्रवेशोनि श्रीपती। सहजस्थितीं नाचवी॥ ८॥ तैशी योगियाची स्थिती। पाहता नानाकार व्यक्ती। आपणियातें देखे समवृत्ती। भेदभ्रांति त्या नाहीं॥ ९॥ तेथ जें जें कांहीं पाहे। तें तें आपणचि आहे। या उपपत्ती उभवूनि बाहे। सांगताहे अवधूतु॥ ५१०॥ या देहासी जन्म नाशु। आत्मा नित्य अविनाशु। हा दृढ केला विश्वासु। गुरु हिमांशु करूनि॥ ११॥

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः। कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना॥ ४८॥

शुक्लकृष्णपक्षपाडी। चंद्रकळांची वाढीमोडी। ते निजचंद्रीं नाहीं वोढी। तैशी रोकडी योगियां॥ १२॥ जन्मनाशादि षड्विकार। हे देहासीच साचार। आत्मा अविनाशी निर्विकार। अनंत अपार स्वरूपत्वें॥ १३॥ घटु स्वभावें नाशवंतु असे। त्यामाजीं चंद्रमा बिंबलासे। नश्वरीं अनश्वर

दिसे। विकारदोषें लिंपेना॥ १४॥ घटासवें चंद्रासी उत्पत्ती। नाहीं नाशासवें नाशप्राप्ती। चंद्रमा आपुले सहजस्थितीं। नाशउत्पत्तिरहितु॥ १५॥ तैसा योगिया निजरूपपणें। देहासवें नाहीं होणें। देह निमाल्या नाहीं निमणें। अखंडपणें परिपूर्ण॥ १६॥ काळाची अलक्ष्य गती। दाखवी नाश आणि उत्पत्ति। ते काळसत्ता देहाप्रती। आत्मस्थिती नातळे॥ १७॥ एवं काळाचें बळ गाढें। म्हणती ते देहाचिपुढें। पाहतां आत्मस्थितीकडे। काळ बापुडें तेथ नाहीं॥ १८॥ सूक्ष्म काळगती सांगतां। वेगें आठवलें अवधूता। सिंहावलोकनें मागुता। अग्निदृष्टांता सांगतु॥ १९॥

कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ। नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम्॥ ४९॥

काळनदीचा महावेगु। सूक्ष्मगती वाहतां वोघू। तेथ भूततरंगा जन्मभंगु। देखतांचि जगु न देखे॥ ५२०॥ जराजर्जरित जाण। वाहतां नदीमाजीं वोसण। षड्विकार तेचि परिपूर्ण। भंवरे दारुण भंवतातिं॥ २१॥ बाल्य-तारुण्यांचें खळाळ। वार्धक्याचें मंद जळ। जन्ममरणांचे उसाळ। अतिकल्लोळ उठती॥ २२॥ वोघवेगाच्या कडाडी। पडत आयुष्याची दरडी। स्वर्गादि देउळें मोडी। शिखरींचे पाडी सुरेंद्र॥ २३॥ तळीं रिचवितां घोगें। पाताळादि विवरें वेगें। नाशूनियां पन्नगें। अंगभंगें अडिमोडी करी॥ २४॥ ऐशिया जी काळवोघासीं। घडामोडी भूततरंगांसी। होतसे अहर्निशीं। तें कोणासी लक्षेना॥ २५॥ जैं महाप्रळयीं मेघु गडाडी। तैं पूर चढे कडाडी। ब्रह्मादिक तरुवर उपडी। समूळ सशेंडी वाहविले॥ २६॥ जैं आत्यंतिक पुरु चढे। तैं वैकुंठ कैलासही बुडे। तेथ काळा रिगू न घडे। हें अवचट घडे एकदां॥ २७॥ अनिवार काळनदीची गती। सूक्ष्म लक्षेना निश्चितीं। ते सूक्ष्मगतीची स्थिती। अतिनिगुतीं परियेसीं॥ २८॥ दीपू तोचि तो हा म्हणती। परी शिखा क्षणक्षणा जाती। ते लक्षेना सूक्ष्मगती। अंतीं म्हणती विझाला॥ २९॥ प्रत्यक्ष प्रवाहे गंगाजळ। ते काळींचे म्हणती बरळ। तैशी काळगती अकळ। लोक सकळ नेणती॥ ५३०॥ प्रत्यक्ष पाहतां देहासी। काळ वयसेतें ग्रासी। बाल्य-कौमारतारुण्यांसी। निकट काळासी न देखती॥ ३१॥ अलक्ष्य काळाची काळगती। यालागीं गुरु केला गभस्ती। त्यापासोनि शिकलों स्थिति। तेही नृपति परियेसीं॥ ३२॥

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति। न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः॥ ५०॥

सूर्य काळें निजकिरणीं। रसेंसहित शोषी पाणी। तोचि वर्षाकाळीं वर्षोनी। निववी जनीं सहस्त्रधा॥ ३३॥ सर्व शोषूनि घे किरणीं। तें शोषितें लक्षण नेणे कोणी। देतां मेघमुखें वरुषोनी। निववी अवनी जनेंसीं॥ ३४॥ तैसीचि योगियाची परीं। अल्प ज्याचें अंगीकारी। त्याचे मनोरथ पूर्ण करी। सहस्त्र प्रकारी हितत्वें॥ ३५॥ ज्यांचें सेविती योगी आत्माराम। त्यांचे पुरती सकळ काम। अंतीं करोनियां निष्काम। विश्रामधाम आणिती॥ ३६॥ एवं योगी आपुले योगबळें। विषयो सेविती इंद्रियमेळें। जे देती त्यांसी यथाकाळें। कृपाबळें निववितीं॥ ३७॥ त्यांसी विषयो देतां कां घेतां। आसक्ति नाहीं सर्वथा। रसु चोखूनि घेतां देतां। अलिप्त सविता तैसे ते॥ ३८॥

बुध्यते स्वेन भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः। लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत्॥ ५१॥

सूर्यो थिल्लरामाजीं बिंबला। मूढ म्हणती थिल्लरीं बुडाला। त्याचेनि कंपें कंपु मानिला। डहुळें डहुळला म्हणती तो॥ ३९॥ त्या थिल्लरातें नातळतां। गगनीं अलिप्त जेवीं सविता। तैसीच योगियांची योग्यता। देहातीतता देहकर्मीं॥ ५४०॥ त्यासी देहबुद्धीचेनि छंदें। म्हणती योगिया

देहीं नांदे। त्या देहाचेनि नाना बाधें। स्वबुद्धिभेदें बांधिला म्हणती॥ ४१॥ त्यासी देहाचें बाधितभान। हें न कळें त्याचें गुह्यज्ञान। दोराचेनि सापें जाण। डसोनि कोण मारिला॥ ४२॥ एवं आत्मा तो चिदाकाशीं। मिथ्या देहीं मिथ्यात्वेंसीं। बिंबोनि दावी देहकर्मासी। नव्हे तें त्यासी बाधक॥ ४३॥ देखे आपणातें जळीं बिंबला। परी न म्हणे मी जळीं बुडाला। तैसा देहातीतु बोधु झाला। नाहीं भ्याला देहकर्मा॥ ४४॥ देखोनि मृगजळाचा पूरु। मूर्ख करूं धांवती तारूं। तैसा मिथ्या हा संसारु। भयंकरु मूर्खासी॥ ४५॥ यालागीं दारागृहपुत्रप्राप्ती। तेथ न करावी अतिप्रीती। येचिविषयीं रायाप्रती। कथा कपोती सांगतु॥ ४६॥

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित्। कुर्वन्विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः॥ ५२॥

संसारदुःखाचें मूळ। स्त्रीआसक्तीच जाण केवळ। स्त्रीलोभाचें जेथ प्रबळ बळ। दुःख सकळ त्यापासीं॥ ४७॥ स्त्रीपासाव झाले पुत्र। त्याचे ठायीं स्नेह विचित्र। करितां दुःखासी पात्र। संसारी नर होतांति॥ ४८॥ आसक्ति आणि स्नेहसूत्र। या दोन्हीपासाव दुःख विचित्र। पदोपदीं भोगिती नर। अस्वतंत्र होऊनि॥ ४९॥ यालागीं भलतेनि भलते ठायीं। आसक्ति स्नेहो न करावा पाहीं। अतिस्नेहो मांडिजे जिंहीं। दुःख तिंही भोगिजे॥ ५५०॥ स्नेहदुःखाची वार्ता। कपोता-कपोतीची कथा। तुज सांगेन नृपनाथा। स्वस्थचित्ता परियेसीं॥ ५१॥

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ। कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित्समाः॥ ५३॥

कपोतीचें स्नेह गोड। धरोनी स्त्रीसुखाची चाड। वनीं वृक्ष पाहोनियां गूढ। करी नीड कपोता॥ ५२॥ तेणें वनचरें वनस्थळीं। नीडामाजीं स्त्रीमेळीं। वासु केला बहुकाळीं। भार्यें जवळी भूलला॥ ५३॥

कपोती स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ। दृष्टिं दृष्ट्याक्षमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः॥ ५४॥

कपोता आणि कपोती। परस्परें दोघां अतिप्रीती। स्नेहो वाढलासे चित्तीं। हृदयीं आसक्ती नीच नवी॥ ५४॥ हावभाव विलासस्थिती। येरेयेरांकडे पाहती। परस्परें कुरवाळिती। वोठंगिती येरयेरां॥ ५५॥ येरयेरां वेगळें होणें। नाहीं जीवें अथवा मनें। दोघें वर्तती एकें प्राणें। खाणें जेवणें एकत्र॥ ५६॥

शय्यासनाटनस्थानवार्ताक्रीडाशनादिकम् । मिथुनीभूय विस्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु॥ ५५॥

सेवितां ज्याची अतिगोडी। तें घालिती येरयेरांच्या तोंडीं। जीवेंप्राणें शिणोनी जोडी। तें दे आवडीं स्त्रियेसी॥ ५७॥ स्त्रियेसी सांडूनि दुरी। पाऊल न घाली बाहेरी। हात धरोनि परस्परीं। आंतबाहेरी हिंडती॥ ५८॥ सदा एकांतां बसती। एके स्थानीं दोघें असती। दोघें क्रीडाविहार करिती। खेळ खेळती विनोदें॥ ५९॥ एकांतीं गोड बोली। सासुसासऱ्यांचा विकल्पु घाली। दिराभावांच्या मोडी चाली। बोलाच्या भुलीं भुलवित॥ ५६०॥ एके आसनीं बैसती। येरयेरांतें टेंकती। एके शय्ये निद्रा करिती। अहोरातीं एकत्र॥ ६१॥ मैथुनसुखाचेनि वैभवें। विश्वासोनि जीवेंभावें। हिताहित कांही नाठवे। गृहिणीगौरवें नाचतु॥ ६२॥ खेंडकुलिया आराम। त्यामाजीं दोघां समागम। नाममात्रें गृहाश्रम। विषयसंभ्रम वनराजीं॥ ६३॥

यं यं वाञ्छति सा राजंस्तर्पयन्त्यनुकम्पिता। तं तं समनयत्कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः॥ ५६॥

जीवितापरीस समर्थ। जे जे मागे ते ते अर्थ। जीवेंप्राणें शिणोनि देत। काममोहित

होऊनि॥ ६४॥ जाणोनि जीवींचे खुणे। न मागतां अर्थ देणें। त्याहीवरी जरी त्या मागणें। तरी विकूनि देणें आपणियातें॥ ६५॥ धर्माची वेळ नाठवणें। दीनावरी दया नेणे। कृपा स्त्रियेवरी करणें। जीवेंप्राणें सर्वस्वें॥ ६६॥ बैसली साकरेवरी माशी। मारितांही नुडे जैशी। तैसा भोगितां विषयांसी। जरामरणासी नाठवी॥ ६७॥ जैशी पूर्वजांची भाक। पाळिती सत्यवादी लोक। तैसा स्त्रियेचेंचि सुख। पाळी देख सर्वस्वें॥ ६८॥ जैसी आत्मउपासकासी। एकात्मता होये त्यासी। तैसें स्त्रीवांचोनि दृष्टीसी। जगीं आणिकासी न देखे॥ ६९॥

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते। अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्यु: सन्निधौ सती॥ ५७॥

आधींचि प्रिया पढियंती। तेही झाली गर्भवती। जैशी लोभियाचे हातीं। सांपडे अवचितीं धनलोहे॥ ५७०॥ तैसें तिच्या गर्भाचें कोड। अधिकाधिक वाढवी गोड। जैसें मदिरा पिऊनि माकड। नाचे तडतड डुल्लतु॥ ७१॥ तैसे गर्भाचे सोहळे। सर्वस्वें पुरवी डोहळे। तिचे लीळेमाजी खेळे। प्राप्तकाळें प्रसूती॥ ७२॥ स्वनीडा-आंतौती। जाहली अंडांतें प्रसवती। प्रसूतिवाधावा सांगति। ऐकोनि पति उल्हासे॥ ७३॥

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरे:। शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभि: कोमलाङ्गतनूरुहा:॥ ५८॥

अघटित घटी हरीची माया। अलक्ष लक्षेना ब्रह्मया। अवेव अंडामाजीं तया। देवमाया रचियेले॥ ७४॥ रसें भरलीं होतीं अंडें। त्यांमाजीं नख पक्ष चांचुवडें। उघडिलीं डोळ्यांची कवाडें। करी कोडें हरिमाया॥ ७५॥ अंडे उलोनि आपण। कोंवळी पिलीं निघालीं जाण। पितरें दृष्टीं देखोन। जीवेंप्राणें भुललीं॥ ७६॥

प्रजा: पुपुषतु: प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ। शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितै:॥ ५९॥

अत्यंत कोंवळीं बाळें। दोघें जणें पुत्रवत्सलें। शांतविती मंजुळें। अतिस्नेहाळें प्रजांसी॥ ७७॥ जे समयीं जैसें लक्षण। तैसें प्रजांचें पोषण। अंगें करिताति आपण। दोघें जण मिळोनि॥ ७८॥ गोड गोजिरे बोल। ऐकोनि दोघां येती डोल। धांवोनियां वेळोवेळ। निंबलोण उतरिती॥ ७९॥

तासां पतत्रै: सुस्पर्शै: कूजितैर्मुग्धचेष्टितै:। प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतु:॥ ६०॥

त्यांचेनि आलिंगनचुंबनें। मृदु मंजुळ कलभाषणें। दों पक्षांचेनि स्पर्शनें। दोघे जणें निवताति॥ ५८०॥ माता पिता दोघें बैसति। सन्मुख अपत्यें धांवती। लोल वक्र विलोकिती। वेगें दाविती येरयेरां॥ ८१॥ मग देवोनियां खेवे। दूरी जाती मुग्धभावें। तेथूनि घेऊनियां धांवे। वेगें यावें तयांपासीं॥ ८२॥ मायबापांच्या पाखोव्यापासीं। हीनदीनता नाहीं बाळांसी। जे जन्मोनि त्यांचे कुशीं। त्या दोघांसी सभाग्यता॥ ८३॥ लाडिकीं लळेवाडें बाळें। लाडें कोडें पुरविती लळे। देखोनि निवती दिठी डोळे। स्नेह आगळें येरयेरां॥ ८४॥ ऐसीं खेळतां देखोनि बाळें। दोघें धांवती एक वेळे। उचलूनियां स्नेहबळें। मुख कोवळें चुंबिती॥ ८५॥

स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया। विमोहितौ दीनधियौ शिशून्पुपुषतु: प्रजा:॥ ६१॥

अजाची जे अजा माया। त्या कैसी भुलवी गा राया। अन्योन्यस्नेह बांधोनि हृदया। पिलीं पोसावया उद्यत॥ ८६॥ स्त्रीपुत्रांचा मोह गहन। त्यांचें करावया पोषण। चिंतातुर अतिदीन। करी भ्रमण अन्नार्थ॥ ८७॥

एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ। परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम्॥ ६२॥

**एवं टणकीं जालीं बाळें। कुटुंब थोर थोरावलें। अन्न बहुसाल पाहिजे झालें। दोघे विव्हळें गृहधर्मे॥ ८८॥ यापरी कुटुंबवत्सलें। पुत्रस्नेहें स्नेहाळें। दोघें जणें एके वेळे। अन्न बहुकाळें अर्थिती॥ ८९॥ सहसा मिळेना अन्न। यालागीं हिंडती वनोपवन। बहुसाल श्रमतांही जाण। पूर्ण पोषण मिळेना॥ ५९०॥ बहुसाल मेळवूनि चारा। दोघे जणें जाऊं घरा। मग आपुल्या लेंकुरां। नाना उपचारां प्रतिपाळूं॥ ९१॥ ऐसऐशिया वासना। मेळवावया अन्ना। दोघें जणें नाना स्थानां। वना उपवना हिंडती॥ ९२॥**

दृष्ट्वा तौल्लुब्धकः कश्चिच्चदृच्छातो वनेचरः। जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके॥ ६३॥

**माता पिता गेलीं दुरी। उडतीं पिलें नीडाभीतरीं। क्षुधेनें पीडिलीं भारी। निघालीं बाहेरी अदृष्टें॥ ९३॥ ते वनीं कोणी एक लुब्धक। पक्षिबंधनीं अतिसाधक। तेणें ते कपोतबाळक। अदृष्टें देख देखिले॥ ९४॥ तेणें पसरोनियां काळजाळें। पाशीं बांधिलीं तीं बाळें। कपोतकपोतींचे वेळे। राखत केवळें राहिला॥ ९५॥**

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ। गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः॥ ६४॥

**बाळकांच्या अतिप्रीतीं। कपोता आणि कपोती। चारा घेऊनि येती। नीडाप्रति लवलाहें॥ ९६॥ स्त्रीसुखाची आसक्ती। तेचि वाढत्या दुःखाची सूती। स्त्रीसंगें दुःखप्राप्ती। सांगों किती अनिवार॥ ९७॥ पुरुषासी द्यावया दुःख। स्त्रीसंगृचि आवश्यक। पुत्रपौत्रद्वारा देख। नानादुःख भोगवी॥ ९८॥**

कपोती स्वात्मजान्वीक्ष्य बालकाञ्जालसंवृतान्। तानभ्यधावत्क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता॥ ६५॥

**तंव काळजाळीं एके वेळें। कपोती बांधली देखे बाळें। तोंड घेऊनि पिटी कपाळें। आक्रोशें लोळें दुःखित॥ ९९॥ बाळें चरफडितां देखे जाळीं। आक्रंदोनि दे आरोळी। बाळांसन्मुख धावें वेळोवेळीं। दुखें तळमळी दुःखित॥ ६००॥**

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया। स्वयं चावध्यत शिचा बद्धान्पश्यन्त्यपस्मृतिः॥ ६६॥

**दुःख द्यावया भ्तारासी। आक्रंदें कपोती चालिली कैसी। शतगुणें स्नेहो वाढला तिसी। मृतपुत्रांसी देखोनि॥ १॥ पुत्रस्नेहें केलें वेडें। गुण आठआठवूनि रडे। हिताहित न देखे पुढें। बळेंचि पडे जाळांतु॥ २॥ मायामोहें भुलली कैशी। जेथ बांधलें देखे पुत्रांसी। ते जाळीं घाली आपणासी। मोहें पिशी ते केली॥ ३॥**

कपोतश्चात्मजान् बद्धानात्मनोऽप्यधिकान्प्रियान्। भार्यां चात्मसमां दीनो विललापातिदुःखितः॥ ६७॥

**अंतरला स्त्रीबाळकीं। कपोता तो एकाएकीं। रुदन करी अधोमुखीं। अतिदुःखीं विलपतु॥ ४॥ जीवाहोनि प्रिय अधिक। ते निर्जीव देखिले बाळक। अनुकूल अनुरूपक। भार्या देख अंतरली॥ ५॥**

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः। अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः॥ ६८॥

**धर्म अर्थ आणि काम। या तिहींचा आश्रयो गृहाश्रम। तो भंगला मी अनाश्रम। अतृप्त काम सांडूनि॥ ६॥ पूर्वपापाचा आवर्तु। मज सांडूनि अकृतार्थु। माझा कामु नव्हतां तृप्तु। धर्मकामार्थु भंगला॥ ७॥ गृहीं त्रैवर्गुचि भंगला। चौथा पुरुषार्थ असे उरला। तो साधूनि घेऊं वहिला। आश्रमु भंगल्या क्षिती काय॥ ८॥ ऐसें म्हणसी जरी निगुतीं। ये अर्थीं मी दुर्मती। विषयवासना नोसंडिती। कैसेनि मुक्ति साधेल॥ ९॥ म्यां पूर्वी अल्प पुण्य होतें केलें। यालागीं अंतरायीं घर घेतलें। माझें**

परलोकसाधन ठेलें। विधुर केलें मजलागीं॥ ६१०॥ हो कां गृहीं असतां गृहस्थां। काय परलोक साधे समस्तां। इतरांची असो कथा। मज साधनता तंव होती॥ ११॥

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता। शून्ये गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुधिः॥ ६९॥

स्त्रीपुरुषांची चित्तवृत्ती। अनुकूल वर्ते धर्मप्रवृत्तीं। तरीच परलोक साधिती। इतरां प्राप्ती ते नाहीं॥ १२॥ एकांच्या भार्या त्या तोंडाळा। एकांच्या त्या बहु वोढाळा। एकांच्या त्या अतिचांडाळा। एकी दुःशीला दुर्भगा॥ १३॥ एकीचा तो क्रोध गाढा। एकी अत्यंत खादाडा। एकी सोलिती दांत दाढा। आरिसा पुढां मांडूनि॥ १४॥ एकीं वोंगळा आळसिणी। एकी त्या महाडाकिनी। एकी सुकुमार विलासिनी। बरवेपणीं गर्वित॥ १५॥ तैशी नव्हे माझी पत्नी। सदा अनुकूळ मजलागुनी। मजसी वर्ते अनुरूपपणीं। धर्मपत्नी धार्मिक॥ १६॥ मी जेव्हां धर्मीं तत्पर। तेव्हां धर्मासी ते अतिसादर। मज कामीं जेव्हां आदर। तेव्हां कामचतुर कामिनी॥ १७॥ मजवांचोनि तत्त्वतां। न भजे आणिकां देवां देवतां। मज सांडूनि न वचे तीर्था। माझें वचन सर्वथा नुल्लंघी॥ १८॥ एवं रूपगुणकुलशील। मजसी सदा अनुकूल। पतिव्रता जे केवळ। पत्नी निर्मळ पैं माझी॥ ९९॥ मज सांडूनि शून्यगृहीं। पुत्रेंसहित साध्वी पाहीं। जातसे स्वर्गाच्या ठायीं। मज अपायीं घालूनि॥ ६२०॥

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजाः। जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः॥ ७०॥

नाशिली स्त्री नाशिल्या प्रजा। येथ म्यां रहावें कवण्या काजा। दुःखें प्राण जाईल माझा। लोकलाजा निंदित॥ २१॥ एवढें अंगीं वाजलें दुःख। काय लौकिकीं दाग्ववूं मुख। भंगलें संसाराचें सुख। जितां मूर्ख म्हणतील॥ २२॥ जळो विधुराचें जिणें। सदा निंद्य लाजिरवाणें। न ये श्राद्धींचें आवतणें। सदा वसणें एकाकी॥ २३॥ ऐसेनीं वसतां ये लोकीं। शून्य गृहीं एकाकी। धडगोड न मिळे मुखीं। परम दुःखी मी होईन॥ २४॥

तांस्तथैवावृताञ्छिग्भिर्मृत्युग्रस्तान्विचेष्टतः। स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत्॥ ७१॥

ऐसें बोलोनि केलें काये। मृतस्त्रीपुत्रांकडे पाहे। काळपाशीं बांधिली आहे। चेष्टा राहे निःशेष॥ २५॥ ऐसें देखतांही अबुद्धी। विवेकें न धरीचि बुद्धी। आपण जाऊनि त्रिशुद्धी। जाळामधीं पडियेला॥ २६॥ मेल्या मागें मरणें। देखों हेंचि सर्वांसी करणें। परी जन्ममृत्यु निवारणें। हा स्वार्थु कवणें न धरिजे॥ २७॥ पहा पां स्त्रीपुत्राकरणें। आपुलाही जीवु देणें। परी भगवत्पदवी साधणें। हें न मने मनें सर्वथा॥ २८॥

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम्। कपोतकान्कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम्॥ ७२॥

जाळीं पडला कपोता दुर्बुद्धी। झाली लुब्धकाची कार्यसिद्धी। सहकुटुंब घेऊनि खांदीं। निघे पारधी निजस्थाना॥ २९॥ ऐसा जो कोणी गृहमेधी। त्यासी सर्वथा काळु साधी। जैशी कपोत्याची बुद्धी। तैसी बुद्धी गृहमेध्या॥ ६३०॥ बाळकांच्या काकुळतीं। मरण पावली कपोती। ऐसें देखत देखतां दुर्मती। तेथ निश्चिंतीं उडी घाली॥ ३१॥ यापरी तो कपोता। कुटुंबाची मेधा वाहतां। मरण पावला सर्वथा। विवेकु चित्ता न धरीचि॥ ३२॥

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्त्रिवत्। पुष्णन्कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति॥ ७३॥

ऐसा कुटुंबी गृहस्थु। कुटुंबपोषणीं आसक्तु। विषयवासना अशांतु। पावे घातु सकुटुंब॥ ३३॥ गृहासक्ती गृहाश्रमु। तो केवळ द्वंद्वाचा आरामु। कपोत्या ऐसा पडे भ्रमु। वृथा जन्मु दवडावा॥ ३४॥

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्। गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥ ७४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

येवोनियां कर्मभूमीसी। जो पावला उत्तम देहासी। त्याहीमाजीं उत्तमता कैशी। अग्रवर्णासी पैं जन्म॥ ३५॥ आलिया मनुष्यदेहासी। मुक्तीचा दारवंटा मुक्त त्यासी। लव निमिष येकु दिशीं। यावज्जन्मेंसीं मोकळा॥ ३६॥ इतरां वर्णांची हे गती। मा ब्राह्मण तरी पुण्यमूर्ती। ते सदा मुक्तचि असती। वृथा आसक्तीं गुंतले॥ ३७॥ विद्वांस आणि वैराग्य। तें ब्रह्मादिकां न लभे भाग्य। वृथा आसक्तीं केले अभाग्य। शिश्नोदरा साङ्ग वेंचले॥ ३८॥ मनुष्यदेहीं गृहासक्तु। तो बोलिजे 'आरूढच्युतु'। कपोत्याचे परी दुःखितु। सिद्ध स्वार्थु नाशिला॥ ३९॥ विषयीं सर्वथा नाहीं तृप्ति। ऐसें श्रुतिपुराणें बोलती। करितां विषयाची आसक्ती। थित्या मुकती नरदेहा॥ ६४०॥ नवल नरदेहाची ख्याती। रामनामाच्या आवृत्तीं। चारी मुक्ती दासी होती। तो देहो वेंचिती विषयासी॥ ४१॥ विषयसुखाचिये आसक्ती। कोणा नाहीं झाली तृप्ती। मृगजळाचिये प्राप्ती। केवीं निवती तृषार्त॥ ४२॥ यालागीं जाणतेनि मनुष्यें। नरदेहींचेनि आयुष्यें। विषयांचेनि सायासें। व्यर्थ कां पिसे कष्टती॥ ४३॥ नरदेहाऐसें निधान। अनायासें लाधलें जाण। सांडीं सांडीं अभिमान। तेणें समाधान पावसी॥ ४४॥ पुढती नरदेहाची प्राप्ती। होईल येथ नाहीं युक्ति। यालागीं सांडूनि विषयासक्ती। भावें श्रीपति भजावा॥ ४५॥ कलियुगीं सुगम साधन। न लगे योग याग त्याग दान। करितां निर्लज्ज हरिकीर्तन। चारी मुक्ति चरण वंदिती॥ ४६॥ इटेसाठीं परीस पालटे। येतां कां मानिती वोखटें। तैसा कीर्तनाचेनि नेटेंपाटें। देवो भेटे प्रत्यक्ष॥ ४७॥ एका जनार्दनु म्हणे। नश्वर देहाचेनि साधनें। जनीं जनार्दनु होणें। हे मुद्रा तेणें लाविली॥ ४८॥ एका जनार्दना शरण। तंव जनार्दनु झाला एक एकपण। जैसें सुवर्ण आणि कंकण। दों नांवीं जाण एक तें॥ ४९॥ तोचि एका एकादशीं। श्रीकृष्ण सांगे उद्धवासी। अवधूत सांगे यदूसी। गुरुउपदेशीं उपदेशु॥ ६५०॥

*इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे श्रीकृष्णोद्धवसंवादे यदूअवधूतेतिहासे एकाकारटीकायां सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥ मूळश्लोक॥ ७४॥ ओव्या॥ ६५०॥*

॥ श्रीः ॥

॥ ॐ तत्सत्-श्रीकृष्ण प्रसन्न ॥

# श्रीएकनाथी भागवत

## अध्याय आठवा

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ ॐ नमो सद्गुरु तूं ज्योतिषी। एकात्मतेचें घटित पाहसी। चिद्ब्रह्मेंसी लग्न लाविशी। ॐ पुण्येंसीं तत्त्वतां ॥ १ ॥ वधूवरां लग्न लाविती। हें देखिलें असे बहुतीं। आपुली आपण लग्नप्राप्ती। हे अलक्ष्य गती गुरुराया ॥ २ ॥ लग्न लाविती हातवटी। पांचां पंचकांची आटाटी। चुकवूनि काळाची काळदृष्टी। घटिका प्रतिष्ठी निजबोधें ॥ ३ ॥ चहूं पुरुषार्थांचें तेलवण। लाडू वळिजे संपूर्ण। अहंभावाचें निंबलोण। केलें जाण सर्वस्वें ॥ ४ ॥ साधनचतुष्टयाचा सम्यक। यथोक्त देऊन मधुपर्क। जीवभावाची मूद देख। एकाएक सांडविली ॥ ५ ॥ विषयसुख मागें सांडे। तेंचि पायातळीं पायमांडे। सावधान म्हणसी दोंहीकडे। वचन धडफुडें तें तुझें ॥ ६ ॥ व्यवधानाचें विधान तुटे। सहजभावें अंत्रपटु फिटे। शब्द उपरमोनि खुंटे। मुहूर्त गोमटे पैं तुझें ॥ ७ ॥ अर्धमात्रा समदृष्टी। निजबिंबीं पडे गांठी। ऐक्यभावाच्या मीनल्या मुष्टी। लग्नकसवटी अनुपम ॥ ८ ॥ तेथ काळा ना धवळा। गोरा नव्हे ना सांवळा। नोवरा लक्षेना डोळां। लग्नसोहळा ते ठायीं ॥ ९ ॥ परी नवल कैसें कवतिक। दुजेनवीण एकाएक। एकपणीं लग्न देख। लाविता तूं निःशेख गुरुराया ॥ १० ॥ तुज गुरुत्वें नमूं जातां। तंव आत्मा तूंचि आंतौता। आंतु कीं बाहेर पाही जातां। सर्वीं सर्वथा तूंचि तुं ॥ ११ ॥ तुझें तूंपण पाहतां। माझें मीपण गेलें तत्त्वतां। ऐसे-करूनियां गुरुनाथा। ग्रंथकथा करविसी ॥ १२ ॥ मागील कथासंगती। सप्तमाध्यायाचे अंतीं। अवधूतें यदूप्रती। कथा कपोती सांगीतली ॥ १३ ॥ पृथ्वी-आदिअंतीं चोखट। कपोतापर्यंत गुरु आठ। सांगितले अतिश्रेष्ठ गुरु वरिष्ठ निजबोधें ॥ १४ ॥ उरल्या गुरूंची स्थिती। अवधूत सांगेल यदूप्रती। तेथें सावधान ठेवा चित्तवृत्ती। श्रवणें स्थिति तद्बोधें ॥ १५ ॥

ब्राह्मण उवाच—सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च। देहिनां यद्यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद्बुधः ॥ १ ॥

श्रवणीं सादरता यदूसी। देखोनि सुख जालें ब्राह्मणासी। तेणें सुखें निरूपणासी। उल्हासेंसीं करीतसे ॥ १६ ॥ तो म्हणे राया सावधान। विषयसुखाचें जें सेवन। तें स्वर्गनरकीं गा समान। नाहीं अनुमान ये अर्थी ॥ १७ ॥ भोगितां उर्वशीसी। जें सुख स्वर्गीं इंद्रासी। तेंचि विष्ठेमाजीं सूकरासी। सूकरीपासीं निश्चित ॥ १८ ॥ हें जाणोनि साधुजन। उभय भोगीं न घालिती मन। नेदवे प्रेतासी आलिंगन। तेवीं साधूजन विषयांसी ॥ १९ ॥ जीत सापु धरावा हातीं। हें प्राणियांसी नुपजे चित्तीं। तेवीं विषयांची आसक्ती। साधु न धरिती सर्वथा ॥ २० ॥ जैसें न प्रार्थितां दुःख। प्राणी पावतात देख। तैसें न इच्छितां इंद्रियसुख। भोगवी आवश्यक अदृष्ट ॥ २१ ॥ मज दुःखभोगु व्हावा। हें नावडे कोणाच्या जीवा। तें दुःख आणी अदृष्ट तेव्हां। तेवीं सुखाचा यावा अदृष्टें ॥ २२ ॥ ऐसें असोनि उद्योगु करितां। तेणें आयुष्य नाशिलें सर्वथा। यालागीं सांडूनि विषयआस्था। परमार्था

भजावें ॥ २३ ॥ केवळ झालिया परमार्थपर। म्हणसी आहारेंवीण न राहे शरीर। येच निर्धारीं साचार। गुरु 'अजगर' म्यां केला ॥ २४ ॥

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा। यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥ २ ॥

उद्योगेंवीण आहारु। अयाचित सेवी अजगरु। डंडळोनि न सांडी धीरु। निधडा निर्धारु पैं त्याचा ॥ २५ ॥ स्वभावें तो मुख पसरी। सहजें पडे जें भीतरीं। सरस नीरस विचारु न करी। आहार अंगीकारी संतोषें ॥ २६ ॥ तैशीचि योगियांची गती। सदा भाविती आत्मस्थिती। यदृच्छा आलें तें सेविती। रसआसक्ती सांडूनि ॥ २७ ॥ योगियांचा आहारु घेणें। काय सेविलें हें रसना नेणे। रसना-पंगिस्त नाहीं होणें। आहारु सेवणें निजबोधें ॥ २८ ॥ आंबट तिखट तरी जाणे। परी एके स्वादें अवघें खाणें। सरस नीरस कांहीं न म्हणे। गोड करणें निजगोडियें ॥ २९ ॥ मुख पसरिलिया निर्धारा। स्वभावें रिघालिया वारा। तोचि आहारु पैं अजगरा। तेणेंचि शरीरा पोषण ॥ ३० ॥ तैशीचि योगियांची स्थिति। वाताशनें सुखें वर्तती। आहारालागुनी पुढिलांप्रती। न ये काकुलती सर्वथा ॥ ३१ ॥ थोडें बहु सरसनिरसासी। हें कांहीं म्हणणें नाहीं त्यासी। स्वभावें जें आलें मुखासी। तें सावकाशीं सेवितु ॥ ३२ ॥

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः। यदि नोपनमेद् ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥ ३ ॥

अजगरासी बहु काळें। यदृच्छा आहारु न मिळे। तरी धारणेसी न टळे। पडिला लोळे निजस्थानीं ॥ ३३ ॥ तैसें योगियासी अन्न। बहुकाळें न मिळे जाण। तरी करूनियां लंबासन। निद्रेंविण निजतु ॥ ३४ ॥ निद्रा नाहीं तयासी। परी निजे निजीं अहर्निशीं। बाह्य न करी उपायासी। भक्ष्य देहासी अदृष्टें ॥ ३५ ॥ अदृष्टीं असेल जें जें वेळें। तें तें मिळेल तेणें काळें। यालागीं त्याचें ज्ञान न मैळे। धारणा न ढळें निजबोधें ॥ ३६ ॥

ओजःसहोबलयुतं बिभ्रद्देहमकर्मकम्। शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि ॥ ४ ॥

अजगरासी बळ उदंड। देहो पराक्रमें प्रचंड। परी न करी उद्योगाचें बंड। पसरूनि तोंड पडिलासे ॥ ३७ ॥ तैसाचि योगिया केवळ। शरीरीं असे शारीर बळ। बुद्धिही असे अतिकुशळ। इंद्रियबळ पटुतर ॥ ३८ ॥ आहारालागीं सर्वथा। हेतु स्फुरों नेदी चित्ता। कायावाचा तत्त्वतां। नेदी स्वभावतां डंडळूं ॥ ३९ ॥ स्वप्नजागृती मुकला। सुषुप्ती सांडोनि निजेला। शून्याचा पासोडा झाडिला। निर्जीं पहुडला निजत्वें ॥ ४० ॥

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः। अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यःस्तिमितोद इवार्णवः ॥ ५ ॥

'समुद्र' जो गुरु करणें। त्याचीं परिस पां लक्षणें गंभीरत्व पूर्णपणें। निर्मळ असणें इत्यादि ॥ ४१ ॥ समुद्र सदा सुप्रसन्न। योगी सदा प्रसन्नवदन। केव्हांही क्षुसमुशिलेंपण। नव्हें जाण निजबोधें ॥ ४२ ॥ मीनल्या सरितांचें समळ जळ। समुद्र डहुळेनी अतिनिर्मळ। तैसीं नाना कर्में करितां सकळ। सदा अविकळ योगिया ॥ ४३ ॥ जळें गंभीर सागर। योगिया स्वानुभवें गंभीर। वेळा नुल्लंघी सागर। नुल्लंघी योगीश्वर गुरुआज्ञा ॥ ४४ ॥ समुद्रीं न रिघवे भलत्यासी। तो बुडवी जळकल्लोळेंसीं। योगिया बुडवी संसारासी। भावें त्यापासीं गेलिया ॥ ४५ ॥ जो रिघणें निघणे जाणें जळीं। तो समुद्रीं करी आंघोळी। येरांसी लाटांच्या कल्लोलीं। कासाकुळी करीतसे ॥ ४६ ॥ तैसीचि योगियासी। सलगी न करवे भलतियासी। आपभयें भीती आपैसी। तो भाविकांसी सुसेव्य ॥ ४७ ॥ जाहल्या धनवंतु

वेव्हारा। उपायीं नुल्लंघवे सागरा। तैसें नुल्लंघवे योगीश्वरा। नृपां सुरनरां किन्नरां॥ ४८॥ मळु न राहे सागरीं। लाटांसरिसा टाकी दुरी। तैसाचि मळु योगियाभीतरीं। ध्यानें निर्धारीं न राहे॥ ४९॥ समुद्रीं मीनली ताम्रपर्णी। तेथ जाहली मुक्ताफळांची खाणी। योगिया मिनली श्रद्धा येऊनी। तेथ मुक्तखाणी मुमुक्षां॥ ५०॥ जो समुद्रामाजीं रिघोनि राहे। तो नानापरीचीं रत्ने लाहे। योगियांमाजीं जो सामाये। त्याचे वंदिती पाये चिद्रत्नें॥ ५१॥ जैशी समुद्राची मर्यादा। कोणासी न करवे कदा। तैशी योगियांची मर्यादा। शास्त्रां वेदां न करवे॥ ५२॥ प्रवाहेंवीण जळ। समुद्रीं जेवीं निश्चळ। मृत्युभयेंवीण अचंचळ। असे केवळ योगिया॥ ५३॥ समुद्रीं प्रवाहो नव्हे कांहीं। सदा पूर्ण ठायींच्या ठायीं। तैसे योगिया जन्ममरण नाहीं। परिपूर्ण पाहीं सर्वदा॥ ५४॥ समुद्रलक्षणें साधितां। अधिक दशा आली हातां। ते योगियाची योग्यता। परिस तत्त्वतां सांगेन॥ ५५॥ समुद्रामाजीं जळ। लाटांखालीं अतिचंचळ। योगिया अंतरी अतिनिश्चळ। नाहीं तळमळ कल्पना॥ ५६॥ समुद्र क्षोभे वेळोवेळे। योगिया क्षोभेना कवणें काळें। सर्वथा योगी नुचंबळें। योगबळें सावधु॥ ५७॥ समुद्रीं भरतें पर्वसंबंधें। योगिया परिपूर्ण सदानंदें। समुद्रीं चढूवोहटू चांदें। योगिया निजबोधें सदा सम॥ ५८॥ समुद्र सर्वांप्रति क्षार। तैसा नव्हे योगीश्वर। तो सर्वां जीवांसी मधुर। बोधु साचार पैं त्याचा॥ ५९॥ जयासी बोधु नाहीं पुरता। अनुभव नेणे निजात्मता। त्यासी कैंची मधुरता। जेवीं अपक्वता सेंदेची॥ ६०॥ सागरीं वरुषल्या घन। वृथा जायें तें जीवन। तैसा योगिया नव्हे जाण। सेविल्या व्यर्थपण येवों नेदी॥ ६१॥ अल्पही योगिया होये घेता। तेणें निवारी भवव्यथा। यालागीं मुमुक्षीं सर्वथा। भगवद्भक्तां भजावें॥ ६२॥

समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः। नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः॥ ६॥

वर्षाकाळीं सरिता सकळ। घेऊनि आल्या अमूप जळ। तेणें हरुषेजेना प्रबळ। न चढे जळ जळाब्धीं॥ ६३॥ ग्रीष्मकालाचिये प्राप्ती। सरितांचे यावे राहती। ते मानूनियां खंती। अपांपती वोहटेना॥ ६४॥ तैसेंचि योगियांच्या ठायीं। नाना समृद्धि आलिया पाहीं। अहंता न धरी देहीं। गर्वु कांहीं चढेना॥ ६५॥ समृद्धि वेंचिलिया पाठीं। खंती नाहीं योगिया पोटीं। तो नारायणपरदृष्टीं। सुखसंतुष्टी वर्ततु॥ ६६॥ संपत्तीमाजीं असतां। मी संपन्नु हें नाठवे चित्ता। दरिद्र आलिया दरिद्रता। नेणे सर्वथा योगिया॥ ६७॥ दरिद्र आणि संपन्नता। दोन्ही समान त्याचिया चित्ता। नाहीं प्रपंचाची आसक्तता। नारायणपर तत्त्वतां निजबोधें॥ ६८॥ या प्रपंचाचा कठिण लागु। नाशासी मूळ स्त्रीसंगु। येचिविषयीं गुरु पतंगु। केला चांगु परियेसीं॥ ६९॥

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः। प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत्॥ ७॥

दैवी गुणमयी जे माया। तिचें सगुणस्वरूप त्या स्त्रिया। तेथ प्रलोभ उपजला प्राणियां। भोग भोगावया स्त्रीसुखें॥ ७०॥ हावभावविलासगुणीं। व्यंकट कटाक्षांच्या बाणीं। पुरुषधैर्य कवच भेदोनी। हृदयभुवनीं संचरती॥ ७१॥ दारुण कटाक्षांच्या घायीं। पुरुषधैर्य पाडिलें ठायीं। योषिताबंदीं पाडिले नाहीं। भोग-कारागृहीं घातले॥ ७२॥ स्त्रीभोगाचें जें सुख। तें जाण पां केवळ दुःख। तोंडीं घालितां मधुर विख। परिपाकीं देख प्राणांतु॥ ७३॥ दीपाचिया अंगसंगा। कोण सुख आहे पतंगा। वळें आलिंगूं जातां पैं गा। मरणमार्गा लागले॥ ७४॥ पुढिला पतंग निमाला देखती। तरी मागिल्या दीपीं अतिआसक्ती। तेवीं स्त्रीकामें एक ठकती। एकां अतिप्रीती पंतगन्यायें॥ ७५॥ तेवीं विवेकहीन मूर्खा। लोलुप्य उपजे स्त्रीसुखा। तत्संसर्गें मरण लोकां। न चुके

देखा सर्वथा॥ ७६॥ दीप-रूपाचेनि कोडें। पतंग जळोनि स्नेहीं बुडे। तेवीं स्त्रीसंगे अवश्य घडे। पतन रोकडें अंधतमीं॥ ७७॥

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः। प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥ ८॥

पहा पां कांता आणि सोनें। वस्त्रें आभरणें रत्ने। मायेनें रचिलीं पडणें। पतनाकारणें जनांच्या॥ ७८॥ एकली योषिता नरकीं घाली। सुवर्णलोभे नरकु बळी। रत्नें भूषणें तत्काळीं। नरकमेळीं। घालिती॥ ७९॥ ते अवघेचि अनर्थकारी। मीनले योषिताशरीरीं। ते देखतांचि पुरंध्री। जनांसी उरी मग कैंचेनि॥ ८०॥ अंगीं वेताळसंचारा। त्यावरी पाजिलिया मदिरा। मग डुल्लत नाचतां त्या नरा। वोढावारा पैं नाहीं॥ ८१॥ कां भांडाचे तोंडीं भंडपुराण। त्यावरी आला शिमग्याचा सण। मग करितां वाग्विटंबन। आवरी कोण तयासी॥ ८२॥ हो कां मोहक मदिरा सर्वांसी। त्यांतु घातलें उन्मादद्रव्यासी। सेवन करितां त्या रसासी। पारु भ्रमासी पैं नाहीं॥ ८३॥ तैसें सोलीव मोहाचें रूप। तें जाण योषितास्वरूप। त्याहीवरी खटाटोप। वस्त्रें पडप भूषणें॥ ८४॥ काजळ कुंकूं अलंकार। लेऊनि विचित्र पाटांबर। वनिता शोभत सुंदर। मायेचे विकार विकारले॥ ८५॥ माया अजितेंद्रिया बाधी। दासांसंमुख नव्हे त्रिशुद्धी। ज्याची अतिप्रीती गोविंदीं। त्यासी कृपानिधि रक्षिता॥ ८६॥ कैसा रीतीं रक्षी भक्त। मूळीं अत्मा आत्मी नाहीं तेथ। स्त्रीरूपें भासे भगवंत। भक्त रक्षित निजबोधें॥ ८७॥ वनिता देखोनि गोमटी विवेकाची होय नष्ट दृष्टी। प्रलोभें उपभोगा देती मिठी। ते दुःखकोटी भोगिती॥ ८८॥ देखोनि दीपरूपीं झगमगी। उपभोगबुद्धि पतंगीं। उडी घालितां वेगीं। जळोनि आगीं नासती॥ ८९॥ एवं योषितारूपें माया। उपभोगबुद्धि भुलवी प्राणियां। जे विमुख हरीच्या पायां। त्यांसीच माया भुलवितु॥ ९०॥ मधुकरीचेनि विंदाणें। 'मधुकर' म्यां गुरु करणें। दुःख नेदितां कार्य साधणें। तींहि लक्षणें परिस पां॥ ९१॥

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता। गृहानहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः॥ ९॥

भ्रमरु रिघोनि पुष्पामधीं। फूल तरी कुचुंबों नेदी। आपुली करी अर्थसिद्धी। चोखट बुद्धि भ्रमराची॥ ९२॥ तैसीच योगियाची परी। ग्रासमात्र घरोघरीं। भिक्षा करूनि उदर भरी। पीडा न करी गृहस्थां॥ ९३॥ प्राणधारणेपुरतें। योगी मागे भिक्षेतें। समर्थ दुर्बळ विभागातें। न मनूनि चित्तें सर्वथा॥ ९४॥ रिघोनि कमळिणीपाशीं। भ्रमरु लोभला आमोदासी। पद्म संकोचे अस्तासी। तेंचि भ्रमरासी बंधन॥ ९५॥ जो कोरडें काष्ठ भेदोनि जाये। तो कमळदळीं गुंतला ठाये। प्रिया दुखवेल म्हणौनि राहे। निर्गमु न पाहे आपुला॥ ९६॥ तैसाचि जाण संन्यासी। एके ठायीं राहिल्या लोलुप्येंसीं। तेंचि बंधन होये त्यासी। विषयलोभासी गुंतला॥ ९७॥

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः। सर्वतः सारमादद्यात्पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥ १०॥

अतिलहान सुमन जें कांहीं। भ्रमरा तेथ उपेक्षा नाहीं। रिघोनि त्याच्याही ठायीं। आमोद पाहीं सेवितु॥ ९८॥ थोराथोरा ज्या कमळिणी। विकासल्या समर्थपणीं। त्यांच्याही ठायीं रिघोनी। सारांश सेवुनी जातसे॥ ९९॥ तैसाचि योगिया नेटकु। शास्त्रदृष्टी अतिविवेकु। न करी लहान थोर तर्कु। सारग्राहकु होतसे॥ १००॥ वेदांतीं ब्रह्मस्थिती। बोलिली मानी यथानिगुतीं। इतर स्तोत्रीं ब्रह्मव्युत्पत्ती। तेही अतिप्रीतीं मानितु॥ १॥ पंडितांचें वचन मानी। साधारणु बोलिला हितवचनीं। तेहीं अतिआदरें मानूनी। सार निवडूनि घेतसे॥ २॥ प्रीति होआवी पतीच्या मानसीं। कुळवधू

मानी सासुसासऱ्यांसी। मान देतसे त्यांच्या दासासी। तेचि प्रीतीसी लक्षूनि॥ ३॥ भेसळल्या क्षीरनीरासी। निवडुनि घेइजे राजहंसीं। तैसा विवेकयुक्त मानसीं। सारभागासी घेतसे॥ ४॥ सर्वभूतीं भगवद्भावो। हा सारभागु मुख्य पहा हो। हे निष्ठा ज्यासी महाबाहो। त्यासी अपावो स्वप्नीं नाहीं॥ ५॥ भरलेया जगाआंतु। सारभागी तो योगयुक्तु। यदूसि अवधूत सांगतु। गुरुवृत्तांतु लक्षणें॥ ६॥ गुरुत्वें म्यां मानिली 'माशी।' ऐक राया दो प्रकारेंसीं। एक ते मोहळमासी। ग्रामवासी दूसरी॥ ७॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षितम्। पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही॥ ११॥

पहा पां घरींची माशी। बैसल्या साखरेचे राशीं। हातीं धरोनि घाली मुखाशी। संग्रहो तिसी पैं नाहीं॥ ८॥ हे होईल सायंकाळा। हे भक्षीन प्रातःकाळां। ऐसा संग्रहो वेगळा। नाहीं केला मक्षिका॥ ९॥ तैशी योगसंन्यासगती। प्राप्तभिक्षा घेऊनि हातीं। तिसी निक्षेपु मुखाप्रती। संग्रहस्थिति त्या नाहीं॥ ११०॥ भिक्षेलागीं पाणिपात्र। सांठवण उदरमात्र। या वेगळें स्वतंत्र। नाहीं घरपात्र सांठवणें॥ ११॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः। मक्षिका इव सङ्गृह्णन् सह तेन विनश्यति॥ १२॥

सायंकाळ-प्रातःकाळासी। भक्ष्यसंग्रहो नसावा भिक्षूसी। संग्रहें पावती नाशासी। येविषीं 'मधुमाशी' गुरु केली॥ १२॥ रिघोनि नाना संकटस्थानांसी। मधुसंग्रहो करी मधुमाशी। तो संग्रहोचि करी घातासी। मधु न्यावयासी जैं येती॥ १३॥ संग्रहो यत्नाचिया चाडा। मोहळ बांधिती अवघडां कडां। ते दुर्गमीं रिगु करिती गाढा। अर्थ-चाडा मधुहर्ते॥ १४॥ कां झाडितां मोहळासी। नाशु होतसे मासियांसी। संग्रहाची जाती ऐशी। जीवघातासी करवितु॥ १५॥ ऐसें देखोनिया जनीं। भक्त-भिक्षु-योगी-सज्जनीं। संग्रहो न करावा भरंवसेनी। नाशु निदानीं दिसतुसे॥ १६॥ आचारावें सत्कर्म। संग्रहावा शुद्ध धर्म। हेंचि नेणोनियां वर्म। धनकामें अधम नाशती॥ १७॥ अर्थ विनाशाचें फळ। दुसरें एक नाशाचें मूळ। विशेष नाशाचें आहळबाहळ। स्त्री केवळ वोळख पां॥ १८॥ मूळ नाशासि जीविता। कनक आणि योषिता। जंव जंव यांची आसक्तता। तंव तंव चढता भवरोगु॥ १९॥ कनक आणि कामिनी। ज्यासी नावडे मनींहुनी। तोचि जनार्दनु जनीं। भरंवसेंनी ओळख पां॥ १२०॥ जो सुख इच्छील आपणासी। तेणें नातळावें स्त्रियेसी। येचिविषयीं 'मदगजासी'। गुरु विशेषीं म्यां केला॥ २१॥

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि। स्पृशन्करीव बद्ध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥ १३॥

पहा पां षष्टिहायन भद्रजाती। त्यांपुढें मनुष्य तें किंती। ते हस्तिणीचे अंगसंगतीं। बंधन पावती मनुजांचें॥ २२॥ जो दृष्टीं नाणी मनुष्यांसी। तो स्त्रियां वश केला मानवांसी। त्यांचेनि बोलें उठी बैसी। माथां अंकुशीं मारिजे॥ २३॥ एवं जिणावया संसारासी। जे स्वधर्मनिष्ठ संन्यासी। तिंही देखोनि योषितांसी। लागवेगेंसी पळावें॥ २४॥ नको स्त्रियांची भेटी। नको स्त्रियांसी गोष्टी। स्त्री देखतांचि दिठीं। उठाउठीं पळावें॥ २५॥ पळतां पळतां पायांतळी। आल्या काष्ठाची पुतळी। तेही नातळावी कुशळीं। निर्जीव स्त्री छळी पुरुषातें॥ २६॥ अनिरुद्धें स्वप्नीं देखिली उखा। तों धरूनि नेला चित्ररेखा। बाणासुरें बांधिला देखा। कृष्ण सखा जयाचा॥ २७॥ त्यासी सोडवणेलागीं हरी। धांवतां आडवा आला कामारी। युद्ध जाहलें परस्परीं। शस्त्रास्त्री दारुण॥ २८॥ एवं हरिहरां भिडतां। जो बांधला स्वप्नींचिया कांता। तो सहसा न सुटेची सोडवितां। इतरांचीकथा

कायसी॥ २९॥ पहा पां स्वप्नींचिया कांता। अनिरुद्धासी केली निरुद्धता। मा साचचि स्त्री हाती धरितां। निर्गमता त्या कैंची॥ १३०॥ 'पुरुष' आपणया म्हणविती। सेखीं स्त्रियांचे पाय धरिती। त्यांसी कैसेनि होईल मुक्ती। स्त्रीसंगतीं अधःपात॥ ३१॥

नाधिगच्छेत्स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः। बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा॥ १४॥

क्रीडतां गजींमाजीं गजपती। त्यावरी सबळ भद्रजाती। येऊनियां युद्ध करिती। निजबळें मारिती तयातें॥ ३२॥ तो मारोनियां हस्ती। त्या हस्तिणी समस्ती। सबळ भोगी भद्रजाती। नाशप्रती स्त्री मूळ॥ ३३॥ अहल्येचिया संगतीं। गौतमें विटंबिला अमरपती। भस्मासुरासी नाशप्राप्ती। स्त्रीसंगतीस्तव जाली॥ ३४॥ देखोनि तिलोत्तमा उत्तम वधू। सुंद उपसुंद सखे बंधु। स्त्रीअभिलाषें चालिला क्रोधु। सुहृदसंबंधू विसरले॥ ३५॥ मग स्त्रीविरहेंयुद्धाचे ठायीं। दोघे निमाले येरयेरांचे घायीं। शेखीं स्त्रीभोगुही नाहीं। मरणमूळ पाहीं योषिता॥ ३६॥ ऐसीच पूर्वकल्पींची कथा। अवतारी श्रीकृष्ण नांदतां। तेणें शिशुपाळ गांजोनि सर्वथा। हिरोनि कांता पैं नेली॥ ३७॥ एवं सुरनरपशूंप्रती। नाशासी मूळ स्त्रीसंगती। तिचेनि संगें गृहासक्ती। कलहप्राप्ती स्त्रीमूळ॥ ३८॥ ग्राम्य स्त्रियांचे संगतीं जाणें। तो बैसला मरणाधरणें। मरण आल्याही न करणें। जीवेंप्राणें स्त्रीसंगु॥ ३९॥ वेश्येचे संगतीं जातां। बळाधिक्य करी घाता। निरंतर स्वपत्नी भोगितां। नाहीं बाधकता हें न म्हण॥ १४०॥ अविश्रम स्त्री सेवितां। कामु पावे उन्मत्तता। उन्मत्त कामें सर्वथा। अधःपाता नेइजे॥ ४१॥ एवं हा ठावोवरी। स्त्रीसंग कठिण भारी। क्वचित्संगु जाहल्यावरी। नरकद्वारीं घालील॥ ४२॥ नरकीं घालील हे वार्ता। उद्धाराची कायसी कथा। नरकरूप ग्राम्य योषिता। पाहें सर्वथा निर्धारें॥ ४३॥ स्त्री आणि दुसरा अर्थु। हाचि ये लोकीं घोर अनर्थु। येणें अंतरला निजस्वार्थु। शेखीं करी घातु प्राणाचा॥ ४४॥

न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद्दुःखसञ्चितम्। भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु॥ १५॥

स्वयें खाये ना धर्मु न करी। घरच्यांसी खाऊं नेदी दरिद्री। मधुमक्षिकेच्या परी। संग्रहो करी कष्टोनि॥ ४५॥ माशा मोहळ बांधिती बळें। माजीं सांचले मधाचे गोळे। तें देखोनि जगाचे डोळे। उपायबळें घेवों पाहाती॥ ४६॥ मग झाडींखोडीं अरडींदरडीं। जेथिच्या तेथ जगु झोडी। भरती मधाचिया कावडी। ते सेविती गोडी श्रीमंत॥ ४७॥ माशा मधु न खाती काकुळतीं। झाडित्याचे हात माखती। स्वादु श्रीमंत सेविती। ज्यांसी लक्ष्मीपती प्रसन्न॥ ४८॥ तैसेंचि कृपणाचें यक्षधन। नाहीं दान धर्मसंरक्षण। त्यातें तस्कर नेती मारून। त्यांसही दंडून राजा ने॥ ४९॥ जे शिणोनि संग्रह करिती। त्यांसी नव्हे भोगप्राप्ती। ते द्रव्यें अपरिग्रही सेविती। दैवगती विचित्र॥ १५०॥ प्रयासें गृहस्थ करवी अन्न। तें संन्यासी न शिणतां जाण। करूनि जाय भोजन। अदृष्ट प्रमाण ये अर्थीं॥ ५१॥ यालागीं दैवाधीन जो राहे। तो संग्रहाची चाड न वाहे। तें अदृष्टचि साह्य आहे। कृपणता वायें करिताति॥ ५२॥

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः। मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम्॥ १६॥

दुःखें उपार्जूनि वित्त। गृहसामग्री नाना पदार्थ। त्याचे पाक करवी गृहस्थ। निजभोगार्थ आवडीं॥ ५३॥ तेथ समयीं आला अतिथ। संन्यासी ब्रह्मचारी अन्नार्थ। गृहस्थाआधीं तो सेवित। तोंड पाहत गृहमेधी॥ ५४॥ जैसें दवडून मोहळमाशियांसी। मधुहर्ता मधु प्राशी। तैसें होय गृहस्थासी। नेती संन्यासी सिद्धपाकु॥ ५५॥ समयीं पराङ्मुख झालिया यती। सकळ पुण्यें क्षया

जाती। यथाकाळीं आलिया अतिथी। स्वधर्मु रक्षिती सर्वथा॥ ५६॥ अर्थ संग्रहाची बाधकता। तुज म्यां सांगितली तत्त्वतां। 'मृग' गुरु केला सर्वथा। तेही कथा परियेसी॥ ५७॥

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद्यतिर्वनचरः क्वचित्। शिक्षेत हरिणाद्बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात्॥ १७॥

ग्राम्यजनवार्ता। कां ग्राम्य स्त्रियांच्या गीता। ऐके जो कां तत्त्वतां। बंधन सर्वथा तो पावे॥ ५८॥ अखंड पाहतां दीपाकडे। घंटानादें झालें वेंडें। मृग पाहों विसरला पुढें। फांसीं पडे सर्वथा॥ ५९॥ ग्राम्य योषितांचे गीत। ऐकतां कोणाचें भुलेना चित्त। मृगाच्या ऐसा मोहित। होय निश्चित निजस्वार्था॥ १६०॥ जो बोलिजे तापसांचा मुकुटी। ज्यासी स्त्रियांसी नाहीं भेट गोष्टी। तो ऋष्यशृंग उठाउठी। स्त्रीगीतासाठीं भुलला॥ ६१॥

नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम्। आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः॥ १८॥

मधुर वीणागुणाक्वणित। ग्राम्य स्त्रियांचें गीत नृत्य। देखतां पुरुष वश्य होत। जैसें गळबंधस्थ वानर॥ ६२॥ जो तपसांमाजीं जगजेठी। जो जन्मला मृगीच्या पोटीं। जो नेणे स्त्रियांची भेटीगोठी। न पाहे दृष्टीं योषिता॥ ६३॥ तो ऋष्यशृंग स्त्रीदृष्टीं। वश्य जाहला उठाउठी। धांवे योषितांचे पाठोवाठीं। त्यांचे गोष्टीमाजीं वर्ते॥ ६४॥ गारुड्याचें वानर जैसें। स्त्रियांसंगें नाचे तैसें। प्रमदादृष्टीं जाहला पिसें। विवेकु मानसें विसरला॥ ६५॥ विसरला तपाचा खटाटोपु। विसरला विभांडक बापु। विसरला ब्रह्मचर्यकृत संकल्पु। स्त्रियानुरूपु नाचतु॥ ६६॥ स्त्रीबाधे एवढा बाधु। संसारीं आणिक नाहीं गा सुबुद्धु। नको नको स्त्रियांचा विनोदु। दुःखसंबंधु सर्वांसी॥ ६७॥ वारिलें नाइकावें ग्राम्य गीता। हे सत्य सत्य गा सर्वथा। तेथ हरिकीर्तन कथा। जाहल्या परमार्थतां ऐकावें॥ ६८॥ रामनामें विवर्जित। ग्रामणीं बोलिजे तें 'ग्राम्यगीत'। तें नाइकावें निश्चित। कवतुकें तेथ न वचावें॥ ६९॥ 'मीन' गुरु करणें। तेंही अवधारा लक्षणें। रसनेचेनि लोलुप्यपणें। जीवेंप्राणे जातसे॥ १७०॥

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः। मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा॥ १९॥

अर्थ-संग्रहें जीवघातु। स्त्रिया-आसक्तीं अधःपातु। रसनालोलुप्यें पावे मृत्यु। विविध घातु जीवासी॥ ७१॥ ज्यासी रसनालोलुप्यता गाढ़ी। त्यासी अनर्थुचि जोडे जोडी। दुःखाच्या भोगवी कोडी। रसनागोडी बाधक॥ ७२॥ रसना आमिषाची गोडी। लोलुप्यें मीनु गिळी उंडी। सवेंचि गळु टाळू फोडी। मग चरफडी अडकलिया॥ ७३॥ पाहतां रस उत्तम दिसत। भीतरीं रोगांचे गळ गुप्त। रस आसक्तीं जे सेवित। ते चडफडित भवरोगें॥ ७४॥ गळीं अडकळा जो मासा। तो जिता ना मरे चरफडी जैसा। तेवीं रोगु लागल्या माणसा। दुःखदुर्दशा भोगित॥ ७५॥ जो रसनालोलुप्यें प्रमादी। त्यासी कैंची सुबुद्धी। जन्ममरणें निरवधी। भोगी त्रिशुद्धी रसदोषें॥ ७६॥ रस सेविलियासाठीं। भोगवी जन्मांचिया कोटी। हें न घडे म्हणसी पोटीं। राया ते गोठी परियेसीं॥ ७७॥ इंद्रियांची सजीवता। ते रसनेआधीन सर्वथा। रसनाद्वारें रस घेतां। उन्मत्तता इंद्रियां॥ ७८॥ मातली जे इंद्रियसत्ता। ते नेऊन घाली अधःपाता। रसना न जिणतां सर्वथा। भवव्यथा चुकेना॥ ७९॥ आहारेंवीण देह न चले। सेविल्या इंद्रियवर्गु खवळे। रसनाजयाचें मूळ कळे। तैं दुःखें सकळें मावळतीं॥ १८०॥

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः। वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥ २०॥

आहार वर्जूनि साधक। इतर इंद्रियें जिंतिलीं देख। तंव तंव रसना वाढे अधिक। ते अजिंक्य

न जिंकवे॥ ८१॥ इंद्रियांसी आहाराचें बळ। तीं निरहारें झालीं विकळ। तंव तंव रसना वाढे प्रबळ। रसनेचें बळ निरनें॥ ८२॥

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान्। न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥ २१॥

निरनें इंद्रियें जिंतिली। तीं जिंतिली हे मिथ्या बोली। अन्न घेतांचि सरसावलीं। सावध जाहलीं निजकर्मीं॥ ८३॥ जंव रसना नाहीं जिंकिली। तंव 'जितेंद्रिय' मिथ्या बोली। जैं साचार रसना जिंकिली। तैं वाट मोडिली विषयांची॥ ८४॥ विषयाआंतील गोडपण। रसने-आंतील जाणपण। दोंहीसी ऐक्या केल्या जाण। रसना संपूर्ण जिंतिली॥ ८५॥ सर्वां गोडियांचें गोड आहे। ते गोडीस जो लागला राहे। त्यासीचि रसना वश्य होये। रस-अपाये न बाधिती॥ ८६॥ रसनाजिताचें वाधावणें। तेणें ब्रह्मसायुज्यीं पडे ठाणें। सोहळा परमानंदें भोगणें। रसना जेणें जिंतिली॥ ८७॥

पिङ्गला नाम वेश्याऽऽसीद्विदेहनगरे पुरा। तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन॥ २२॥

अवधूप म्हणे नृपनंदना। 'वेश्या' गुरु म्यां केली जाणा। तिच्या शिकलों ज्या लक्षणां। विचक्षणा अवधारीं॥ ८८॥ पूर्वी विदेहाचे नगरीं। 'पिंगला' नामें वेश्या वासु करी। तिसी आस निरासेंवरी। वैराग्य भारी उपजलें॥ ८९॥

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं सङ्केत उपनेष्यती। अभूत्काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम्॥ २३॥

ते स्वैरिणी स्वेच्छाचारी। सायंकाळीं उभी द्वारीं। नाना अळंकार-अंबरीं। शृंगारकुसरी शोभत॥ १९०॥ आधींच रूप उत्तम। वरी शृंगारिली मनोरम। करावया ग्राम्यधर्म। पुरुष उत्तम पहातसे॥ ९१॥

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान्पुरुषर्षभ। ताञ्छुल्कदान्वित्तवतः कान्तान्मेनेऽर्थकामुका॥ २४॥

सगुण सुरूप धनवंत। कामकौशल्यें पुरवी आर्त। अर्थ देऊनि करी समर्थ। ऐसा कांत पहातसे॥ ९२॥ ऐक गा पुरुषश्रेष्ठा। पुरुष येतां येतां देखे वाटा। त्यासी खुणावी नेत्रवेंकटा। कामचेष्टा दावूनि॥ ९३॥

आगतेष्वपयातेषु सा संकेतोपजीविनी। अप्यन्यो वित्तवान्कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः॥ २५॥

येत्या पुरुषास हाणी खडा। एकासी म्हणे घ्या जी विडा। डोळा घाली जात्याकडा। एकापुढां भंवरी दे॥ ९४॥ ठवूनि संकेतीं जीवित। ऐसे नाना संकेत दावित। पुरुष तिकडे न पाहात। येत जात कार्यार्थी॥ ९५॥ गेल्या पुरुषातें निंदित। द्रव्यहीन हे अशक्त। रूपें विरूप अत्यंत। उपेक्षित धिक्कारें॥ ९६॥ आतां येईल वित्तवंत। अर्थदानीं अतिसमर्थ। माझा धरोनियां हात। कामआर्त पुरवील॥ ९७॥

एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती। निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत॥ २६॥

ऐसें दुराशा भरलें चित्त। निद्रा न लगे उद्वेगित। द्वार धरोनि तिष्ठत। काम वांछित पुरुषांसीं॥ ९८॥ रिघों जाय घराभीतरीं। सांचल ऐकोनि रिघे बाहेरी। रिघतां निघतां येरझारी। मध्यरात्री पै झाली॥ ९९॥ सरली पुरषाची वेळ। रात्र झाली जी प्रबळ। निद्रा व्यापिले लोक सकळ। पिंगला विव्हळ ते काळीं॥ २००॥

तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः। निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः॥ २७॥

तुटला आशेचा जिव्हाळा। सुकले वोंठ वाळला गळा। कळा उतरली मुखकमळा। खेदु

आगळा चिंतेचा॥ १॥ वित्त न येचि हाता। तेणें ते झाली दीनचित्ता। वैराग्यें परम वाटली चिंता। सुखस्वार्था ते हेतु॥ २॥

तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम। निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यमिः॥ २८॥
न ह्यङ्गाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति। यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप॥ २९॥

कैसें वैराग्य उपजलें तिसी। जे चिंतीत होती विषयासी। त्या विटली विषयसुखासी। छेदक आशेसी वैराग्य॥ ३॥ तेणें वैराग्यें विवेकयुक्त। पिंगलेनें गाइलें गीत। तें आइक राया समस्त। चित्तीं सुचित्त होऊनि॥ ४॥ ऐक राया विवेकनिधी। वैराग्य नाहीं ज्याचे बुद्धीं। त्यासी जन्ममरणाची आधिव्याधी। प्रतिपदीं बाधकु॥ ५॥ अनुतापु नाहीं ज्यासी। विवेक नुपजे मानसीं। तो संसाराची आंदणी दासी। आशापाशीं बांधिजे॥ ६॥ त्यासी मोहममतेची गाढी। घालिजे देहबुद्धीची बेडी। अहोरात्र विषय भरडी। अर्ध घडी न राहे॥ ७॥ जराजर्जरित वाकळे। मार्जीं पडले अखंड लोळे। फुटले विवेकाचे डोळे। मार्गु न कळे विध्युक्त॥ ८॥ त्यासी अव्हासव्हा जातां। अंधकूपीं पडे दुश्चिता। तेथूनि निघावया मागुता। उपावो सर्वथा नेणती॥ ९॥ तेथ काया-मनें-वाचें। निघणें नाहीं जी साचें। तंव फणकाविला लोभविंचें। चढणें त्याचें अनिवार॥ २१०॥ तेथ निंदेचिया तिडका। आंत बाहेर निघती देखा। वित्तहानीचा थोर भडका। जळजळ देखा द्वेषाची॥ ११॥ अभिमानचे आळेपिळे। मोहउमासे येती बळें। तरी विषयदळणें आगळें। दुःखें लोळे गेहसेजे॥ १२॥ ऐशीं अवैराग्यें बापुडीं। पडलीं देहाचे बांदवडीं। भोगितां दुःखकोडी। सबुडबुडीं बुडालीं॥ १३॥ पहा पां नीच सर्व वर्णांसी। निंद्य कर्में निंदिती कैशीं। वैराग्य उपजलें वेश्येसी। देहबंधासी छेदिलें॥ १४॥ देहबंध छेदी त्या उक्ती। वेश्या बोलिली नाना युक्ती। झाली पिंगलेसी विरक्ती। चक्रवर्ती परीस पां॥ १५॥

पिङ्गलोवाच—अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः। या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा॥ ३०॥

मिथ्या मोहाचा विस्तार। म्यां वाढविला साचार। माझ्या मूर्खपणाचा पार। पाहतां विचार पांगुळे॥ १६॥ नाहीं अंतःकरणासी नेम। अपार वाढविला भ्रम। असंतपुरुषांचा काम। मनोरम मानितां॥ १७॥ जरी स्त्रीसी पुरुष पाहिजे। तरी जवळील पुरुष न लाहिजे। हेंचि मूर्खपण माझें। सदा भुंजे असंतां॥ १८॥

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय।
अकामदं दुःखभयादिशोकमोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा॥ ३१॥

संतपुरुषाची प्राप्ती। जवळी असतां नेणें आसक्ती। ज्यासी केलिया रती। कामनिवृत्ती तत्काळ॥ १९॥ काम निवर्तवूनि देख। अनिवार पुरवी नित्यसुख। चित्तदाता तोचि एक। अलोलिक पैं देणें॥ २२०॥ सकळ ऐश्वर्य निजपदेंसीं। संतोषोनि दे रतीसी। रमवूं जाणे नरनारींसीं। रमणु सर्वांसी तो एकु॥ २१॥ सांडोनि ऐशिया कांतासी। माझी मूढता पहा कैशी। नित्य अकामदा पुरुषासी। कामप्राप्तीसी भजिन्नलें॥ २२॥ आपुला पूर्ण न करवे काम। ते मज केवीं करिती निष्काम। त्यांचेनि संगें मोहभ्रम। दुःख परम पावलें॥ २३॥ त्यांचेनि सुख नेदवेच मातें। परी झाले दुःखाचेचि दाते। भय-शोक-आधि-व्याधींतें। त्यांचेनि सांगातें पावलें॥ २४॥

अहो मयाऽऽत्मा परितापितो वृथा साङ्कृत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया।
स्त्रैणान्नराद्यार्थतृषोऽनुशोच्यात् क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती॥ ३२॥

जारपुरुषापासोनि सुख। इच्छितें ते मी केवळ मूर्ख। वृथा परितापु केला देख। मज असुख म्यां दीधलें॥ २५॥ स्त्रैण पुरुष ते नराधम। वेश्यागामी त्याहूनि अधम। त्यांत कृपणु तो अधमाधम। तयांचा संगम मी वांच्छीं॥ २६॥ जितुक्या अतिनिंदका वृत्ती। मज आतळतां त्या भीती। योनिद्वारें जीविकास्थिती। नीच याती व्यभिचारु॥ २७॥ अल्प द्रव्य जेणें देणें। त्याची जाती कोण हें नाहीं पाहणें। याहोनि काय लाजिरवाणें। निंदित जिणें पैं माझें॥ २८॥ जया पुरुषासी देह विकणें। तें अत्यंत हीनदीनपणें। काय सांगों त्याची लक्षणें। सर्वगुणें अपूर्ण॥ २९॥ वित्त नेदवे कृपणता। काम न पुरवे पुरता। प्रीति न करवे तत्त्वतां। भेटी मागुता तो नेदी॥ २३०॥ ऐशियापासाव सुख। वांछितां वाढे परम दुःख। जळो त्याचें न पाहें मुख। वोकारी देख येतसे॥ ३१॥ एवं जारपुरुषाची स्थिती। आठवितां चिळसी येती। पुरे पुरे ते संगती। चित्तवृत्ति वीटली॥ ३२॥

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्यस्थूणं त्वचारोमनखैः पिनद्धम्।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या॥ ३३॥

नरशरीर गृह सांकडें। आढीं पाखाड्या नुसधीं हाडें। अस्थींच्या मेढी दोंहीकडे। वोलेनि कातडें मढियेलें॥ ३३॥ त्यासी सर्वांगीं सगळे। दिधले रोमावळिचे खिळे। घालूनि नखाचे खोबळे। अग्रीं आंगवळे बूजिले॥ ३४॥ अस्थि-मांस-चर्मबांधा। सर्वांगीं आवळूनि दिधला सांदा। रंगीत चर्मरसना स्वादा। पुढिले बांधा बांधिली॥ ३५॥ वायुप्रसरणपरिचारें। केलीं प्राणापानरंध्रें। वरिले डळमळीत शिखरें। बालांकुरें लाविलीं॥ ३६॥ बुजूनि भीतरील सवडी। बांधाटिलें नवनाडीं। विष्ठामूत्रांची गाढी। नित्य परवडी सांठवण॥ ३७॥ भीतरिले अवकाशीं। दुर्गंधि ऊठली कैशी। तेचि प्रवाह अहर्निशीं। नवद्वारांसी वाहताति॥ ३८॥ अखंड पन्हवे वाहती मळें। देखोनि ज्याचें तो कांटाळे। अहर्निशीं धुतां जळें। कदा निर्मळे ते नव्हती॥ ३९॥ सांगतांचि हे गोष्टी। ओकारी येतसे पोटीं। ऐशियास मी भुलल्यें करंटी। विवेक दृष्टीं न पाहें॥ २४०॥ अस्थिमांसाचा कोथळा। विष्ठामूत्राचा गोळा। म्यां आलिंगिला वेळोवेळां। जळो कंटाळा न येचि॥ ४१॥

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः। यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात्कामनच्युतात्॥ ३४॥

ये विदेहाचे नगरीं। मूर्ख मीचि एक देहधारी। हृदयस्थ सांडूनि श्रीहरी। असंतां नरीं व्यभिचारु॥ ४२॥ असंत पुरुष नेणों किती। म्यां भोगिले अहोरातीं। सुख न पवेंची निश्चितीं। रति भगवंतीं जंव नाहीं॥ ४३॥ जो निकटवर्ती हृदयस्थु। पुरुषीं पुरुषोत्तम अच्युतु। वीर्यच्युतीवीण रमवितु। संतोषें देतु निजात्मना॥ ४४॥ अच्युतें ज्यासि निजसुख दिधलें। ते सुख च्यवेना कांहीं केलें। ऐशिया हृदयस्था विसरलें। आणिक भुललें अकामदा॥ ४५॥ अकामद ते नाशवंत। त्यांसी संग केलिया दुःखचि देत। कैसें माझें मूर्ख चित्त। त्यासी आसक्त पैं होतें॥ ४६॥ त्या आसक्तीची झाली तडातोडी। लागली अच्युतसुखाची गोडी। ज्याचें सुख भोगितां चढोवढी। घडियाघडी वाढतें॥ ४७॥

सुहृत्प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम्। तं विक्रियात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा॥ ३५॥

जो सोयरा माझा हृदयस्थु। सुख प्रीति प्रिय अच्युतु। तोचि अंतरात्मा सर्वगतु। नाथ कांतु तो माझा॥ ४८॥ त्यासीच आपुले संवसाटी। विकत घेईन उठाउठी। परमानंदें देईन मिठी। गोठी चावटी सांडोनी॥ ४९॥ रमा झाली पायांची दासी। मी भोगीन अनारिसी। सर्वकाळ सर्वदेशीं। सर्वरूपेसीं सर्वस्वें॥ २५०॥

कियत्प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदानरः। आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः॥ ३६॥

सांडूनि हृदयस्था अच्युतातें। वरावें वरां निर्दैवांतें। तंव तो द्वैतभये भयचकिते। काळग्रस्ते सर्वदा॥ ५१॥ जे निजभयें सर्वदा दुःखी। ते भार्येसी काय करिती सुखी। अवघीं पडलीं काळमुखीं। न दिसे ये लोकीं सुखदाता॥ ५२॥ असो नराची ऐशी गती। वरूं अमरांमाजीं अमरपती। विळांत ते चौदा निमती। पदच्युति अमरेंद्रा॥ ५३॥ एवं सुर नर लोक लोकीं। आत्ममरणें सदा दुःखी। ते केवीं भार्येसी करिती सुखी। भजावें मूर्खीं ते ठायीं॥ ५४॥ धन्य माझी भाग्यप्राप्ती। येचि क्षणीं येचि रातीं। झाली विवेकवैराग्यप्राप्ती। रमापति तुष्टला॥ ५५॥

नूनं मे भगवान्प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा। निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्नो जातः सुखावहः॥ ३७॥

ये जन्मींचें माझें कर्म। पाहतां केवळ निंद्य धर्म। मज तुष्टला पुरुषोत्तम। पूर्वजन्मसामग्रीं॥ ५६॥ मज कैंचे पूर्वजन्मीं साधन। ज्याचें नाम 'पतितपावन'। कृपाळु जो जनार्दन। त्याचे कृपेन हें घडलें॥ ५७॥ दुष्ट दुराशा व्यभिचारु। भगद्वारा चालवीं संसारु। तिसी मज वैराग्ययुक्त विचारु। विष्णु साचारु तुष्टला॥ ५८॥ जरी असतें पूर्वसाधन। तरी निंद्य नव्हतें मी आपण। योनिद्वारा कर्माचरण। पतित पूर्ण मी एकी॥ ५९॥ यापरी मी पूर्ण पतित। पतितपावन जगन्नाथ। तेणें कृपा करून येथ। केलें विवेकयुक्त वैरागी॥ २६०॥ तेणें वैराग्यविचारें देख। दुष्ट दुराशेचें फिटलें दुःख। मज झालें परम सुख। निजसंतोख पावलें॥ ६१॥ दुःख आदळतां अंगासी। वैराग्य नुपजे अभाग्यासी। भगवंतें कृपा केली कैशी। दुःखें निजसुखासी दीधलें॥ ६२॥

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः। येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति॥ ३८॥

अंगीं आदळतां दुःखद्वंद्व। अभाग्यासी ये सबळ क्रोध। थिता विवेक होय अंध। भाग्यमंद ते जाणा॥ ६३॥ दुःख दंखतांचि दृष्टी। ज्यासी वैराग्य विवेकेंसीं उठी। तेणें छेदूनि स्नेहहृदयगांठी। पावे उठाउठी निजसुख॥ ६४॥ पुरुषांसी परमनिधान। विवेकयुक्त वैराग्य जाण। तेणें होऊनियां प्रसन्न। समाधान पावती॥ ६५॥ मी पूर्वी परम अभाग्य। महापुरुषांचे जें निजभाग्य। तें भगवंतें दिधलें वैराग्य। झालें श्लाघ्य तिहीं लोकीं॥ ६६॥

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः। त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम्॥ ३९॥

कृपा करोनि भगवंते। निजवैराग्य दिधलें मातें। तेणें सांडविलें दुराशेतें। ग्राम्य विषयातें छेदिलें॥ ६७॥ तो उपकार मानूनियां माथां। त्यासी मी शरण जाईन आतां। जो सर्वाधीश नियंता। तथा कृष्णनाथा मी शरण॥ ६८॥

सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती। विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै॥ ४०॥

शरण गेलियापाठीं। सहज संतुष्ट मी ये सृष्टीं। स्वभावें सत्श्रद्धा पोटीं। जीविका गांठी अदृष्ट॥ ६९॥ मुनीश्वर भोगिती निजात्मा। त्या मी भोगीन आत्मयारामा। जो का पुरवी निष्कामकामा। तो परमात्मा वल्लभु॥ २७०॥ ब्रह्मादिक समर्थ असती। ते सांडूनियां निश्चिंतीं। भगवद्भजनाची स्थिती। अतिप्रीती कां म्हणसी॥ ७१॥ मजसारिखिया दुराचारी। जड जीवांतें उद्धरी। तारकु तोचि भवसागरीं। स्वामी श्रीहरि कृपाळु॥ ७२॥

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम्। ग्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः॥ ४१॥

संसारलक्षण कूप अंध। तेथ विषयदृष्टीं विषयांध। पडोनि गेले अंधांध। बुद्धिमंद उपायीं॥ ७३॥ ते कल्पनाजळीं बुडाले। वासनाकल्लोळीं कवळले। दंभमदादि जळचरीं तोडिले।

तृष्णेच्या पडले कर्दमीं॥ ७४॥ दुःखाच्या खडकीं आदळले। स्वर्गपायरीसी अडकले। तेथूनिही एक पडले। निर्बुजले भवदळें॥ ७५॥ नास्तिकें गेलीं सबुडबुडीं। कर्मठीं धरिल्या कर्मदरडी। वेदबाह्य तीं बापुडीं। पडलीं देव्हडीतळवटीं॥ ७६॥ निंदेचे शूळ कांटे। फुटोनि निघाले उफराटे। द्वेषाचे पाथर मोठे। हृदय फुटे लागतां॥ ७७॥ कामाची उकळी प्रबळ। भीतरूनि बाहेरी ये सबळ। तेणें उहुळलें तें जळ। होय खळबळ जीवासी॥ ७८॥ सुटले क्रोधाचे चिरे। वरी पडिल्या उरी नुरे। वनितामगरीं नेलें पुरें। विवरद्वारें आंतौतें॥ ७९॥ तेथ अवधियांसी एकसरें। गिळिलें काळें काळअजगरें। विखें घेरिलें थोरें घोरें। ज्ञान पाठिमोरें सर्वांसी॥ २८०॥ सर्प चढलिया माणुसा। गूळ कडू लागे कैसा। निंब खाये घसघसां। गोड गूळसा म्हणौनि॥ ८१॥ केवळ विषप्राय विषयो कडू। तो प्रपंचिया जाला गोडु। अमृतप्राय परमार्थ गोडु। तो जाहला कडू विषयिकां॥ ८२॥ कूपाबाहेर वासु ज्यांसी। ते न देखती कूपाआंतुलांसी। कूपांतले बाहेरिलांसी। कदाकाळेंसीं न देखती॥ ८३॥ ऐसिया पीडतयां जीवांसी। काढावया धिंवसा नव्हे कोण्हासी। तुजवांचोनि हृषीकेशी। पाव वेगेंसीं कृपाळुवा॥ ८४॥ एवं दुःखकूपपतितां। हृदयस्थु भगवंतुचि त्राता। धांव पाव कृष्णनाथा। भवव्यथा निवारीं॥ ८५॥ ऐसें जाणोनि तत्त्वतां। त्याच्या चरणा शरण आतां। शरण गेलिया सर्वथा। सहज भवव्यथा निवारे॥ ८६॥

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात्। अप्रमत्त इदं पश्येद् ग्रस्तं कालाहिना जगत्॥ ४१॥

ऐसें कळलें जी तत्त्वतां। येथ आपणचि आपणिया त्राता। सर्व पदार्थीं सर्वथा। निर्वेदता दृढ जाहल्या॥ ८७॥ दृढ वैराग्यता ते ऐशी। विषयो टेंकल्या अंगासी। चेतना नव्हें इंद्रियांसी। निद्रितापासीं जेवीं रंभा॥ ८८॥ अथवा वमिलिया अन्ना। जेवीं वांछीना रसना। तेवीं विषय देखोनि मना। न धरी वासना आसक्ती॥ ८९॥ तें वैराग्य कैसेनि जोडे। तरी सावधान पाहतां रोकडें। जग काळें गिळिलें चहूंकडे। वेगळें पडे तें नाहीं॥ २९०॥ पिता-पितामह काळें नेले। पुत्रपौत्रां काळें गिळिलें। वैराग्य नुपजे येणें बोलें। तरी नागवले नरदेहा॥ ९१॥ मृत्युलोक याचें नांव। अनित्य स्वर्गाची काइसी हांव। वैराग्येंवीण निर्दैव। झाले सर्व सर्वथा॥ ९२॥

ब्राह्मण उवाच--एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम्। छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा॥ ४३॥

अवधूत म्हणे यदूसी। धन्य भाग्य तये वेश्येसी। वैराग्य उपजलें तिसी। विवेकेंसी निजोत्तम॥ ९३॥ एवं विवंचूनि निजबुद्धी। परपुरुषदुराशा छेदी। ज्याचेनि संगें आधिव्याधी। बहु उपाधी बाधक॥ ९४॥ जे उपाधीचेनि कोडें। जन्ममृत्यूचा पुरु चढे। दुःखभोगाचें सांकडें। पाडी रोकडें जीवासी॥ ९५॥ येणें वैराग्यविवेकबळें। छेदूनि दुराशेचीं मूळें। उपरमु पावली एके वेळे। निजात्मसोहळे ते भोगी॥ ९६॥ नित्यसिद्धसुखदाता। तो हृदयस्थ कांत आश्रितां। विकल्प सांडूनि चित्ता। वेगीं हृदयस्था मीनली॥ ९७॥ त्यासी देखतां अनुभवाचे दिठीं। ऐक्यभावें घातली मिठी। निजसुख पावली गोरटी। उठाउठीं तत्काळ॥ ९८॥ बोलु घेऊनि गेला बोली। लाज लाजोनियां गेली। दृश्य-द्रष्टा दशा ठेली। वाट मोडिली विषयांची॥ ९९॥ सुखें सुखावलें मानस। तें सुखरूप जालें निःशेष। संकल्पविकल्प पडिले वोस। दोघां सावकाश निजप्रीती॥ ३००॥ नाबद पडलिया उदकांत। विरोनि तया गोड करित। तेवीं निराशीं पावोनि भगवंत। समरसत स्वानंदें॥ १॥ तेथ हेतूसी नाहीं ठावो। निमाला भावाभावो। वेडावला अनुभवो। दोघां प्रीती पाहा हो अनिवार॥ २॥ सांडूनि मीतूंपणासी। खेंव दिधलें समरसीं। मग समाधीचिये सेजेशी। निजकांतेंसी पहुडली॥ ३॥ झणें मायेची लागे दिठी। यालागीं स्फूर्तीचिया

कोटी। निंबलोण गोरटी। उठाउठी वोवाळी॥ ४॥ ऐसी समाधिशेजेशीं। पिंगला रिघे निजसुखेंसीं। अवधूत म्हणे यदूसी। वैराग्यें वेश्येसी उपरमु॥ ५॥ वैराग्ये छेदिले आशापाश। पिंगला जाहली गा निराश। निराशासी असमसाहस। सुखसंतोष सर्वदा॥ ६॥

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्। यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥ ४४॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कंधेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

आशा तेथ लोलुप्यता। आशेपाशीं असे दीनता। आशा तेथ ममता। असे सर्वथा नाचती॥ ७॥ आशेपाशीं महाशोक। आशा करवी महादोख। आशेपाशीं पाप अशेख। असे देख तिष्ठत॥ ८॥ आशेपाशीं अधर्म सकळ। आशा मानीना विटाळ। आशा नेणे काळवेळ। कर्म सकळ उच्छेदी॥ ९॥ आशा अंत्यजातें उपासी। नीचसेवन आशेपाशीं। आशा न सांडी मेल्यासी। प्रेतापाशीं नेतसे॥ ३१०॥ आशा उपजली अनंतासी। नीच वामनत्व आलें त्यासी। आशें दीन केलें देवांसी। कथा कायसी इतरांची॥ ११॥ जगाचा जो नित्य दाता। तो आशेनें केला भिकेसवता। वैऱ्याचे द्वारीं झाला मागता। द्वारपाळता तेणें त्यासी॥ १२॥ आशा तेथ नाहीं सुख। आशेपाशीं परम दुःख। आशा सर्वांसी बाधक। मुख्य दोष ते आशा॥ १३॥ ज्याची आशा निःशेष जाये। तोचि परम सुख लाहे। ब्रह्मादिक वंदिती पाये। अष्टमा सिद्धि राहे दासीत्वें॥ १४॥ निराशांचा शुद्ध भावो। निराशांपाशीं तिष्ठे देवो। निराशांचें वचन पाहा हो। रावो देवो नुल्लंघी॥ १५॥ निराश तोचि सद्बुद्धि। निराश तोचि विवेकनिधी। चारी मुक्ती पदोपदीं। नैराश्य आधीं वंदिती॥ १६॥ निराशा तीर्थांचें तीर्थ। निराशा मुमुक्षूचा अर्थ। निराशेपाशीं परमार्थ। असे निष्ठत निरंतर॥ १७॥ जाण नैराश्यतेपाशीं। वैराग्य होऊन असे दासी। निराश पहावया अहर्निशीं। हृषीकेशी चिंतितु॥ १८॥ निराश देखोनि पळे दुःख। निराशेमाजीं नित्यसुख। निराशेपाशीं संतोख। यथासुखें क्रीडतु॥ १९॥ नैराश्याचे भेटीसी पाहाहो। धांवे वैकुंठीचा रावो। नैराश्याचा सहज स्वभावो। महादेवो उपासी॥ ३२०॥ निराशेपाशीं न ये आधी। निराशेपाशीं सकळ विधी। सच्चिदानंदपदीं। मिरवे त्रिशुद्धी निराशु॥ २१॥ ऐकोनि निराशेच्या नावां। थोरला देवो घेतसे धांवा। त्या देवोनियां खेंवा। रूपनांवा विसरला॥ २२॥ ते निराशेचा जिव्हाळा। पावोनि वेश्या पिंगला। जारपुरुषाशेच्या मूळा। स्वयें समूळा छेदिती झाली॥ २३॥ जें आशापाशांचें छेदन। तेंचि समाधीचें निजस्थान। ते निज समाधी पावोन। पिंगला जाण पहुडली॥ २४॥ सर्व वर्णामाजीं वोखटी। कर्म पाहतां निंद्य दृष्टीं। ते वेश्या पावन झाली सृष्टीं। माझे वाक्पुटीं कथा तिची॥ २५॥ यालागीं वैराग्यापरतें। आन साधन नाहीं येथें। कृष्ण थापटी उद्धवातें। आल्हादचित्तें प्रबोधी॥ २६॥ अवधूत सांगे यदूसी। प्रत्यक्ष वेदबाह्यता वेश्येसी। निराश होतां मानसीं। निजसुखासी पावली॥ २७॥ यालागीं कायावाचाचित्तें। उपासावें निराशेतें। यापरतें परमार्थातें। साधन येथें दिसेना॥ २८॥ इतर जितुकीं साधनें। तितुकीं आशा-निराशेकारणें। ते निराशा साधिली जेणें। परमार्थ तेणें लुटिला॥ २९॥ कृपा जाकळिलें अवधूतासी। यदूसी धरोनियां पोटासी। निराशता हे जे ऐसी। अवश्यतेसीं साधावी॥ ३३०॥ एका जनार्दना शरण। त्याची कृपा परिपूर्ण। तोचि आशापाश छेदून। समाधान पाववी॥ ३३१॥

*इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे यद्दवधूतसंवादे एकाकारटीकायां अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥*

*॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥ मूळश्लोक॥ ४४॥ ओव्या॥ ३३१॥*

॥ श्रीः ॥

॥ ॐ तत्सत्-श्रीकृष्ण प्रसन्न ॥

# श्रीएकनाथी भागवत

## अध्याय नववा

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ ॐ नमो सद्गुरु अमरपती। अनुभवु तोचि ऐरावती। स्वानंदमदें भद्रजाती। उन्मत्तीस्थितीं डुल्लत ॥ १ ॥ उपदेशाचें वज्र तिख। छेदी संकल्पविकल्पपांख। जडजीव ते पर्वत देख। निजस्थानीं सम्यक स्थापिसी ॥ २ ॥ विवेकाचे पारिजात। वैराग्यसुमनीं घमघमित। मुमुक्षभ्रमर रिघोनि तेथ। आमोद सेविती चित्सुख ॥ ३ ॥ उपशम तोचि बृहस्पती। विश्वासें तुझा निकटवर्ती। त्यासी मानिसी अतिप्रीतीं। तो सभेप्रती सदस्य ॥ ४ ॥ कृपाकामधेनूंचीं खिल्लारें। श्रद्धावत्साचेनि हुंकारें। वोळल्या वोरसाचेनि भरें। तें दुभतें पुरे भागवतां ॥ ५ ॥ सतेज चिंतामणीचे खडे। सभोंवतीं लोळती चहूंकडे। भक्त न पाहती तयांकडे। चरणसुरवाडें सुखावले ॥ ६ ॥ स्वर्गांगना अष्टमा सिद्धी। तुजपुढें नाचती नाना छंदीं। त्यांतें दास न पाहती त्रिशुद्धी। मंदबुद्धि भाळले ॥ ७ ॥ समसाम्यें समान। अढळ तुझें सिंहासन। सच्चिदानंदाची गादी जाण। तेथें सुखासन पैं तुझें ॥ ८ ॥ पावावया तुझिया पदाप्रती। साधनचतुष्टयसंपत्ती। जोडोनियां याजक यजिती। प्रत्यगावृत्तीचेनि यागें ॥ ९ ॥ जे मन होमिताति सावधानीं। ऐसें भक्तभजन देखोनि। तेणें भावार्थयोगें संतोषोनी। निजपददानी तूं होशी ॥ १० ॥ त्यांसी निजात्मता देऊनी। बैसविसी निजासनीं। मरणेंवीण अमर करूनी। अपतनीं स्थापिसी ॥ ११ ॥ इंद्रा अहल्येशीं व्यभिचारु। तुज वृंदेशीं दुराचारु। इंद्र जाहला सहस्रनेत्रु। तूं सर्वांगें सर्वत्रु देखणा ॥ १२ ॥ इंद्रासी दैत्य करिती दीन। त्याचें पद घेती हिरोन। तुज भक्त करिती प्रसन्न। पद चिद्धन ते घेती ॥ १३ ॥ ककुत्स्थ बैसला इंद्राचे स्कंधीं। दुर्वास बैसला तुझ्या खांदीं। इंद्र वर्ते विष्णूचे बुद्धीं। तूं भक्तच्छंदीं। वर्तसी ॥ १४ ॥ रावणें बंदीं घातलें इंद्रासी। तुज बळीनें राखिलें द्वारासी। इंद्र याची यागअवदानासी। तूं भूमिदानासी याचिता ॥ १५ ॥ इंद्रासी अग्निमुखें प्राप्ती। तुज विश्वतोमुखीं तृप्ती। ऐसा सद्गुरु तूं कृपामूर्ती। अमरचक्रवर्ती गुरुराया ॥ १६ ॥ तुझी करावी विनवणी। तंव तेथें न रिघे वाणी। वाणीप्रकाश तुझेनी। वक्ता वदनीं तूं सत्य ॥ १७ ॥ एकाएक जनार्दनीं। तो जनार्दन वक्ता वदनीं। ऐसा वचनामाजीं प्रवेशोनी। ग्रंथकरणी करविता ॥ १८ ॥ तेथें मूळीं निमाली अहंता। अहं दवडूनि तूं कवि कर्ता। एका जनार्दनु अभंगी सूता। अभंगता गुरुचरणीं ॥ १९ ॥ त्या गुरुचरणप्रसादें। गुरूचीं लक्षणें विनोदें। वाखाणिलीं यथाबोधें। यदुसंवादें अवधूतें ॥ २० ॥ मागें अष्टमाध्यायाच्या अंतीं। असतां पिंगलेसी एकांतीं। विवेक-वैराग्य-निवृत्तीं। निजसुखप्राप्ती पावली ॥ २१ ॥ जंव जंव अपरिग्रह होणें। तंव तंव निजसुख पावणें। हेंचि प्रस्तुत बोलणें। तेणें ब्राह्मणें बोलिजे ॥ २२ ॥

ब्राह्मण उवाच—परिग्रहो हि दुःखाय यद्यत्प्रियतमं नृणाम्। अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान्यस्त्वकिञ्चनः ॥ १ ॥

ब्राह्मण म्हणे रायासी। परिग्रहो जयापाशीं। वाढतें दुःख तयासी। अहर्निशीं चढोवढी ॥ २३ ॥

कुटुंबपरिग्रहाचे आसक्ती। कपोता निमाला दुर्मती। आतां एकाकी परिग्रहो करिती। तेही पावती दुःखातें॥ २४॥ गृहपरिग्रहें गृहस्था। पाषाणमृत्तिकेची ममता। काडीकारणें कलहो करितां। सुहृदता सांडिती॥ २५॥ निःसंगा परिग्रहो लागला कैसा। शिष्यसंप्रदायें घाली फांसा। शास्त्रपुस्तकसंग्रहवशा। वाढवी आशा मठाची॥ २६॥ त्या मठशिष्यांचें सांत्वन। करितां अत्यंत होय दीन। मग परिग्रहाचें उपशमन। अपरिग्रही जाण करिताति॥ २७॥ त्या मठाचिया आशा। शिष्यसंप्रदायवशा। कलहो लागे आपैसा। विरोधु संन्यासा परिग्रहें॥ २८॥ परिग्रहो जिणोनि गाढा। लंगोटी त्यजूनि जाहला उघडा। नागवे माथां घेऊनि घडा। लाविल्या झाडा शिंपित॥ २९॥ त्या वृक्षाचें कोणी पान तोडी। त्यासी आक्रोशें कलह मांडी। थोर परिग्रहाची सांकडी। दुःखें पीडी सर्वांतें॥ ३०॥ आवडीं केला जो परिग्रहो। तो तो उपजवी दुःखकलहो। हा होतांही अनुभवो। वैराग्य पहा हो उपजेना॥ ३१॥ ऐशी परिग्रहाची कथा। देखोनि देखणा जो ज्ञाता। आसक्ती सांडोनि सर्वथा। अकिंचनपंथा लागला॥ ३२॥ प्रपंच अनित्य नाशवंत। तेथील संग्रह काय शाश्वत। ऐसें विवंचूनि समस्त। अकिंचनचित्त ते जाहले॥ ३३॥ परिग्रहामाजीं गाढा। देहपरिग्रहाचा खोडा। मिथ्यात्वें फोडी रोकडा। तो विवेकें गाढा ज्ञाता पैं॥ ३४॥ जेथ देहपरिग्रह मिथ्या जाहला। तो अनंत सुखाच्या घरा आला। ज्या सुखासी अंत न वचे केला। त्या पावला निजसुखा॥ ३५॥ परिग्रहो दुःखवंतु। हा 'कुररी' गुरुत्वें वृत्तांतु। तुज सांगेन साद्यंतु। उपहासें अवधूतु बोलिला॥ ३६॥ तंव राजा मनीं चमत्कारला। म्हणे मी राज्यपरिग्रहें गुंतला। देहपरिग्रहें बंदी पडला। पाहिजे केला हा त्यागु॥ ३७॥ ऐसा राजा सवैराग्यु। करूं पाहे सर्वत्यागु। श्रवणें जाहला तो सभाग्यु। होय योग्यु निजज्ञाना॥ ३८॥ कुररी-गुरुत्वें जाणा। परिग्रहत्यागविवंचना। आणावया जी मना। सादर श्रवणा करीतसे॥ ३९॥

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः। तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत॥ २॥

'कुरर' बोलिजे टिटवा। पावला आमिषकवळु बरवा। तेणें तेथेंची भक्षावा। तो लोभस्वभावा ठेविला॥ ४०॥ तें आमिष देखोनियां फार। बळी जे निरामिष कुरर। ते धांविन्नले अतिसत्वर। लहान थोर मिळोनि॥ ४१॥ हिरोनि घेऊं पाहती बळें। हें जाणोनियां तो पुढें पळे। पाळतां देखोनि एक वेळे। त्वरें तत्काळें वेढिला॥ ४२॥ त्या आमिषाचिया चाडा। थोर मांडला झगडा। मारूं लागले फडफडां। चहूंकडा निष्ठुर॥ ४३॥ एक झडपिती पांखीं। एक चपेटे हाणिती नखीं। एक विदारिती मुखीं। परम दुःखी होतसे॥ ४४॥ आमिष-कवळें गुंतलें मुख। मारितां देऊं न शके हाक। खस्तावेस्त करितां देख। बोलावया मुख त्या नाहीं॥ ४५॥ हे माझे स्वजाती पहा हो। सांडोनियां सुहृदभावो। मज कां करूं आले अपावो। तो अभिप्रावो विवंची॥ ४६॥ म्हणे माझिया दुःखासी मूळ। मजपाशील आमिष-कवळ। तो त्यजोनियां तत्काळ। सुखी सुनिश्चळ बैसला॥ ४७॥ जेथ आमिषकवळु पडे। तेथ कलहाचा गोंधळ मांडे। परस्परें फुटती मुंडें। ठेंचिती तोंडे येरयेरां॥ ४८॥ आमिष त्यजोनि बैसला देख। तो पाहे कलहाचें कौतुक। मूळ परिग्रहो तेथें दुःख। परम सुख त्यागितां॥ ४९॥ माड्या गोपुरें धवळारा। धनधान्य नाना अंबरा। रत्नें प्रवाल धन-पुत्र-दारा। हा समुदायो खरा परिग्रहो॥ ५०॥ या समस्त परिग्रहाचें मूळ। देहबुद्धि गा केवळ। तेहीं अभिमानें सबळ। एवं सर्वांस मूळ अभिमानु॥ ५१॥ तो अभिमानु जैं सांडे। तैं प्रपंचाचें मूळ खंडे। मूळ छेदिल्या जेवीं उलंडे। अतिप्रचंडे तरुवर॥ ५२॥ अभिमान देहबुद्धिजीवन। देहबुद्धि संगास्तव गहन।

उभयसंगु तो आयतन। निवासस्थान परिग्रहो॥ ५३॥ एवं अन्योन्य सापेक्षक। येरयेरा आवश्यक। याचे त्यागीं परम सुख। अतिदुःख तो परिग्रहो॥ ५४॥ परिग्रहत्यागाचें मूळ जाण। आधीं त्यजावा अभिमान। तेणेंवीण त्यागु तो विटंबन। केल्या जाण होईल॥ ५५॥ अभिमानसहित सकळ सांडे। तैं पडती सुखाचे पायमांडे। तें सुख न बोलवे तोंडें। शब्द मुरडे लाजोनि॥ ५६॥ अभिमान जाऊन वर्तन। कैसें राया म्हणसी जाण। तें अर्भक-गरुत्वलक्षण। तुज संपूर्ण सांगेन॥ ५७॥

न मे मानावमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम्। आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत्॥ ३॥

बाल माझें तुझें न म्हणे। उंच नीच कांहीं नेणे। यालागीं मानापमान तेणें। सुखें साहणें सर्वथा॥ ५८॥ तिमासांचेनि बाळकें। मानु कोण हें नोळखे। अपमानु तोही न देखे। आपुलेनि सुखें क्रीडत॥ ५९॥ दुजेपणातें नातळे। बालक आपुलियाचि लीळें। आपआपणियाशींच खेळें। आपुलेनि मेळें आपण॥ ६०॥ देहगेहांची चिंता। बाळासी नातळे सर्वथा। स्वभावेंचि निश्चिंतता। चिंताकथा त्या नाहीं॥ ६१॥ न देखतां दुजी स्थिती। बाळका आपुली आपणिया प्रीती। आपुली आपणिया अतिरती। तैसी गती योगिया॥ ६२॥ योगियासी प्रपंचाचें भान। सत्यत्वें नाहीं जाण। यालागीं मानापमान। दोन्ही समान तयासी॥ ६३॥ चित्रींचेनि सापें खादला। तो चित्रींचेनि अमृतें वांचला। तेवीं जिण्या मरण्या मुकला। निश्चळ ठेला निर्द्वंद्वें॥ ६४॥ गृहदारापुत्रचिंता। हे समूळ मिथ्या वार्ता। स्वदेहो सत्यत्वें असता। तरी करूं लाहता चिंतेतें॥ ६५॥ भवमूळ कल्पना जाण। ते कल्पना मनाआधीन। तें मन स्वरूपीं जाहलिया लीन। तेव्हां वस्तु-चिद्घन सर्वत्र॥ ६६॥ तेणें स्वरूपानुसंधानें। सुखें क्रीडतु चिद्घनें। क्रीडा दैवयोगें करणें। देहाभिमानें विरहित॥ ६७॥ पावोनि निजसुखप्राप्ती। मनआदि इंद्रियें उपरमती। अणुभरी स्फुरेना वृत्ती। 'समाधि' बोलती या नांव॥ ६८॥ तेचि स्वरूपीं ठेवूनि मन। बाह्यस्फूर्तीचें स्फुरे भान। ते दशा गा 'व्युत्थान'। साधुजन बोलती॥ ६९॥ उंबऱ्यावरी ठेविला दिवा। तो जेवीं देखे दोंही सवा। तैसी व्युत्थानदशा जीवभावा। उभय स्वभावा देखणी॥ ७०॥ लवण-जळा समरसता। तेवीं स्वरूपीं विरवूनि चित्ता। समाधिव्युत्थाना हाणी लाथा। निजीं निजस्वरूपता पावोनि॥ ७१॥ त्यासी कोणाचा मानापमान। गृहपुत्रचिंता करी कोण। स्वरूपीं हारपलें मन। निजसमाधान पावला॥ ७२॥ मनेंवीण जें विहरण। तें बालकाच्या ऐसें जाण। दैवयोगें चलनवलन। वृत्तिशून्य वर्तत॥ ७३॥

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ। यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः॥ ४॥

थोर चिंतेचा आवर्त। जेथ ब्रह्मादिक बुडत। ते आवर्तीं दोघे मुक्त। परीस निश्चित यदुवीरा॥ ७४॥ दोघां नाहीं द्वैतभान। दोघे नेणती मानापमान। दोघे सुखें सुखसंपन्न। दोघे मनेंवीण वर्तती॥ ७५॥ एकासी पुढे भेटेल दुःख। दुजेनि जिंतिलें सुखदुःख। एकासी मुग्धतेचें सुख। दुज्या देख निजज्ञान॥ ७६॥ पाहतां बाळकाचे ठायीं। गुप्तवासना असे देहीं। ते अंकुरीजोनि पाही। अवश्य अपायीं घालील॥ ७७॥ तैसा नव्हे योगिया गुणातीत। जो पूर्णानंदें पूर्णभरित। त्यासी सुखदुःखाची मात। नाहीं जगांत सर्वथा॥ ७८॥ देहीं दिसे जीव वर्तत। तो केवीं झाला गुणातीत। ऐसे म्हणसी तो वृत्तांत। ऐक साद्यंत सांगेन॥ ७९॥ साधकें सेवूनि साधुजन। वाढविला सत्त्वगुण। वाढलेनि सत्त्वें जाण। ज्ञानसाधन साधिलें॥ ८०॥ साधिलेनि ज्ञानसाधनें। छेदी रजतमांचीं विंदानें। जें मोहममतेचीं दारुणें। उभय भोगजन्यें कर्मठां॥ ८१॥ एवं वाढलेनि

सत्त्वोत्तमें। निर्दळलीं रजतमें। सत्त्व एकलेपणें निमे। स्वयें उपशमें तें जाणा॥ ८२॥ जंव जंव काष्ठसंभार असे। तंव तंव अग्नि जाळी उल्हासें। सरलेनि काष्ठलेशें। अग्नि प्रवेशे निजतेजां॥ ८३॥ ऐसी जिणोनि गुणावस्था। योगी पावला गुणातीतता। त्यासी न बाधी भवव्यथा। प्रलयकल्पता झालिया॥ ८४॥ ज्या सुखासी नाहीं अंत। तें सुख स्वरूपें झालें प्राप्त। ते देहीं वर्ततां देहातीत। चिंताआवर्त त्यां नाहीं॥ ८५॥ एकाकी जाहल्यावीण तत्त्वतां। ते अवस्था न चढे हाता। येचिविशीं नृपनाथा। 'कुमारी' गुरुकथा सांगेन॥ ८६॥

क्वचित्कुमारी त्वात्मानं वृणानान्गृहमागतान्। स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु॥ ५॥

कोणी एके कुमारीसी। घरीं राखण ठेवूनि तिसी। पिता माता स्वगोत्रेसीं। गेली यात्रेसी कुळदेवा॥ ८७॥ ते कुमारीचें विवाहलग्न। पूर्वी नेमिलें होतें जाण। त्या निश्चयालागीं ब्राह्मण। घरा संपन्न पैं आले॥ ८८॥ पुसती घरीं आहे कोण। लाजे नोवरी धरी मौन। त्यांसी न देतां दर्शन। पूजाविधान ते मांडी॥ ८९॥ वातायनद्वारा आसनें। दिघलीं समस्तांकारणें। गंधाक्षता सुमनें पानें। दिधले मौनें उपचार॥ ९०॥ देखोनि पूजेचें विधान। जाणों सरले ते ब्राह्मण। घरीं नोवरीचि आहे जाण। हें चतुरलक्षण तियेचें॥ ९१॥ त्यांच्या पाहुणेराची चिंता। उशिरां येईल माझी माता। ते काळीं साळीं सडितां। विलंबु सर्वथा होईल॥ ९२॥

तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव। अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत्॥ ६॥

ऐसें विचारूनि जाण। साळी कांडूं रिघे आपण। ते कंडणकाळींचें विंदान। चतुरलक्षण परियेसीं॥ ९३॥ घावो घालितां कांडणा। उठी झणत्कार करकंकणा। तेणें नादें लाजोनि जाणा। विचारु मनामाजीं करी॥ ९४॥

सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः। बभञ्जैकैकशः शङ्खान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत्॥ ७॥

या शंखवलयांचा ध्वनि। पडेल पाहुण्यांचें कानीं। ते अत्यंत लाज मजलागुनि। नववधु कांडणीं बैसली॥ ९५॥ त्यांच्या कानीं ध्वनि न पडे। कांडण तरी चाले पुढे। ऐसें विचारोनि रोकडें। कंकणाकडे पाहिलें॥ ९६॥ पाहतां दिसे ते अबला। विचार वृद्धाहोनि आगळा। करीचा कंकणखळाळा। युक्तीं वेल्हाळा विभागी॥ ९७॥ जरी कंकण फोडूं आतां। तरी ते मुहूर्तींच अशुभता। शतायु हो माझा भर्ता। न फोडी सर्वथा या हेतु॥ ९८॥ अति बुद्धिमंत ते कुमारी। हळूचि कंकणें उतरी। ते ठेवी जतनेवरी। राखे दों करीं दोनी॥ ९९॥ दोनी कंकणें उरवूनी। कांडूं बैसली कांडणीं। दोंहीमाजीं उठे ध्वनी। ऐकोनि कानीं लाजिली॥ १००॥

उभयोरप्यभूद् घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स्म शङ्खयोः। तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद् ध्वनिः॥ ८॥

म्हणे दोघांचा संगु एके स्थानीं। तेथें सर्वथा न राहे ध्वनी। दोंतील एक वेगळें काढोनी। बसे कांडणीं कुमारी॥ १॥ एकपणीं कांडितां। ध्वनि नुठेचि तत्त्वतां। तो उपदेशु नृपनाथा। झालों शिकता मी तेथ॥ २॥

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम। लोकाननुचरन्नेतान्लोकतत्त्वविवित्सया॥ ९॥

जिणोनि प्रतिस्पर्धी भूपाळ। किंकर केले राजे सकळ। तूं अरिमर्दन सबळ। मिथ्या केवळ तो गर्व॥ ३॥ कामक्रोधादि अरिवर्ग। न जिणतां सकळ साङ्ग। 'अरिमर्दन' हा बोल व्यंग। होईल चांग ये अर्थी॥ ४॥ कामादिक सहा वैरी। येणें उपदेशशस्त्रधारीं। जिणोनि घालितां तोडरीं। मग संसारीं अरि नाहीं॥ ५॥ लोकांवेगळा अवधूतु। म्हणसी कुमारी ते घराआंतु। तो एकांतींचा

वृत्तांतु। कैसेनि प्राप्तु तुज झाला॥ ६॥ राहोनियां विजनस्थानीं। विश्वासोनि गुरुवचनीं। दृढ बैसोनि आसनीं। निजतत्त्व ध्यानीं आकळिलें॥ ७॥ त्याचि तत्त्वनिश्चयालागुनी। मी विचरतसें ये मेदिनी। निजात्मभावो जनीं वनीं। दृढ करोनि पाहतसें॥ ८॥ होतां दृश्येंसीं भेटी। दृश्य दृश्यत्वें न पडे मिठी द्रष्टेपणही घालोनि पोटीं। ऐशिया दृष्टीं विचरत॥ ९॥ अंगीकारितां गुरुत्वगुण। देखतां जगाचें दर्शन। मज होतसे चैतन्यभान। ऐसेन जाण मी विचरत॥ ११०॥ ऐशिया निजदृष्टीं वीरा। मज विचरतां चराचरा। अवचटें कुमारीमंदिरा। त्याचि अवसरा मी आलों॥ ११॥ करितां कंकणविवंचना। निजस्वार्थाचिया खुणा। पाहोनि घेतलें ज्या लक्षणा। ते विचक्षणा परियेसीं॥ १२॥

वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि। एक एव चरेत्तस्मात्कुमार्या इव कङ्कणः॥ १०॥

जेथ होय बहुतांची वस्ती। तेथ अनिवार कलहप्राप्ती। दोघे बैसल्या एकांतीं। वार्ता करिती बहुविधा॥ १३॥ जेथें गोष्टीखालीं काळु जाये। तेथें निजस्वार्थु हों न लाहे। यालागीं मी पाहें। विचरत आहें एकाकी॥ १४॥ एकाकी एकाग्रता। साधिल्या थोर लाभु ये हाता। येचविषयीं शरकर्ता। गुरु तत्त्वतां म्यां केला॥ १५॥

मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः। वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः॥ ११॥

वैराग्येंवीण अभ्यासु घडे। तेथ विषयचोर उठती गाढे। कामाचा घाला पडे। मुद्दल बुडे निजज्ञान॥ १६॥ विवेकदीप करूनि धुरे। निरसी अज्ञानाचें अंधारें। वैराग्याचें बळ पुरें। महामुद्रेचेनि योगें॥ १७॥ प्राणापानाची चुकामुकी। झाली होती बहुकाळ कीं। ते अभ्यासबळें एकाएकीं। केली वोळखी दोघांसी॥ १८॥ वोळाखीसवेंचि जाण। पावली जुनाट पहिली खूण। दोघां पडिलें आलिंगन। समाधान समसाम्यें॥ १९॥ दृढ बैसोनि आसनीं। ऐशी प्राणापान मिळणी। करूनि लाविली निशाणी। ब्रह्मस्थानीं रिघावया॥ १२०॥ ब्रह्मगिरीचिया कडा। शमदमें घालोनियां वेढा। प्रत्याहाराचा झगडा। पुढिले कडां लाविला॥ २१॥ प्राणापानांच्या विवरीं। पहिली ओळखी होती खरी। माळ लाविली अभेदकरीं। मन एकाग्रीं राखोनि॥ २२॥ एकाग्रतेचेनि कल्लोळें। पुढारें न ढळवे चालिले बळें। उल्हाटयंत्राचेनि मेळें। षट्चक्रपाळें भेदिलें॥ २३॥ वैराग्याचीं वज्रकवचें। निधडे वीर लेऊनि साचे। एकाग्रताबळें बळाचें। झळके ध्यानाचें करीं खड्ग॥ २४॥ नवल खड्गाचा वाहो। लहान थोर निवटी पहा हो। संमुख आलिया संदेहो। न लगतां घावो छेदित॥ २५॥ निर्दाळूनि आळसासी। दासी केलें निद्रेसी। ऐसें सावधान अहर्निशीं। योगदुर्गासी झोंबती॥ २६॥ रणरंगींचे वीर गाढे। निजबळें चालिले पुढें। सत्रावीचें पाणीयाडें। जिंतिलें रोकडें महावीरीं॥ २७॥ तेथ युद्ध झालें चांग। कामादिक अरिषड्वर्ग। रणीं पाडिले अमोघ। सतेज खड्ग झळकत॥ २८॥ ऐसे वैरी पाडूनि रणीं। ग्राशिलें सत्रावीचें पाणी। तंव अनुहताची सुडावणी। दुर्गामधोनि ऊठली॥ २९॥ तेथ सोहंवीराची एकाग्रता। होतां भीतरील भेदु आला हाता। दुर्गराखती अहंममता। मरों सर्वथा टेंकली॥ १३०॥

यस्मिन्मनो लब्धपदं यदैतच्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून्।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम्॥ १२॥

कामक्रोधादि महाशूर। पुत्र रणीं पडले थोर। तेणें दुःखें अतिजर्जर। मरणतत्पर दिसताति॥ ३१॥ ऐसी ऐकोनि दुर्गाची वार्ता। उल्हासु वीरांचिया चित्ता। उठावा दीधला मागुता। दुर्ग सर्वथा

ध्यावया॥ ३२॥ निजधैर्ये वीर अदट। निजसत्त्वें अतिउद्‌भट। पुढें निर्धारितां वाट। थोर अचाट देखिलें॥ ३३॥ कर्मरेणूंचे दुर्धर घाट। विधिवादें अवघड वाट। हळूहळू उल्लंघितां अचाट। समूळ सपाट तो केला॥ ३४॥ पुढां रजतमाचें आगड। खोलपणें अत्यंत गूढ। घालूनि निवृत्तीचे दगड। सत्त्वें सुदृढ बूजिलें॥ ३५॥ सांचलू नव्हतां बाहेरी। जिणोनि मनकर्णिकावोवरी। माळ* न चढविली ब्रह्मगिरी। ब्रह्मरंध्रीं उसळले॥ ३६॥ तेथ चैताची एक घायी। अनुहत निशाण लागलें पाहीं। शोधितां पारखें कोणी नाहीं। केलें ठायीं स्ववश॥ ३७॥ तेथ रजतमाच्या वाटा। सहजें झाल्या सपाटा। हरिखें रामराज्याचा चोहटा। धेंडे दारवंटा पीटिले॥ ३८॥ पारिखें कोणी न पडे दृष्टी। ध्यानखड्गाची सोडिली मुष्टी। वैराग्यकवचाचिया गांठी। समदृष्टीं सोडिल्या॥ ३९॥ ध्येय ध्यान ध्याता। त्रिपुटी न दिसे पाहतां। ध्यानखड्ग तत्त्वतां। न धरी सर्वथा या हेतू॥ १४०॥ दारुण युद्धसामग्री। सत्त्वें केली होती भारी। ते साधने सांडिलीं दुरी। कोणी वैरी असेना॥ ४१॥ तन्मयतेचें छत्र धरूनी। समसाम्यसिंहासनीं। बैसला सहज समाधानी। त्यागी वोंवाळुनी जीवभावो॥ ४२॥ शोधित वाढला सत्त्वगुण। तेणें सर्वस्वें केलें निंबलोण। पायां लागोनि आपण। स्वयें जाण उपरमला॥ ४३॥ जैसा अग्नि असे काष्ठांच्या मेळीं। मंथिल्या काष्ठाची करी होळी। काष्ठ नाशूनि तत्काळीं। त्यजूनि इंगळीं उपशमे॥ ४४॥ तैसें वाढोनि सत्त्व उत्तम। नाशूनि सांडी रजतम। पाठीं सत्त्वाचाही संभ्रम। स्वयें उपरम पावला॥ ४५॥ तेथें निमालें जीवाचें जीवपण। ज्ञातृत्वेंसीं निमालें ज्ञान। निमालें प्रपंचाचें भान। चिन्मात्र पूर्ण कोंदलें॥ ४६॥

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो न वेद किञ्चिद्‌बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्तमिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे॥ १३॥

ऐसी चिन्मात्र परिपूर्णता। तेथ निरोधूनि आणितां चित्ता। चित्ता पावे चैतन्यता। जाण सर्वथा नरवीरा॥ ४७॥ तेव्हां अंतरीं चैतन्यघन। बाह्य चिन्मात्र परिपूर्ण। आणिक न दिसे गा जाण। वृत्तीनें आण वाहिली॥ ४८॥ पाहतां ध्येय ध्याता ध्यान। जेथ उल्हासें विगुंतलें मन। ते 'संप्रज्ञातसमाधी' जाण। गुणेंवीण भोगिती॥ ४९॥ तेथ निःशेष समरसे मन। झाला सुखरूप चिद्‌घन। ते समाधी परम कारण। विचक्षण बोलती॥ १५०॥ ब्रह्म इंद्रियां गोचर नसे। गुण गेलिया डोळां दिसे। हे अनुभव्यासीचि भासे। बोलावें ऐसें तें नव्हे॥ ५१॥ येथ शास्त्रें विषम झालीं वादें। 'नेति नेति' म्हणितलें वेदें। थोटावलीं योगिवृंदें। अनुभवी निजबोधें जाणती॥ ५२॥ तेथ हेतु-मातु-दृष्टांतु। समूळ बुडाला समस्तु। अद्वैतवादाची मातु। ज्या ठायांतु लाजिली॥ ५३॥ सबाह्य समदर्शन। हे अनुभवाची निर्वाणखूण। 'शरकार' गुरु केला जाण। हेंचि लक्षण लक्षूनि॥ ५४॥ तावूनि उजू करितां बाण। दृढ लागलें अनुसंधान। इतुकेन प्रपंचाचें भान। खुंटलें जाण तयाचें॥ ५५॥ निशाण भेरी वाजंतरें। रथ गज सैन्य संभारें। राजा गेला अतिगजरें। नेणिजे शरकारें शरदृष्टीं॥ ५६॥ मागूनि रायाचा हडपी आला। तो पुसे ये मार्गीं राजा गेला। येरू म्हणे नाहीं देखिला। गेला कीं न गेला कोण जाणे॥ ५७॥ तो शरकारू देखिला दृष्टीं। हे ऐकोनि तयाची गोष्टी। जगीं एकाग्रता मोठी। प्रपंच दृष्टीं येवों नेदी॥ ५८॥ हेंचि साधावया साधन। गृहारंभेंवीण एकपण। 'सर्प' गुरु केला जाण। हेंचि लक्षण देखोनि॥ ५९॥

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः। अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः॥ १४॥

---

* 'माळ' (चढविणें) म्ह० किल्ला चढून जावयाच्या उपयोगाकरितां केलेली 'दोराची शिडी' लावणें (म. श. को.)

सर्प सांघातु न साहे। एकाकी सुखें विचरत जाये। सदा सावधान राहे। श्वासु वाये जावों नेदी॥ १६०॥ तैसीच योगियाची गती। न साहे द्वैताची संगती। एकाकी वसे एकांतीं। जनाप्रती अलक्ष्य॥ ६१॥ विषमाचा संगु न करी। परी समाचाही संगु न धरी। निघे देह संगाबाहेरी। त्वचेचे परी सर्पाचे॥ ६२॥ सदा सावधानबुद्धी। लवनिमेष वायां जावों नेदी। अनुसंधान त्रिशुद्धी। तुटों नेदी सर्वथा॥ ६३॥ सर्प बिळामाजीं रिघें बळें। मार्गीं मागू देखती सकळें। धाला भुकेला हें त्यां न कळे। गेला कळे सर्वांसी॥ ६४॥ तैसाचि योगियाही योगबळें। न राहे जनांमाजीं जनमेळें। गुहेमाजीं पडिला लोळे। एकला खेळे एकपणीं॥ ६५॥ हो का योगियांचा आचार। करितां देखती लहान थोर। सविकल्पनिर्विकल्प विचार। न कळे साचार कोणासी॥ ६६॥ एक म्हणती कर्मठ। एक म्हणती कर्मभ्रष्ट। एक म्हणती आत्मनिष्ठ। कळेना स्पष्ट कोणासी॥ ६७॥ सर्पास बोलणेंचि नाहीं। बोले तरी अल्प कांहीं। तैसाच योगिया पाहीं। वाग्वादीं नाहीं सादर॥ ६८॥ आंतुले कृपेचेनि बळें। बोले मृदु मंजुळ कोंवळें। श्रवणासी दोंदें एकवेळे। तेणें वचनमेळें निघालीं॥ ६९॥ बोलणें तरी अतिअल्प। परी छेदी संकल्पविकल्प। त्याच्या बोलाचें स्वरूप। सत्यसंकल्प जाणती॥ १७०॥ जो एकाकी उदास। ज्याचें परमार्थीं मानस। तेणें गृहारंभाची आस। वृथा प्रयास न करावे॥ ७१॥

गृहारम्भोऽतिदुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः। सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते॥ १५॥

मूळीं गृहारंभ तें दुःख। कष्ट करितां दुःखकारक। निपजविलें त्रिमाळिक। तें अध्रुव देख सर्वथा॥ ७२॥ जेथें संसारचि नाशवंत। देह प्रत्यक्षाकारें असंत। तेथींचें गृह काय शाश्वत। मूर्ख मानित सत्यत्वें॥ ७३॥ जें गर्भींच निमालें। तें उपजतां जातक केलें। मृताचें जन्मनांव ठेविलें। तैसें गृह केलें असंत॥ ७४॥ तोही असंतु आरंभ कुडा। मृत्तिकेसाठीं लावी झगडा। भांडवी दगडासाठीं कां लांकुडा। सुहृदभिडा सांडोनि॥ ७५॥ वोळंबा घर करी सायासें। त्यामाजीं सर्प राहे सावकाशें। न शिणतां अप्रयासें। परघरवासें संतुष्ट॥ ७६॥ तैसाचि योगियाही जाण। न धरी देहगेह अभिमान। परगृहीं वसे निरभिमान। सुखसंपन्न सर्वदा॥ ७७॥ एकही गृह न करावें। हें सत्य मानिलें जीवें। एवढी सृष्टि केली देवें। बाधुं न पवे त्या केवीं॥ ७८॥ सृष्टि रचिली कैसेनी। निपजली कोणापासूनी। येचि अर्थी गुरु कांतिणी। लक्षण लक्षुनी म्यां केली॥ ७९॥

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया। संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः॥ १६॥

नरांचे आश्रयस्थान। यालागीं बोलिजे 'नारायण'। जीवाचें तोचि जीवन। स्वामी नारायण सर्वांचा॥ १८०॥ ऐसा एक नारायण। तेणें पूर्वी जग सृजिलें जाण। उपकरणसामग्रीवीण। केलें निर्माण जगाचें॥ ८१॥ एकलेनि सामग्रीवीण। केवीं केलें जग संपूर्ण। स्वमायाक्षोभवूनि जाण। करी निर्माण जगाचें॥ ८२॥ ते निजमायेच्या पोटीं। असंख्य जीवसामग्रीच्या कोटी। ते माया अवलोकिली दृष्टीं। तोचि उठाउठी निजकाळु॥ ८३॥ ऐसी निजमाया अवलोकिली। ते निजांगावरी नांदविली। परी अंगीं लागों नाहीं दिधली। हे अलिप्तता केली तो जाणे॥ ८४॥ धुई दाटली आकाशीं। आकाश नातळे धुईसी। तैसी निजांगे वाढवूनि मायेसी। अलिप्त तियेसी वर्ततु॥ ८५॥ उदकें कमळिणी वाढविली। ते जळ आवरी निजदळीं। तैसी माया आनंद आकळी। चित्सत्ता मोकळी सदंशेंसीं॥ ८६॥ स्वमायेसी जो अधिष्ठान। मायेसी नांदावया तोचि भुवन। एवं मायानियंता नारायण। सत्य जाण सर्वथा॥ ८७॥ रजोगुण सृजी सृष्टीसी। सत्त्वगुण प्रतिपाळी तिसी। कल्पांतीं क्षोभवोनि तमोगुणासी। काळरूपेंसीं संहारी॥ ८८॥ हे मायेची क्षोभक शक्ती।

असे नारायणाचे हातीं। यालागीं संहारिता अंतीं। ईश्वरु म्हणती या हेतू॥ ८९॥

एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रय:। कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु।
सत्त्वादिष्वादिपुरुष: प्रधानपुरुषेश्वर:॥ १७॥

परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञित:। केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिक:॥ १८॥

एवं संहारोनि कार्यकारण। एक अद्वितीय नारायण। एकापणें परिपूर्ण। गुणागुण निरसोनि॥ १९०॥ एकला एकु नारायण। हेंही तेथ म्हणे कोण। हें अद्वितीय लक्षण। भेदशून्य अवस्था॥ ९१॥ 'विजातीयभेद' ते ठायीं। नसे 'सजातीयभेद' कांहीं। 'स्वगतभेदु' तोही नाहीं। भेदशून्य पाहीं ये रीतीं॥ ९२॥ ऐसा अभेदु जो साचारु। तोचि प्रकृतिपुरुषांचा ईश्वरु। नियंता तो परावरु। तोहि निर्धारु परियेसीं॥ ९३॥ प्रकृति पुरुष हे दोन्ही। कल्पिलीं जेणें अमन-मनीं। तो ईश्वर होय भरंवसेनी। त्याचे सामर्थ्येंकरूनि वर्तती॥ ९४॥ प्रकृतीतें चेतविती सत्ता। तेचि याची पुरुषता। यालागीं प्रकृतीचा भर्ता। होय सर्वथा हाचि एकु॥ ९५॥ 'पर' जे अज-प्रमुख। 'अवर' मनुमुख्य स्थावरांतक। यांचा नियंता तो देख। सर्वचाळक सर्वांचा॥ ९६॥ ज्याचे आज्ञेवरी पाहें। सैरा वायु जाऊं न लाहे। समुद्र वेळेमाजीं राहे। सूर्य वाहे दिनमान॥ ९७॥ ज्याची आज्ञा करूनि प्रमाण। बारा अंगुळें विचरे प्राण। परता जाऊं न शके जाण। आज्ञेभेणें सर्वथा॥ ९८॥ आज्ञा जाणोनि धडफुडी। मेरु बैसका न सोडी। चेतना आज्ञा करी गाढी। अचेतन कुडी चेतवी॥ ९९॥ तो स्वयें तंव निराधार। परी झाला विश्वासी आधार। जेवीं सर्पाभासा दोर। दिसे साचार आश्रयो॥ २००॥ सत्त्वादिका ज्या गुणशक्ती। आवरूनि निजकाळगती। समत्वा आणिल्या स्थिती। निजप्रकृतीमाझारीं॥ १॥ तेहि प्रकृती उपरमोनी। राहिलो असे निर्गुणस्थानीं। जेवीं वट बीजीं सामावोनी। केवळपणीं राहिला॥ २॥ तैसा उपाधि गिळूनि सकळ। निरुपाधिक केवळ। जेवीं काढिलिया मंदराचळ। राहे निश्चळ क्षीराब्धी॥ ३॥ नाना अलंकार ठसे। घातलिया जेवीं मुसे। पूर्वरूप सोनें जैसें। होय तैसें केवळ॥ ४॥ नाना नक्षत्रावलोकु। निजतेजें लोपी अर्कु। तैसा उपाधि गिळूनि एकु। निरुपाधिकु उरलासे॥ ५॥ हो कां ग्रीष्माच्या अंतीं। बीजें लीन होतीं क्षितीं। तैशी लीन होऊनि प्रकृति। केवळ सुखमूर्ती उरलासे॥ ६॥ ऐसा निरुपाधिक केवळ। सुखस्वरूपानंदकल्लोळ। चिन्मात्रतेजें बहळ। नित्यनिर्मळ सदंशें॥ ७॥ तेणें ज्ञानस्वरूपें अनंतें। सृजनकाळ अवस्थेतें। सृजिता झाला सृष्टीतें। तेंही निरुतें अवधारीं॥ ८॥

केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम्। संक्षोभयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम॥ १९॥
तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम्। यस्मिन्प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान्॥ २०॥

तेणें निजात्मकाळसत्तें। अवलोकिलें निजमायेतें। ते क्षोभोनियां तेथें। निजसूत्रातें उपजवी॥ ९॥ तेचि बोलिली 'क्रियाशक्ती'। करिती झाली त्रिगुणव्यक्ती। अहंकारद्वारा सृजीति। जगउत्पत्तीतें मूळ॥ २१०॥ तेथें गुणागुणविभाग। सुर नर आणि पन्नग। अध ऊर्ध्व मध्यभाग। रचिलें जग तत्काल॥ ११॥ ब्रह्मांडीं सूत्र जाण। पिंडू वर्तवी प्राण। पिंडब्रह्मांडविंदान। कर्त्री जाण 'क्रियाशक्ति'॥ १२॥ जीव करावया संसारी। षड्विकार वाढवी शरीरीं। षडूर्मी त्यामाझारीं। जीव संसारीं संचरवी॥ १३॥ एवढी संसारउत्पत्ती। करावया इची व्युत्पत्ती। यालागीं नांवें 'क्रियाशक्ती'। सांख्यसंमतीं बोलिजे॥ १४॥ या क्रियाशक्तिसूत्राचे ठायीं। जग ओतिलें असे पाहीं। आडवेतिडवे ठायींचे ठायीं। गोंवून लवलाहीं वाढत॥ १५॥ दृढबंध देहाभिमाना। देऊन

संसारी करी जना। उपजवी अनिवार वासना। योनीं नाना जन्मवी॥ १६॥ पित्याचेनि रेतमेळें। रजस्वलेचेनि रुधिरबळें। उकडतां जठराग्निज्वाळें। बहुकाळे गोठलें॥ १७॥ तेथ निघाले अवयवांकुर। करचरणादिक लहान थोर। देह झाला जी साकार। तरी अपार यातना॥ १८॥ जठरीं गर्भाची उकडतां उंडी। नाना दुःखांची होय पेंडी। रिघे विष्ठा कृमी नाकींतोंडी। तेणें मस्तक झाडी पुरे पुरे॥ १९॥ थोर गर्भींची वेदना। आठवितां थरकांपु मना। भगद्वारें जन्म जाणा। परम यातना जीवासी॥ २२०॥ ऐसें जन्मवूनि जनीं। घाली स्वर्गाच्या बंदीखानीं। कां पचती अधःपतनीं। देहाभिमानेंकरूनियां॥ २१॥ ऐसी सुखदुःखांची कडी। घालोनि त्रिगुणीं दृढ बेडी। भोगवी दुःखांच्या कोडी। तरी न सोडी अविद्या॥ २२॥ हा थोर मायेचा खटाटोपु। राया तुज नाहीं भयकंपु। तुवां दृढ धरोनि अनुतापु। अभिमानदर्पु छेदिला॥ २३॥ तुझी पालटली दिसे स्थिती। हृदयीं प्रगटली चिच्छक्ती। मावळली अविद्येची राती। बोधगभस्ति उगवला॥ २४॥ जेथ छेदिला अभिमान। तेथें कामादि वैरी निमाले जाण। जेवीं शिर छेदिल्या करचरण। सहजें जाण निमाले॥ २५॥ यापरी तूं 'अरिमर्दन'। बोलिलों तें सत्य जाण। ऐकोनि अवधूतवचन। सुखसंपन्न नृप झाला॥ २६॥ म्हणे धन्य धन्य मी सनाथ। मस्तकीं ठेविला हस्त। प्रेमें वोसंडला अवधूत। हृदयीं हृदयांत आलिंगी॥ २७॥ दोघां निजात्मबोधें जाहली भेटी। यालागीं खेवा पडली मिठी। तेणें आनंदें वोसंडे सृष्टी। सभाग्यां भेटी सद्गुरूसी॥ २८॥ बालका कीजेति सोहळे। तेणें निवती जननीचे डोळे। शिष्यासी निजबोधु आकळे। ते सुखसोहळे सद्गुरूसी॥ २९॥ करितां दोघांसी संवादु। वोसंडला परमानंदु। पुढील कथेचा संवादु। अतिविशदु सांगत॥ २३०॥

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः। तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः॥ २१॥

'ऊर्णनाभि' म्हणजे कांतिणी। हृदयतंतु मुखेंकरूनी। विस्तारी बाहेर काढूनी। निजगुणीं स्वभावे॥ ३१॥ त्या विस्तारिल्या तंतूंवरी। तळीं आणि उपरी। आपणचि क्रीडा करी। नानापरी स्वलीला॥ ३२॥ तंतुविस्तारें खेळती लीला। प्रत्यक्ष देखतांचि डोळां। ग्रासूनि ने हृदयकमळा। अद्वैतकळा दाखवी॥ ३३॥ याचि रीतीं सर्वेश्वरु। एकला रची संसारु। अंतीं करूनि संहारु। उरे निर्विकारु निजात्मा॥ ३४॥ या लक्षणाचा निर्धारु। धरूनि ऊर्णनाभी केला गुरु। आतां सारूप्यतेचा विचारु। पेशस्कारु गुरु म्यां केला॥ ३५॥

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया। स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद्वापि याति तत्तत्सरूपताम्॥ २२॥

काया वाचा आणि मन। पुरुषें एकाग्र करून। जे जे वस्तूचें करी ध्यान। तद्रूप जाण तो होय॥ ३६॥ स्नेहें द्वेषें अथवा भयें। दृढ ध्यान जेणें होय। तेणेंचि तद्रूपता लाहे। उभवूनि बाहे सांगतु॥ ३७॥ देह गेलिया तद्रूपता। होईल हें वचन वृथा। येणेंचि देहें येथ असतां। तद्रूपता पाविजे॥ ३८॥

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः। याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसंत्यजन्॥ २३॥

भिंगुरटी कीटकीतें धरी। कोंडी भिंतीमाजिले घरीं। ते मरणभयें ध्यान करी। निरंतरीं भ्रमरीचें॥ ३९॥ तेणें तीव्रध्यानें ती कीटी। होऊनि ठाके भिंगुरटी। गगनीं चढे उठाउठी। प्रत्यक्ष दृष्टीं देखिजे॥ २४०॥ भिंगुरटी जड असंत। मूढ कीटी तिचें ध्यान करीत। तेणें तद्रूपता प्राप्त। तैसा भगवंत तंव नव्हे॥ ४१॥ तो अजड चिद्रूप सुखदाता। ज्ञाता अधिकारी ध्यान करिता। तेथ तद्रूपता पावतां। विलंबू सर्वथा पैं नाहीं॥ ४२॥ कीटकीस भ्रमरत्व जोडे। हें 'तीव्रध्यानें' न घडतें घडे।

विचारितां दोन्ही मूढें। जड जडें वेधिलें॥ ४३॥ भगवद्ध्यान नव्हे तैसें। ध्याता भगवद्रूपचि असे। ध्याने भ्रममात्र नासे। अनायासें तद्रूप॥ ४४॥ येणें देहें याचि वृत्तीं। आपुली आपण न जाणे मुक्ती। नेघवे भगवत्पदप्राप्ती। तैं वृथा व्युत्पत्ती नरदेहीं॥ ४५॥ वृथा त्याचें ज्ञान ध्यान। वृथा त्याचें यजन याजन। वृथा त्याचें धर्माचरण। चैतन्यघन जरी नोहे॥ ४६॥

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः। स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो॥ २४॥

अवधूत म्हणे यदूसी। इतुकिया गुरूंपाशीं। मी शिकलों जें जें मतीशीं। तें तुजपाशीं सांगितलें॥ ४७॥ निजबुद्धीचिया व्युत्पत्ती। कांहींएक शिकलों युक्ती। तेंही सांगेन तुजप्रती। अनन्यप्रीती-स्वभावे॥ ४८॥ चोवीस गुरूंचाही गुरु। विवेकवैराग्यविचारु। हा नरदेहीं लाधे सथरु। यालागीं मुख्य गुरु नरदेहो॥ ४९॥

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतुर्बिभर्त्ति स्म सत्त्वनिधनं सततात्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः॥ २५॥

देहासी जें गुरुत्व जाणा। तें दों प्रकारीं विचक्षणा। सांगेन त्याच्या लक्षणा। संरक्षणा परमार्था॥ २५०॥ देहाऐसें वोखटें। पृथ्वीमाजीं नाहीं कोठें। देहाऐसें गोमटें। पाहतां न भेटे त्रिलोकीं॥ ५१॥ वोखटें म्हणोनि त्यागावें। तैं मोक्षसुखासी नागवावें। हो कां गोमटें म्हणोनि भोगावें। तैं अवश्य जावें नरकासी॥ ५२॥ तरी हें त्यागावें ना भोगावें। मध्यभागें विभागावें। आत्मसाधनीं राखावें। निजस्वभावें हितालागीं॥ ५३॥ जैसें भाडियाचें घोंडें। आसक्ति सांडोनि पुढें। पेणेंवरी नेणें घडे। स्वार्थचाडेलागूनि॥ ५४॥ हेतू ठेवूनि परमार्था। गेहीं वस्तीकरू जेवीं उखिता। देहआसक्तीची कथा। बुद्धीच्या पंथा येवों नेदी॥ ५५॥ देहाची नश्वर गती। नश्वरत्वें उपजे विरक्ती। नाशवंताची आसक्ती। मुमुक्षु न करिती सर्वथा॥ ५६॥ जेणें उपजे विरक्ती। तो विवेक जाणावा निश्चितीं। एवं विवेकवैराग्यप्राप्ती। निजयुक्तीं नरदेहीं॥ ५७॥ इतर देहांच्या ठायीं। हा विचारूचि नाहीं। केवळ शिश्नोदर पाहीं। व्यवसावो देहीं करिताति॥ ५८॥ यालागीं नरदेह निधान। जेणें ब्रह्मसायुज्यीं घडे गमन। देव वांच्छिती मनुष्यपण। देवाचें स्तवन नरदेहा॥ ५९॥ म्हणसी नरदेह पावन। परी तो अत्यंत निंद्य जाण। योनिद्वारें ज्याचें जनन। पाठींच मरण लागलेंसे॥ २६०॥ जंव जन्मलेंचि नाहीं। तंव मरण लागलें पाहीं। गर्भाच्याचि ठायीं। मरणघायीं थाकती॥ ६१॥ एवं या देहासरिसा। नित्य मृत्यु लागला कैसा। पोषूनियां बालवयसा। तारुण्यासरिसा लागला॥ ६२॥ विसरोनियां आत्ममरण। तारुण्य चढलें जी दारुण। चतुर शाहणा सज्ञान। बळें संपूर्ण मी एकु॥ ६३॥ त्या तारुण्याची नवाळी। देंठ न फेडितां काळ गिळी। मग जरा जर्जरित मेळी। मरणकाळीं पातली॥ ६४॥ धवलचामरेंसीं आलें जाण। जरा मृत्यूचें प्रस्थान। मागूनि यावया आपण। वेळा निरीक्षण करीतसे॥ ६५॥ सर्वांगीं कंपायमान। तो आला मृत्युव्यजन। मान कांपे तो जाण। डोल्हारा पूर्ण मृत्यूचा॥ ६६॥ दांत पाडूनि सपाट। काळें मोकळी केली वाट। मृत्युसेनेचा घडघडाट। वेगीं उद्भट रिघावया॥ ६७॥ पाठी झाली दुणी। तेचि मृत्यूची निशाणी। दोनी कानीं खिळे देउनी। सुबद्ध करूनि बांधिली॥ ६८॥ येतिया मृत्यूसी पुढारें। नयनतेज धांवे सामोरें। मग न्याहाळतीना अक्षरें। अंजनोपचारें शिणतांही॥ ६९॥ उभळीचा उजगरा। उबगु सेजारिल्या घरा। म्हणती न मरे हा म्हातारा। बाळाची निद्रा मोडितो॥ २७०॥ देखोनि मृत्यूची धाडी। पायां वळतसे वेंगडी। जिव्हेसी चालली बोबडी। तुटल्या नाडी सर्वांगीं॥ ७१॥ मरण न येतां जाण। थोर जरेचें विटंबन। विमुख स्त्रीपुत्रजन। अतिदीन ते करी॥ ७२॥ जन्मवरी

सायासीं। प्रतिपाळिलें जयांसी। तींचि उबगलीं त्यासी। जरेनें देहासी कवळिल्या॥ ७३॥ जरा लागलिया पाठीं। कोणी नाइके त्याची गोष्टी। विटावों लागलीं धाकुटीं। कुतरीं पाठीं भुंकती॥ ७४॥ शाहणीं सांगती अबलांसी। 'बागुल' आला म्हणती वृद्धासी। निसुर पडों नेदी ढांसी। कासाविसी होतसे॥ ७५॥ 'म्हातारा हो' हा आशीर्वाद। दीधला तेहीं केलें द्वंद्व। जरेएवढें विरुद्ध। आणि द्वंद्व तें नाहीं॥ ७६॥ ऐसी जरेची जाचणी। देखोनियां तरुणपणीं। हेचि दशा मजलागूनी। हात धरूनि येईल॥ ७७॥ देहो तितुका षड्विकारी। कोटि अनर्थ एकेके विकारीं। षड्मीं लागल्या त्या भीतरी। जेवीं अग्नीवरी घृतधारा॥ ७८॥ या दुःखाचें जें मूळ। तें देहाचें आळवाळ। देहो वाढवितां दुःख प्रबळ। उत्तरफळ महादुःख॥ ७९॥ एवं देहाची जे संगती। ते निरंतर दुःखप्राप्ती। यापरी सांडावी आसक्ती। या हेतु विरक्ती देहगुरु॥ २८०॥ या देहाचेनि साधनें। अविनाश पद पावणें। याहीपरी येणें गुणें। गुरुत्व म्हणणे देहासी॥ ८१॥ देह उपकारी अपकारी। यासी गुरुत्व दोन्हीपरी। येथ विवंचूनि चतुरीं। निजहित करी तो धन्य॥ ८२॥ करितां तत्त्वविवंचन। देहाचें मूळ तें अज्ञान। निजरूपाचें अदर्शन। तेंचि भान प्रकृतीचें॥ ८३॥ प्रकृतीस्तव त्रिगुणसूत्र। त्रिगुणीं त्रिविध अहंकार। येथूनि महद्भूतविकार। इंद्रियव्यापार देहेंसीं॥ ८४॥ एवं पिंडब्रह्मांडखटाटोप। हा अवघाचि 'आरोप'। दोरु जाहला नाहीं साप। भ्रमें सर्प तो म्हणती॥ ८५॥ पाहतां देहाचें मूळ। भासे जैसें मृगजळ। भ्रमाची राणीव प्रबळ। हा आरोपचि केवळ वस्तूचे ठायीं॥ ८६॥ नसतें देह आभासे जेथें। 'आरोपु' म्हणणें घडे त्यातें। आतां सांगेन 'अपवादाते'। सावचित्ते परियेसीं॥ ८७॥ देह पांचभौतिक प्रसिद्ध। तो 'मी' म्हणणें हें अबद्ध। देहो मलिन मी शुद्ध। अतिविरुद्ध या आम्हां॥ ८८॥ पृथ्वी मी नव्हे जडत्वें। जळ मी नव्हे द्रवत्वें। तेज मी नव्हें दाहकत्वें। चंचलत्वें नव्हें वायु॥ ८९॥ नभ मी नव्हे शून्यत्वें। अहं मी नव्हें दृश्यत्वें। जीव नव्हें मी परिच्छिन्नत्वें। माया मिथ्यात्वें मी नव्हें॥ २९०॥ देह नव्हें मी नश्वरत्वें। विषय नव्हे मी बाधकत्वें। या तत्त्वां आणि मातें। संबंधू येथें असेना॥ ९१॥ 'ब्रह्माहमस्मि' अभिमान। हंसपरमहंसांसी मान्य। तें सत्त्वावस्थेचें साधन। तोही अभिमान मी नव्हें॥ ९२॥ जितुका तत्त्वांचा अनुवादु। तितुका मजवरी 'अपवादु'। हा माझा बुद्धीचा बोधु। तुज म्यां यदु सांगितला॥ ९३॥ हें माझें गुप्त ज्ञान। तुझें देखोनि अनन्यपण। केलें गा निरूपण। भावें संपूर्ण तूं भावार्थी॥ ९४॥ येरवीं करावया हे कथा। मज चाड नाहीं सर्वथा। परी बोलवीतसे तुझी आस्था। नृपनाथा सभाग्या॥ ९५॥ ऐशिया संवादाच्या मेळीं। अद्वैतबोधें पिटिली टाळी। दोघे आनंदकल्लोळीं। ब्रह्मसुकाळीं मातले॥ ९६॥ ऐसा उपकारी देखा। या देहासारिखा नाहीं सखा। म्हणसी राखावा नेटका। तंव तो पारका मुळींचि॥ ९७॥ यासी अत्यंत करितां जतन। दिसे विपरीत निदान। श्वानशृगालांचें भोजन। कां होय भक्षण अग्नीचें॥ ९८॥ या दोंही गतींवेगळें पडे। तरी सुळबुळीत होती किडे। चौथी अवस्था यासी न घडे। हें तूंही रोकडें जाणशी॥ ९९॥ यालागीं देहाची आसक्ती। मी न धरींच गा नृपती। निःसंगु विचरतसें क्षितीं। आत्मस्थितीचेनि बोधें॥ ३००॥ देहासी उपभोगसाधनें। तितुकीं जाण पां बंधनें। दृढ वासना तेणें। अनिवारपणें वाढते॥ १॥

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान् पुष्णाति यत् प्रियचिकीर्षया वितन्वन्।
स्वान्ते सकृच्छ्मवरुद्धधनः स देहः मृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मा॥ २६॥

देहभोगीं मुख्य गोडी। स्त्रीभोगाची अतिआवडी। सर्वस्व वेंचोनि जोडी। आणी रोकडी योषिता॥ २॥ स्त्री हातीं धरितां देख। वाढे प्रपंचाचें थोर दुःख। गृह पाहिजे आवश्यक। भोगार्थ

देख स्त्रियेच्या॥ ३॥ त्या गृहाचे गृहसिद्धीं। पाहिजे धनधान्यसमृद्धी। झाली प्रजांची वृद्धी। तेणें अतिआधी अनिवार॥ ४॥ त्या प्रजांचा अतिलालसु। दासदासी मेळवी पशु। थोर कष्टांचा पडे सोसु। सुखलेशु पैं नाहीं॥ ५॥ व्याही जांवयांच्या वोढी। आप्तवर्गाचिया कोडी। पडे उचिताचिया सांकडीं। सोशितां कोरडी देहाची॥ ६॥ पोसावया पोष्यांसी। रची नाना उपायराशी। हिंडे स्वदेशीं परदेशीं। अहर्निशीं व्याकुळ॥ ७॥ देहासी द्यावया सुख। शतधा वाढवी दुःख। देहाभिमानें जन मूर्ख। वृथाभिलाख वाढविती॥ ८॥ देहसुखाचिया चाडा। पडे परिग्रहाचे खोडां। दारागृहलोभें केला वेडा। न देखे पुढां निजस्वार्थु॥ ९॥ देहें वाढविली प्रीती। गृह दारा पुत्र संपत्ती। तेचि वासना होय देहांतीं। देहांतराप्रती निजबीज॥ ३१०॥ जैसा जोंधळा कणिसा चढे। कणसींचा क्षितीवरी झडे। वाढी वाढलें झाड मोडे। तें बीज गाढें उरलेंसे॥ ११॥ तेंचि बीज जलभूमीचे संगतीं। सवेंचि झाड वाढे पुढतीं। तैसी वासना उरे देहांतीं। देहांतराप्रती न्यावया॥ १२॥ त्या वृक्षाचिया परी। वासनाबीज शरीरीं। उरवूनि स्वर्गसंसारीं। योनिद्वारीं जन्मवी॥ १३॥ देहीं वासना केवीं वाढे। तेंही सांगेन तुज पुढें। विषय सेवितां वाडेंकोडें। वासना वाढे अनिवार॥ १४॥

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥ २७॥

जिव्हा रसाकडे वोढी। तृषा प्राशनालागीं तोडी। शिश्नासी रतिसुखाची गोडी। तें चरफडी रमावया॥ १५॥ त्वचा पाहे मृदुपण। उदर वांछी पूर्ण अन्न। श्रवण मागती गायन। मधुरध्वन आलापु॥ १६॥ घ्राण उद्यत परिमळा। रूप पहावया वोढी डोळा। हस्त वांछिती खेळा। नाना लीळा स्वभावें॥ १७॥ पाय वांछिती गती। ऐशीं इंद्रियें वोढा वोढिती। जेवीं एका गेहपती। बहुतां सवती तोडिती॥ १८॥ एवं इंद्रियांसी विषयासक्ती। तेणें वासना दृढ होती। त्या देहदेहांतराप्रती। पुरुषासी नेती सर्वथा॥ १९॥ यालागीं करावया विषयत्यागु। अवश्य छेदावा देहसंगु। इये अर्थीं मनुष्यदेह चांगु। ज्ञानविभागु ये देहीं॥ ३२०॥

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥ २८॥

हेचि जाणावया निजरूपातें। पूर्वीं तेणें श्रीअनंतें। निजमायेचेनि हातें। केलीं बहुतें शरीरें॥ २१॥ एकें केलीं भूचरें। एकें तें केलीं खेचरें। एकें केली जळचरें। चरें अचरें तीं एकें॥ २२॥ वृक्ष सर्प पशु दंश। राक्षस पिशाच बक हंस। मत्स्यकच्छादि अशेष। सृजी बहुवस योनिंतें॥ २३॥ ऐशा चौऱ्यांशीं लक्ष योनी। सृजूनि पाहे परतोनी। तंव निजप्राप्तीलागोनी। न देखे कोणी अधिकारी॥ २४॥ ऐशिये देखोनि सृष्टीतें। सुख न वाटेचि देवातें। मग मानवी प्रकृतीतें। आदरें बहुतें निर्मिलें॥ २५॥ बाहुल्यें मनुष्यदेहीं। निजज्ञान घातलें पाहीं। जेणें ज्ञानें देहीं। विदेह पाहीं पावती॥ २६॥ आहार-निद्रा-भय-मैथुन। सर्वा योनींसी समसमान। मनुष्यदेहींचें ज्ञान। अधिक जाण सर्वांशीं॥ २७॥ देखोनि मनुष्यदेहासी। सुख झालें भगवंतासी। अधिकार ब्रह्मज्ञानासी। येणें देहेंसीं मत्प्राप्ती॥ २८॥ पावोनियां मनुष्यपणा। जो न साधी ब्रह्मज्ञाना। तो दाढीचा मेंढा जाणा। विषयाचरणा विचरतु॥ २९॥ मनुष्यदेहींचेनि ज्ञानें। सच्चिदानंदपदवी घेणें। एवढा अधिकार नारायणें। कृपावलोकनें दीधला॥ ३३०॥ मनुष्यदेहीं ब्रह्मज्ञान। पुढील जन्मीं मी करीन। म्हणे तो नागवला जाण। सोलींव अज्ञान त्यापासीं॥ ३१॥

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥ २९॥

चौऱ्यांशीं लक्षयोनींप्रती। जैं कोटिकोटि फेरे होती। तैं नरदेहाची प्राप्ती। अवचटें लाहती निजभाग्यें॥ ३२॥ जो मनुष्यदेही जन्मला। तो परमार्थासी लिगटला। एवढा अलभ्य लाभ झाला। पितरीं मांडिला उत्साहो॥ ३३॥ झालिया मनुष्यदेहप्राप्ती। परमार्थ साधूं भोगाअंतीं। एवढी येथ नाहीं निश्चिती। मृत्युप्राप्ति अनिवार॥ ३४॥ मृत्यु न विचारी गुण-दोष। न म्हणे देश-विदेश। न पाहे रात्र-दिवस। करीत नाश तत्काळ॥ ३५॥ देह जैंपासोनि झाला। तैंपासूनि मृत्यु लागला। जेवीं सापें बेडूक धरिला। गिळूं लागला लवनिमिषें॥ ३६॥ साप बेडुकातें गिळी। बेडूक मुखें माशातें कवळी। तैशीं मृत्युमुखीं पडलीं। विषयभुलीं झोंबतीं॥ ३७॥ येथ आळसु जेणें केला। तो सर्वस्वें नागवला। थिता परमार्थ हातींचा गेला। आवर्तीं पडला भवचक्रीं॥ ३८॥ ऐसें जाणोनि यदुराया। देहाचिया लवलाह्या। परमार्थ साधावया। ब्रह्मोपाया उद्यत व्हावें॥ ३९॥ छेदोनियां आळसासी। दवडूनियां निद्रेसी। आत्मचिंतन अहर्निशीं। अविश्रमेंसीं साधावें॥ ३४०॥ रणीं रिघालिया शूरासी। न जिणतां परचक्रासी। विसांवा नाहीं क्षत्रियांसी। तेणें वेगेंसीं साधावें॥ ४१॥ साधावया आत्मलग्न। सावधान बिजवराचें मन। तेणें साक्षेपें आपण। सायुज्यलग्न साधावें॥ ४२॥ रायाचें एकुलतें एक। चुकल्या अवचटें बाळक। तो जेवीं शोधी सकळ लोक। तेवीं निजसुख साधावें॥ ४३॥ काळाचा चपेटघात। जंव वाजला नाहीं येथ। तंव साधावया परमार्थ। आयुष्य व्यर्थ न करावें॥ ४४॥ नरदेहींचेनि आयुष्यें। प्रपंचाचेनि आवेशें। विषयाचेनि विलासें। भोगपिसे नर झाले॥ ४५॥ पश्वादियोनींच्या ठायीं। विषयांवांचोनि आन नाहीं। तेचि विषयो नरदेहीं। वाढविल्या कायी हित झालें॥ ४६॥ विचारितां विवेकदृष्टीं। विषयांसी प्रारब्धें भेटी। वृथा करितां आटाटी। मुद्दलतुटी नरदेहा॥ ४७॥ नरदेह परम पावन। पावोनि न साधी ब्रह्मज्ञान। तो लांडा गर्दभ जाण। पुच्छेंवीण दुपायी॥ ४८॥ अपरोक्षज्ञानेंवीण वांझट। उदरार्थ दंभ खटपट। जेवीं मदिरापानी मर्कट। उडे उद्धट तडतडां॥ ४९॥ ब्रह्मज्ञानेंवीण शास्त्रज्ञ। ते अंधारींचे खद्योत जाण। अज्ञाननिशीमाजीं तेज गहन। सूर्योदयीं कोण त्यां देखे॥ ३५०॥ ब्रह्मज्ञानेंवीण संन्यासी। नटाच्या ऐसें मुंडण त्यांसी। सोकले मिष्टान्नभिक्षेसी। वृथा गेरूसी नाशिलें॥ ५१॥ मनीं विषयांचें अभिलाषण। धरूनि करिती वेदाध्ययन। ते वर्षाकाळींचे दर्दुर जाण। कर्दमपानें जल्पती॥ ५२॥ विषयप्राप्तीलागीं मौन। तें बकाचें बकध्यान। विषयबुद्धी जें गायन। तें खरी देखोन खर भुंके॥ ५३॥ विषयालागीं उपन्यास। नाना युक्तींचे विलास। जेवीं पिंड देखोनि वायस। करिती बहुवस अतिशब्द॥ ५४॥ पोट भरावया भांड। सैरा वाजविती तोंड। तैसें विषयांलागीं वितंड। शास्त्रपाखंड बोलती॥ ५५॥ विषयवासना धरूनि थोर। बाह्य मिरविती आचार। जेवीं कागाचा शौचाचार। विष्ठातत्पर मानसीं॥ ५६॥ हृदयीं धरूनि जीविका चांग। करिती अग्निहोत्रयाग। जेवीं वेश्या विकोनि अंग। चालवी साङ्ग संसारा॥ ५७॥ नरदेहींचा हाचि स्वार्थ। साधावा चौथा पुरुषार्थ। तो न करितां जो का अर्थ। तो अनर्थ जाणावा॥ ५८॥ साधीना देहीं ब्रह्मज्ञान। तो श्वानसूकरांसमान। अथवा त्याहोनि हीन। तें विवेचन परियेसीं॥ ५९॥ पशूसी हाणिल्या लाथा। द्वेष न धरी सर्वथा। मनुष्यासी 'तूं' म्हणतां। जीवघाता प्रवर्ते॥ ३६०॥ पशूसी लोभ नाहीं संग्रहता। एक आहार होय भक्षिता। मग उरलिया अर्था। त्यागी सर्वथा तत्काळ॥ ६१॥ मनुष्याचें लोभिष्ठपण।

गांठीं असल्या कोटि धन। पोटा न खाय आपण। मा त्यागितां प्राण त्यजील॥ ६२॥ सायंप्रातर्चिंता। पशूसी नाहीं सर्वथा। मनुष्याची चिंता पाहतां। जन्मशतां न राहे॥ ६३॥ अमित धन असतां गांठीं। तरी चिंता अनिवार मोठी। नाथिलेंचि भय घे पोटीं। अविश्वासी सृष्टीं नरदेही॥ ६४॥ जरी मरों टेंकलें शरीर। तरी व्यवहारीं साधी वृत्तिक्षेत्र। पाया शोधोनि बांधी घर। पुत्रपौत्र नांदावया॥ ६५॥ ऐसी दुस्तर चिंता। पशूसी नाहीं सर्वथा। आतां मैथुनाची कथा। ऐक तत्त्वतां सांगेन॥ ६६॥ पशूसी ऋतुकाळीं मैथुन। मग स्त्रियेसी नातळे आपण। पुरुषासी नित्य स्त्रीसेवन। गरोदरही जाण न सोडी॥ ६७॥ काम क्रोध सलोभता। चिंता निंदा अतिगर्वता। हें मनुष्याचेचि माथां। पशूसी सर्वथा असेना॥ ६८॥ न साधितां आत्मज्ञान। केवळ जे विषयी जन। ते श्वानसूकरांपरीस हीन। माणुसपण त्यां नाहीं॥ ६९॥ विषयाचें जें सुख जाण। तें स्वर्गी नरकीं समान। जें इहलोकीं भोगी श्वान। तें स्वर्गी जाण इंद्रासी॥ ३७०॥ मनुष्यदेहावांचोनी। पशुपक्ष्यादि नाना योनी। त्या विषयभोगालागोनी। विषयच्छेदनीं नरदेह॥ ७१॥ तो नरदेह कैसेनि जोडे। ते प्राप्तीचें कठिण गाढें। तें सांगेन तुजपुढें। परिस निवाडें विभागु॥ ७२॥ अत्यंत सुकृतें स्वर्गा चढे। अत्यंत पापें अधोगती घडे। पापपुण्य निःशेष झडे। तैं आतुडे निजमुक्ति॥ ७३॥ जैं पापपुण्य समान समीं। तैं मनुष्यदेह आक्रमी। जन्म पावे कर्मभूमीं। आश्रमधर्मी सुमेधा॥ ७४॥ साक्षेपें मनुष्यदेह जोडे। ऐसें करितां तंव न घडे। अवचट हाता चढे। भाग्य चोखडें जयाचें॥ ७५॥ मोलें अनर्घ्य रत्नें येती। तैसा चिंतामणी न ये हातीं। बहुत योनिये जन्म होती। परी मनुष्यदेहप्राप्ती दुर्लभ॥ ७६॥ ऐसा नरदेह पावोनि देख। जो न साधीचि ब्रह्मसुख। तो जनांमाजीं परम मूर्ख। विश्वासघातक देवाचा॥ ७७॥ निजात्मप्राप्तीलागोनी। देवें केली मनुष्ययोनी। तो देवाचा विश्वास बुडवूनी। विषयसेवनीं निजपतन॥ ७८॥ होतें पितरांचें मनोगत। पुत्र होईल हरिभक्त। कुळ उद्धरील समस्त। विषयीं प्रतिहत तें केलें॥ ७९॥ हो का सकळ भाग्याचें फळ। मनुष्यदेह गा केवळ। तें करावया सफळ। वैराग्य अढळ म्यां केलें॥ ३८०॥

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि। विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्कृतिः॥ ३०॥

देहो निजात्मसाधनीं साधक। तोचि विषयभोगीं बाधक। ऐसें देखोनियां देख। केलें निष्टंक वैराग्य॥ ८१॥ त्या वैराग्याचेनि बळें। गुरुकृपावचनमेळें। विषयइंद्रियांचे पाळे। एकेचि वेळें विभांडिले॥ ८२॥ अविद्या जंव घ्यावी जीवें। तंव 'अविद्या' येणें नांवें। स्वांगें मी विद्यमान नोहे। हेंही अनुभवें जाणितलें॥ ८३॥ ऐशी मिथ्यात्वें अविद्या आतां। चित्प्रकाश पूर्ण लाभे हाता। तेणें स्वदेहस्थ अहंता। गेली सर्वथा निःशेष॥ ८४॥ ज्ञानसाधन जो निजदेहो। तयाच्या ठायीं वैराग्य पहा हो। मा देहसंबंधाचा स्नेहो। कैसेनि राहों शकेल॥ ८५॥ ऐसेनि अनुभवें पाहीं। निःसंग मी विचरें मही। अहंता स्वदेहीं नाहीं। पुशिलें तें पाहीं सांगितलें राया॥ ८६॥ जैं पुरुषाची अहंता गळे। तैं देह अदृष्टयोगें चळे। जेवीं सुकलें पान वायुबळें। पडिलें लोळे सर्वत्र॥ ८७॥ यालागीं ब्रह्मसाक्षात्कारा। वृत्ति लय पावे जंव वीरा। तंववरी जो वैराग्यें खरा। अभंग पुरा पुरुषार्थी तो॥ ८८॥ म्हणसी एका गुरूचे ठायीं। तुज सर्वथा विश्वास नाहीं। ये अर्थीं सावध होई। विशद पाहीं सांगेन॥ ८९॥ गुरूनें सांगतांचि कानीं। ज्याची वृत्ति जाय विरोनी। जेवीं मिळतां लवणपाणी। अभिन्नपणीं समरसे॥ ३९०॥ केल्यासी साधकबाधकताबाध। हें बोलणें अतिअबद्ध। जेवीं निमालियासी वोखद। न पाजवे दुग्ध गर्भस्था॥ ९१॥ यापरी त्यासी कर्तव्यता। नाहीं नाहीं गा सर्वथा। परी ऐसी हे अवस्था। ज्यासी तत्त्वतां

न लभेचि ॥ ९२ ॥ गुरूनें सांगितलें कानीं। स्वरूपाबोध झाला मनीं। परी तें न राहेचि निश्चळपणीं। बाह्यदर्शनीं विक्षेपु ॥ ९३ ॥ आसनीं बैसल्या स्वरूपस्थितीं। आसन सोडिल्या प्रपंचस्फूर्ती। ऐशी एकदेशी स्थिती। नातळती निजयोगी ॥ ९४ ॥ देह आसनीं निश्चळ। अथवा कर्मीं हो चंचळ। परी वृत्ति सर्वदा निश्चळ। तेचि निर्मळ निजयोगी ॥ ९५ ॥ परशुरामेंसीं रणांगणीं। भीष्म भिडला निर्वाणबाणीं। तोडरीं घातिला जिणोनी। वृत्ति समाधानीं अचंचळ ॥ ९६ ॥ करितां निर्वाणयुद्धीं। ज्याची न मोडे समाधी। हेंचि साधावया त्रिशुद्धी। चोवीस गुरु विधीं वंदिलें म्यां ॥ ९७ ॥ देहनिश्चळत्वें वृत्ति निश्चळ। देहचंचळत्वें वृत्ति चंचळ। तरी ते देहबुद्धीचि सबळ। नव्हे केवळ निजबोधु ॥ ९८ ॥ होतां प्रपंचदर्शन। वृत्तीसी विक्षेप होय जाण। तो विक्षेप करावया छेदन। बहुगुरुसाधन म्यां केलें ॥ ९९ ॥ निजगुरूंनीं सांगितल्या अर्था। त्या साधावया परमार्था। नाना प्रपंचपदार्था। गुरुसंस्था म्यां केली ॥ ४०० ॥ जेथोनिया विक्षेपता। तेचि लाविली गुरुत्वपथा ऐसेनि साधनें साधितां। जग स्वभावतां परब्रह्म ॥ १ ॥ पूर्वी गुरूंनीं बोधिलें नाहीं। तरी पृथ्व्यादिकें बोधितील कायी। तोचि निजार्थ साधावया पाहीं। गुरुउपायीं प्रवर्तलों ॥ २ ॥

न ह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात्सुपुष्कलम्। ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः ॥ ३१ ॥

गुरूनें सांगितलें निजज्ञान। हृदयीं प्रकाशलें चिद्भान। तें विद्युत्प्राय चंचळ जाण। स्थैर्यपण त्या नाहीं ॥ ३ ॥ जें मूळींचि चंचळ। तें कदा नव्हे पुष्कळ। क्षणां भासे क्षणां चपळ। तेणें तळमळ साधका ॥ ४ ॥ जैसें मुखींचें आमिष जाये। तेणें सर्प डंवखाइला राहे। तैसी वेदना साधकां होये। वियोगु न साहे सर्वथा ॥ ५ ॥ येरवीं ब्रह्म अद्वितीय नित्य। हें सकळ ऋषींचें संमत। त्यांसीही पुसों जातां बहुत। विक्षेप तेथ उठती ॥ ६ ॥ एक म्हणती ब्रह्म सगुण। एक म्हणती तें निर्गुण। ऐसे वाद करिती दारुण। युक्तिखंडण अभिमानें ॥ ७ ॥ एक म्हणती ब्रह्म सप्रपंच। एक म्हणती निष्प्रपंच। मिळोनियां पांचपांच। शब्दकचकच वाढविती ॥ ८ ॥ प्रपंचदर्शनें विक्षेपता। तेथ साधावया निजऐक्यता। सुबुद्धीनें नाना पदार्था। गुणग्राहकता गुरुरूपें ॥ ९ ॥ तेथ साधकांचे प्रश्न। सहसा न पवती समाधान। यालागीं पुसावया मन। न रिघे जाण ते ठायीं ॥ ४१० ॥ जेथूनि विक्षेपता वाढे। तेथेंचि ऐक्यता जोडे। तें नानागुरुत्वें रोकडें। साधन चोखडें योजिलें ॥ ११ ॥ जीं जीं सांगितलीं गुरुलक्षणें। तीं तीं निजबुद्धीचीं साधनें। समूळ विक्षेपु तेणें। तीव्र धारणें छेदिला ॥ १२ ॥ तेणें चंचलत्वें निश्चल। फावलें निजबोधाचें मूळ। दृश्य देखतां केवळ। भासे सकळ चिन्मात्र ॥ १३ ॥ जें माझ्या निजगुरूंनीं। पूर्वी दिधलें होतें बोधुनी। तेंचि नाना गुरुत्वें साधूनी। विक्षेप छेदुनी पावलों ॥ १४ ॥ निजगुरु तो एकुचि जाण। इतर गुरु साधकत्वें साधन। हें यथातथ्य लक्षण। तुज निरूपण म्यां केलें ॥ १५ ॥ येथ प्रपंचाचें भानाभान। कर्म करितां न कळे जाण। लाधली निजबोधाची खूण। समदर्शन सर्वदा ॥ १६ ॥ दृश्य देखतां दृष्टीं। नव्हे दृश्येंसीं भेटी। हारपली कर्मत्रिपुटी। बोधकसवटी अभिनव ॥ १७ ॥ यथेष्ट करितां भोजन। उष्टेना निराहारलक्षण। जगेंसीं वागतां जाण। एकलेपण मोडेना ॥ १८ ॥ तरंग सागरामाजीं क्रीडतां। न मोडे उदकाची एकात्मता। तेवीं जगामाजीं वर्ततां। दुजी वार्ता मज नाहीं ॥ १९ ॥ नवल सद्गुरूची नवायी। सर्वीं सर्व तोचि पाहीं। गुरूवेगळें रितें कांहीं। उरलें नाहीं सर्वथा ॥ ४२० ॥ आतां माझें जें मीपण। तें सद्गुरु झाला आपण। बोलतें तुझें जें तूंपण। तेंही जाण सद्गुरुचि ॥ २१ ॥ याहीपरी पाहतां। माझा गुरु एक एकुलता। तेथें दुजेपणाची वार्ता। नाहीं सर्वथा यदुराया ॥ २२ ॥ ऐशी सद्गुरुकथा। तुज सांगितली परमार्था। हरिखें आलिंगिलें नृपनाथा। दोघां ऐक्यता निजबोधें ॥ २३ ॥ जीवीं जीवा पडली मिठी।

आनंदें वोसंडली सृष्टी। तेणें वाचेसी पडली बेलवटी। बोलों उफराटी विसरली॥ २४॥ हरिखु न संठवे हृदयभवनी। बाहेर वोसंडे स्वेदेजोनी। आनंदघन वोळला नयनीं। स्वानंदजीवनीं वर्षतु॥ २५॥ तुटली अहंकाराची बेडी। पावलों भवार्णवपरथडी। म्हणौनि रोमांची उभविली गुढी। जिंतिली गाढी अविद्या॥ २६॥ समूळ देह भावो पळाला। यालागीं गात्रकंपु चळचळा। संकल्पविकल्प निमाला। मनेंसीं बुडाला मनोरथु॥ २७॥ जीवभावो उखिता। यदूनें अर्पिला गुरुनाथा। तें चिह्न बाहेरीं तत्त्वतां। दावी सर्वथा निजांगीं॥ २८॥ तो अवधूत जाण दत्तात्रेया। तेणें आलिंगूनि यदुराया। निजरूपाचा बोधु तया। अनुभवावया दीधला॥ २९॥ दत्रात्रेयशिष्यपरंपरा। सहस्त्रार्जुन यदु दुसरा। तेणें जनार्दनु तिसरा। शिष्य केला खरा कलियुगीं॥ ४३०॥ गुरुप्राप्तीलागीं सर्वथा। थोर जनार्दनासी चिंता। विसरला तिन्ही अवस्था। सद्गुरु चिंतितां चिंतनीं॥ ३१॥ देवो भावाचा भोक्ता। दृढ जाणोनि अवस्था। येणें जाहलें श्रीदत्ता। तेणें हातु माथां ठेविला॥ ३२॥ हातु ठेवितांचि तत्काळ। बोधु आकळिला सकळ। मिथ्या प्रपंचाचें मूळ। स्वरूप केवळ स्वबोधें॥ ३३॥ कर्म करूनि अकर्ता। तोचि अकर्तात्मबोधु जाहला देता। देहीं असोनि विदेहता। तेही तत्त्वतां आकळिली॥ ३४॥ गृहाश्रमु न सांडितां। कर्मरेखा नोलांडितां। निजव्यापारीं वर्ततां। बोधु सर्वथा न मैळे॥ ३५॥ तो बोधु आकळतां मना। मन मुकलें मनपणा। अवस्था नावरेचि जनार्दना। मूर्च्छापन्न पडियेला॥ ३६॥ त्यासी सावध करूनि तत्त्वतां। म्हणे प्रेमा आहे सत्त्वावस्था। तोही गिळोनि सर्वथा। होयीं वर्तता निजबोधें॥ ३७॥ पूजाविधी करोनियां। जंव जनार्दनु लागला पायां। तंव अदृश्य जाहला दत्तात्रेया। योगमायाचेनि योगें॥ ३८॥ कथेसी फांकलों सर्वथा। तो कोपु न मनावा श्रोतां। प्रसंगें गुरुविवंचना होतां। मीही गुरुकथा बोलिलों॥ ३९॥ मज तंव चुकी पडिली मोठी। चुकूनि सांगितली गुरुगोठी। तेही संस्कृत नव्हे मराठी। वृथा चावटी न म्हणावी॥ ४४०॥ जो असेल गुरुभक्त। तो हें जाणेल मनोगत। जो गुरुस्मरणीं सदोदित। त्यासी हें हृद्गत कळेल॥ ४१॥ ज्यांसी गुरुचरणीं श्रद्धा गाढी। ज्यांसी गुरुभजनीं अतिआवडी। जिंहीं गुरुप्रेम जोडिलें जोडी। हे गोडी जाणती॥ ४२॥ ज्या सद्गुरूचें नांव घेतां। चारी मुक्ती वोडविती माथा। मुक्ति नावडे गुरुभक्तां। नित्यमुक्तता गुरुचरणीं॥ ४३॥ ज्याचें घेतां चरणतीर्थ। चारी मुक्ती पवित्र होत। पायां लागती पुरुषार्थ। धन्य गुरुभक्त त्रिलोकीं॥ ४४॥ चैतन्य नित्य निराधार। निर्धर्मक निर्विकार। त्याचा केला जीर्णोद्धार। सत्य साचार जगद्गुरु॥ ४५॥ सद्गुरुकृपा नव्हतां। नव्हती देवाची कथावार्ता। देवासी देवपणीं स्थापिता। सत्य सर्वथा सद्गुरु॥ ४६॥ सद्गुरु कृपेवीण पाहीं। देवो असतुचि झाला होता नाहीं। त्यासी देवपणीं ठेवूनि ठायीं। भजविता पाहीं गुरुरावो॥ ४७॥ त्या सद्गुरूची कथा। चुकोनि झालों बोलता। थोर अपराधु हा माझे माथां। क्षमा श्रोतां करावी॥ ४८॥ वृथा बोलिलों नाहीं जाण। झालें बोलावया कारण। दत्तात्रेयशिष्यकथन। करितां जनार्दन आठवला॥ ४९॥ मी जरी नाठवीं जनार्दनासी। परी तो विसरों नेदीच आपणासी। हटें देतुसे आठवणेंसी। अहर्निशीं सर्वदा॥ ४५०॥ जिकडे मी विसरों जायें। तिकडेचि तो येऊनि राहे। मी जरी त्याजकडे न पाहें। तें न पाहणें होये तो माझें॥ ५१॥ घटु सांडूं पाहे आकाशासी। तंव आकाश न सांडी घटासी। तेवीं जनार्दनु आम्हांसी। अहर्निशीं लागला॥ ५२॥ मी न करीं त्याची कथा। तंव तोचि होये मुखीं वक्ता। ऐसेंनि बलात्कारें बोलविता। काय म्यां आतां करावें॥ ५३॥ दृश्य मी देखावया बैसें। तंव दृश्या सबाह्य जनार्दनु दिसे। श्रवणीं ऐकतां सौरसें। शब्दीं प्रवेशे

जनार्दनु॥ ५४॥ आतां नाइकें न पाहें। म्हणौनि मी उगा राहें। तंव उगेपणाचेनि अन्वयें। जनार्दनु पाहे लागला॥ ५५॥ ऐसा अडकलों त्रिशुद्धी। जनार्दनु उगंडूं नेदी। श्रोता सांगावी जी बुद्धी। मी अपराधी सर्वथा॥ ५६॥ श्रोते म्हणती नवलावो। येथ न देखों अहंभावो। पाहतां बोलाचा अभिप्रावो। प्रेम पहा हो लोटत॥ ५७॥ येथील विचारितां बोल। क्षीराब्धीहून सखोल। नवल प्रेमाची वोल। येतांति डोल स्वानंदें॥ ५८॥ जें त्वां केलें गुरुनिरूपण। तें सप्रेम ब्रह्मज्ञान। थोर निवविलों जाण। नाहीं दूषण निरूपणा॥ ५९॥ नित्य करावें गुरुस्मरण। तें गुरूनें केलें निजकथन। करितां अमृताचें आरोगण। पुरे कोण म्हणेल॥ ४६०॥ जनार्दनीं दृढ भावो। हाही कळला अभिप्रावो। निरूपणाचा नवलावो। रसाळ पहा हो वोडवला॥ ६१॥ तूं मूळकथा निरूपिसी। अथवा आडकथा सांगसी। परी गोडी या निरूपणाऐसी। न देखों आणिकांसी सर्वथा॥ ६२॥ शुद्ध निरूपणें गुरु वर्णिसी। वर्णूनि अपराधी म्हणविसी। ऐक्यें घोळली बुद्धी कैसी। मानु श्रोत्यांसी वाढविला॥ ६३॥ तुझी जे अपराधबुद्धी। ते प्रवेशली भगवत्पदीं। जाहली अपराधाची शुद्धी। देखणा त्रिशुद्धी तूं होसी॥ ६४॥ गुरुस्तवनीं रतसी। तेव्हां मूळकथा विसरसी। प्रेमाची जाती ऐसी। कळलें आम्हांसी सर्वथा॥ ६५॥ श्रोते म्हणती आतां। विस्मयो दाटला चित्ता। वेगीं चालवावें ग्रंथा। पूर्वकथा मूळींची॥ ६६॥ हें संतवचन मानूनि माथां। चरण वंदूनि तत्त्वतां। सावधान व्हावें चित्ता। पुढील कथा सांगेन॥ ६७॥ यापरी तो अवधूतु। यदूसी सांगे परमार्थु। संवादें निवाला परमाद्भुतु। मग निवांतु राहिला॥ ६८॥

श्रीभगवानुवाच— इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः।
वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम्॥ ३२॥

उद्धवासी म्हणे श्रीकृष्ण। रायासी सांगोनि ब्रह्मज्ञान। जाहलें देखोनि समाधान। मग पुसोन निघाला॥ ६९॥ राजा धांवोनि लागला चरणां। परम प्रेमें करी पूजना। करोनियां प्रदक्षिणा। मागुता चरणां लागला॥ ४७०॥ 'जाय' ऐसें न बोलवे सर्वथा। 'राहे' म्हणतां दिसे स्वामिता। वियोगु न साहवे तत्त्वतां। बोलु सर्वथा खुंटला॥ ७१॥ ते देखोनि अवस्था। कृपा उपजली श्रीदत्ता। हात ठेवूनि माथां। प्रसन्नता उपजली॥ ७२॥ 'येथून तुज मज आतां। वियोगु नाहीं सर्वथा'। ऐसें आश्वासोनि नृपनाथा। होय निघता श्रीदत्त॥ ७३॥ जेणें सुखें होता आला। तेणेंचि सुखें निघता झाला। राजा अतिप्रीतीं निवाला। सुखी झाला निजबोधें॥ ७४॥

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः। सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह॥ ३३॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे नवमोऽध्यायः॥ ९॥

पाहोनि उद्धवा उजू। बोलता जाला अधोक्षजु। म्हणे आमचे पूर्वजांचा पूर्वजु। राजध्वजु यदुवीरु॥ ७५॥ म्हणसी मी नेणें त्याचें नांव। तूं सांगतोसी हें अपूर्व। परी ज्याचेनि नामें आम्ही सर्व। वीर 'यादव' म्हणवितों॥ ७६॥ हरिखें म्हणे नंदनंदु। तो आमचा पूर्वज यदु। ब्रह्मज्ञानाचा संवादु। दत्तात्रेयेंसीं पैं केला॥ ७७॥ श्रीदत्तात्रेयाच्या वचनार्था। विश्वासोनि जाहला घेता। तेणें सर्वसंगविनिर्मुक्तता। आली हाता यदूच्या॥ ७८॥ जो संगु सांडूनि दूर गेला। तेणें 'संगत्यागु' चि केला। संगीं असोनि स्नेह सांडिला। 'संगमुक्त' झाला तो जाण॥ ७९॥ आकाश सर्व पदार्थांसी। मिळालें असे सर्व देशीं। परी नातळेचि सर्वसंगासी। 'संगमुक्तता' त्यासी बोलिजे॥ ४८०॥ याहूनि विशेष संगमुक्तता। आली यदूचिया हाता। तेही सांगेन कथा। परिसें तत्त्वतां उद्धवा॥ ८१॥

दत्तात्रेयबोधें तत्त्वतां। सर्वसंगामाजी असतां। न देखे संगाची कथावार्ता। 'विशेषमुक्तता' या नांव॥ ८२॥ 'मज पूर्वी द्वैतसंगु होता। तो जाऊनि निःसंग झालों आतां'। या दोनी समूळ मिथ्या वार्ता। विनिर्मुक्तता पावलों॥ ८३॥ दोर सापु नाहीं झाला। परी सापुपणाचा आळ आला। तोही दोरें नाहींसा केला। भ्रांतीं कल्पिला निजभ्रमु॥ ८४॥ दोरु दोरपणें असे। सर्पु तो भ्रांतामनीं वसे। ऐसें सांडूनि द्वैतपिसें। रायासी सावकाशें समाधी॥ ८५॥ समसाम्यें समानबुद्धी। ते बोलिजे 'निजसमाधी'। ते समाधी पावोनि त्रिशुद्धी। राजा निजपदीं पावला॥ ८६॥ कृष्ण म्हणे उद्धवासी। 'तुं जन्मूनि ऐशिये वंशीं। जरी ब्रह्मज्ञान न साधिशी। तरी उणें पूर्वजांसी येईल'॥ ८७॥ यापरी हृषीकेशी। तिरस्कारोनि उद्धवासी। झोंबावया अद्वैतासी। पुट बुद्धीसी देतुसे॥ ८८॥ आर्धीचि विखारू काळियाणा। त्याचेंही पुच्छ रगडिल्या जाणा। मग झोंबिन्नल्या सत्राणा। नावरे कोणा सर्वथा॥ ८९॥ आर्धीचि अनुताप उद्धवासी। वरी तिरस्कारिला हृषीकेशीं। तो गिळावया चिद्ब्रह्मासी। निजमानसी खवळला॥ ४९०॥ पुढिले अध्यायीं निरूपण। कृष्णउद्धवसंवाद जाण। सांगेल गुरुशिष्यलक्षण। श्रोते विचक्षण परिसतु॥ ९१॥ एका जनार्दनु म्हाणे। अगाध कृष्णमुखींचें बोलणें। तें मी जरी निरोपूं नेणें। परी तें गोडपणें निववित॥ ९२॥ साखरेचा बोळू केला। परी कडूपणा नाहीं आला। तैसा ग्रंथु प्राकृतभाषा झाला। असे संचला स्वानंदु॥ ९३॥ जरी सोन्याचें पेंडुकें केलें। परी तें दगडमोला नाहीं आलें। तैसें भागवत प्राकृत झालें। परी नाहीं चुकलें निजज्ञाना॥ ९४॥ मुक्ताफळालागीं सागरीं। बुड्या देती नानापरी। तें सांपडलिया घरींच्या विहिरीं। जो अव्हेरी तो मूर्ख॥ ९५॥ तैशी संस्कृत व्याख्यानआटाटी। अतिकष्टें परमार्थीं भेटी। तें जोडिल्या मराठीसाठीं। उपेक्षादृष्टि न करावी॥ ९६॥ धनवंतु रत्नपारखी पुरा। तेणें धुळीमाजीं देखिल्या हिरा। गांठीं बांधोनि आणी घरा। पारखी खरा निजज्ञानें॥ ९७॥ तैसें ज्ञाते विद्वज्जन। ग्रंथु मराठी देखोन। उपेक्षा न करितां करावा यत्न। पारखोनि चिद्रत्न साधावया॥ ९८॥ क्षुद्रदृष्टीं पाहणें पाहतां। बोलु लागेल व्यासाचे ग्रंथा। मा हे तरी मराठी कविता। सांडूनि कुटिलता पाहावी॥ ९९॥ ज्यांसी निजसुखाची आवडी। ते प्राकृतीं न काढिती खोडी। घेतील ज्ञानगर्भाची गोडी। अवस्था गाढी परमार्थी॥ ५००॥ जे साचार परमार्थी। ते अधिकारी ये ग्रंथीं। ज्यांसी भागवतीं भक्ती। ते पावती निजसुख॥ १॥ ज्यासी भागवतीं नाहीं भक्ती। कोरडी व्युत्पत्ती मिरविती। तेही जरी निंदा न करिती। तरी पुढें पावती भक्तीतें॥ २॥ निंदा वसे ज्याचे चित्ता। त्यास गति नाहीं सर्वथा। निंदा सकळ पापांचे माथां। दोष ईपरता असेना॥ ३॥ निंदकाचें नांव घेतां। दोष वाचेसी होय लागता। तिशीं द्यावया प्रायश्चित्ता। 'रामराम' सर्वथा म्हणावें॥ ४॥ निंदेमाजीं देखिलें स्वार्था। निंदक प्रवर्तले भक्तहिता। बुडवूनि आपुले स्वार्था। परदोष सर्वथा क्षाळिले॥ ५॥ सांडूनियां गुणदोष। श्रोतां होआवें सावकाश। जेथ वक्ता हृषीकेश। अतिसुरस तें ज्ञान॥ ६॥ कृष्ण-उद्धवांचे ज्ञान। तत्काळ निरसी अज्ञान। एका विनवी जनार्दन। सावधान परियेसा॥ ५०७॥

*इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे श्रीकृष्णोद्धवसंवादे एकाकारटीकायां नवमोऽध्यायः॥ ९॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥ मूळश्लोक॥ ३३॥ ओव्या॥ ५०७॥*

॥ श्रीः ॥

॥ ॐ तत्सत्-श्रीकृष्ण प्रसन्न ॥

# श्रीएकनाथी भागवत

## अध्याय दहावा

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ ॐ नमो सद्गुरु धन्वंतरी। ज्याची दृष्टीचि निरुज करी। त्यावांचोनि संसारीं। भवरोगु दुरी न करवे॥ १॥ ज्या भवरोगाचेनि दर्पें। फुंफात तापलीं त्रिविधतापें। 'मी माझें' येणें संकल्पें। वाग्जल्पें जल्पती॥ २॥ पडिलीं द्वैताचिया दुखणा। तोंडींची चवी गेली जाणा। मुखा आला कडवटपणा। कटु वचना बोलतु॥ ३॥ जेथें व्याधीचेनि सन्निपातें। विवेक हाणोनियां लातें। उमरुडूनि धैर्य हातें। वासनावनातें हिंडती॥ ४॥ मनोरथकर्दमीं चरफडित। संकल्पमृगजळीं बुडत। वेगीं निसरोनियां पडत। टेंक चढतां स्वर्गाचें॥ ५॥ वोरबडत स्नेहाची आराटी। गोंवीत लोभाची बोरांटी। खिळिला प्रपंचाचिया कंठीं। मारितां नुठी तेथूनि॥ ६॥ भवरोगभ्रमें भ्रमले कैसे। खावों नये तें खावों बैसे। करूं नये तें करितां दिसे। योषितांसरिसें धांवत॥ ७॥ तेथ धनभयाचे शारे येत। तेणें थरथरां कांपत। धाकें धाकें घामेजत। दडी देत गुप्तत्वें॥ ८॥ भोगाभिमानु चढे देहीं। तेव्हां न राहे खाटे भुईं। विधीचें पांघरूण टाकी पाहीं। डोळा ठायीं लागेना॥ ९॥ उभें न राहवे ऐक्यवृत्ती। क्षीण झाली ज्ञानशक्ती। पडलीं जडत्वें लोळती। पाणी मागती विषयांचे॥ १०॥ अल्पअल्प देतां तें जळ। कडकडूनि झोंबती प्रबळ। 'आम्हांसी फार द्या गा जळ। तृषा केवळ वोळेना'॥ ११॥ कुपथ्य करितां निरंतर। तंव तो झाला जीर्णज्वर। क्षयो लागला जी थोर। क्षीण शरीर पडियेलें॥ १२॥ क्षणाक्षणां अतिक्षीणता। विकार संचरले जीविता। तेणें प्रबळ वाढली चिंता। सुख सर्वथा बुडालें॥ १३॥ नवल रोगाचा पडिपाडु। गोड परमार्थ तो जाला कडू। केवळ विषप्राय विषय कडू। तोचि गोडु पैं झाला॥ १४॥ ते व्याधीचिया उफाडा। देतां सत्कथाकाढा। श्रवणमुखींच्या भावार्थदाढा। पाडी पुढां दांतखिळी॥ १५॥ देतां तुलसीमकरंद नसू। वरता जावों नेदी श्वासु। मस्तक झाडी मानी त्रासु। रोगें बहुवसु व्यापिला॥ १६॥ ऐसा रोग देखोनियां गाढा। वैद्य आचार्य धडफुडा। कृपा पाहे जयाकडा। तो रोकडा वांचवी॥ १७॥ निधडा वैद्य तो सुबुद्धि। जीवु गेलिया मरों नेदी। जीवेंवीण वांचवी त्रिशुद्धि। अगाध सिद्धि तयाची॥ १८॥ शुद्धभाग्येंकरूनि जाण। तो करी कृपाकूर्मावलोकन। तेंचि रोगिया अमृतपान। होय सावधान तत्काळ॥ १९॥ एवं झालिया सावधान। रोगी आपणिया आपण। नित्यानित्याचें पाचन। करी सेवन साक्षेपें॥ २०॥ तेणें न फिटेचि जीर्णज्वरु। न तुटे क्षयाचा महामारु। हे देखोनियां वैद्यसद्गुरु। रसोपचारु मांडिला॥ २१॥ तेणें अक्षररस-अर्धमात्रा। देतां क्षयाचा थारा। मोडूनियां शरीरा। पूर्वपरंपरा अक्षय केलें॥ २२॥ दारुण चुकवावया कुपथ्य। वैराग्य राखण ठेविलें नित्य। लावूनि अनुसंधानाचें पथ्य। निर्दाळिला तेथ भवरोगु॥ २३॥ रोगी उपचारिल्यावरी।

प्रबळ क्षुधा खवळे भारी। चित्तचिंतेच्या लाह्या करी। क्षणामाझारीं खादल्या॥ २४॥ काळे गोरे चतुर्वर्णचणे। आश्रमेंसीं भाजिले फुटाणे। 'अहं-सोहं' गुळेंसीं तेणें। निःशेष खाणें तत्काळ॥ २५॥ फळाभिलाषेंसीं आशा-। बोंडें भरलीं होतीं खसखसा। तींही खादलीं घसघसां। न लगतां घांसा गिळियेलीं॥ २६॥ गूळ साखरेचा पडिपाडु। खादले कर्माकर्माचे लाडू। खातां न म्हणे गोड कडू। लागला झोडूं स्वइच्छा॥ २७॥ 'ब्रह्माहमस्मी' चीं गोमटीं। पक्कान्नें देखिलीं दिठीं। तींही खाऊनि उठाउठी। मायेपाठीं लागला॥ २८॥ ते धाकें धाकेंचि निमाली। मिथ्यात्वें नासोनि गेली। स्वानंदें पुष्टि आली। झाडी केली भवरोगा॥ २९॥ ऐसा सद्गुरु वैद्य गाढा। जेणें उपचारोनि केलों निधडा। शरण रिघावें तुजपुढां। तंव चहूंकडां तूंचि तूं॥ ३०॥ तुजवेगळें आपणियातें। देखोनि शरण यावें तूतें। तंव मीतूंपण हारपलें थितें। कैसेनि तूतें भजावें॥ ३१॥* ज्यांच्या सुटल्या जीवग्रंथी। झाले आत्माराम निश्चितीं। तेही अहेतुक भक्ति करिती। प्राप्तांची स्थिति हे जाणा॥ ३२॥ गुरुभजनापरतें सुख। मोक्ष मानिती तेही मूर्ख। मोक्ष गुरुचरणींचा रंक। विरळा लोक हें जाणती॥ ३३॥ आम्हां सद्गुरुदृष्टीं परमारोग्य। आम्ही सद्गुरुकृपा सदा श्लाघ्य। गुरुसेवें आम्ही सभाग्य। परम योग्य गुरुस्तवनें॥ ३४॥ सद्गुरूचें नाममात्र। तेंचि आम्हां वेदशास्त्र। सकळ मंत्रावरिष्ठ मंत्र। नाम सर्वत्र गुरूचें॥ ३५॥ सद्गुरूचें तीर्थमात्र। सकळ तीर्थां करी पवित्र। गुरुचरण तें आमचें क्षेत्र। वृत्ति स्वतंत्र ते आम्हां॥ ३६॥ तूं पुरे पुरे म्हणसी स्तवन। परी वर्णितां तुझे उदार गुण। अतृप्त सर्वथा नुठी मन। तुझी आण वाहातसें॥ ३७॥ तुझे गुण वर्णावया तत्त्वतां। मी प्रवर्तलों श्रीभागवता। त्वां मज लाविलें भक्तिपंथा। निजकथाकीर्तनीं॥ ३८॥ जय जय सद्गुरु जनार्दना। भवगजपंचानना। एकाकी शरण आलों जाणा। तुझ्या श्रीचरणा पावलों॥ ३९॥ पावलों शास्त्र श्रीभागवत। अवधारा तेथींचा मथितार्थ। उद्धवासी श्रीकृष्णनाथ। परम परमार्थ सांगेल॥ ४०॥ यदुअवधूतसंवादेंसीं। लक्षणोक्त चोविसां गुरूंसी। परिसोनियां उद्धवासी। भावना ब्रह्मेंसीं लिगटली॥ ४१॥ ब्रह्म सर्वगत सत्य होये। मज सबाह्य कोंदलें आहे। तेंचि माझें मज ठाउकें नोहे। कोण उपाये करावा॥ ४२॥ ऐसी उद्धवाची चिंता। कळों सरली कृष्णनाथा। तोचि उपावो सर्वथा। होय सांगता अविरोधें॥ ४३॥

श्रीभगवानुवाच—मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः। वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत्॥ १॥

पूर्वीं वेदरूपें वर्णाश्रम। मीचि बोलिलों स्वधर्म। पंचरात्रादि वैष्णवधर्म। हें उपासनावर्म गुह्य माझें॥ ४४॥ जो वर्ण जो आश्रम। तेणेंचि ते करावे स्वधर्म। आचरतां परधर्म। दुःख परम पाविजे॥ ४५॥ उद्धवा येथ जाण। कर्ता पाहिजे सावधान। ते सावधानतेचें लक्षण। अतिविचक्षण जाणती॥ ४६॥ कर्म चतुर्विध येथ। 'नित्य' आणि 'नैमित्त'। 'काम्य' आणि 'प्रायश्चित्त'। जाण निश्चित विभाग॥ ४७॥ येथ कर्म आचरती स्थिती। सावधान राखावी वृत्ती। आचरावयाची व्युत्पत्ती। विचित्र स्थिती सांगेन॥ ४८॥ नित्य आणि नैमित्तिक। हें कर्म जाण आवश्यक। सांडोनियां फलाभिलाख। विधिप्रमुख आचरावें॥ ४९॥ नित्यकर्म अधिक वाढे। तैं नैमित्तिकाचे अंगा चढे। काम्य उचंबळलें विषयचाडें। तेंचि पडे 'निषिद्धी'॥ ५०॥ फलाभिलाषेंविण। नित्य नैमत्तिक जाण। करावें गा कृष्णार्पण। अर्पिती खूण जाणोनि॥ ५१॥ काम्य कर्म आवश्यक।

* "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रंथा अप्युरुक्रमे। कुर्वंत्यहैतुकीं भक्तिं इत्थंभूतगुणो हरिः॥"—(भागवत) ए० भा० २३

त्यजावें गा निःशेख। जेवीं कां वमिलें वमक। परतोनि लोक न पाहती॥ ५२॥ समूळीं कामनेतें दंडावें। तैंचि काम्य कर्म सांडावें। येरव्हीं काम्यत्यागु न संभवे। कामना जीवें राखतां॥ ५३॥ अंतरीं अनिवार कामना। बाह्य विरक्ती दावी जना। ते सविया विटंबना। त्यागु विचक्षणा तो नव्हे॥ ५४॥ कामनेचेनि अधिक मदें। कर्में निपजती निषिद्धें। समूळ कामनेचेनि छेदें। सर्व निषिद्धें मावळती॥ ५५॥ अथवा देखतांचि निषिद्ध दिठीं। जो हरिनामें गर्जत उठी। निषिद्ध पळे बारा वाटीं। प्रायश्चित्तकोटी हरिनामें॥ ५६॥ जेथ हरिनामाचे उमाळे। तेथ निषिद्ध तत्काळ जळे। निषिद्ध अभक्तां आदळे। भक्तांजवळें तें न ये॥ ५७॥ काम्यनिषिद्धाची कथा। भक्तांसी नातळे सर्वथा। भगवंतु रक्षी निजभक्तां। दोषु तत्त्वतां त्यां नाहीं॥ ५८॥ नामें प्रायश्चित्तांच्या कोटी। हे म्यां सांगितली गुह्य गोठी। प्रकट न करावी सृष्टीं। गुप्त पोटीं राखावी॥ ५९॥ काम्यनिषिद्धाचे त्याग। तुज म्यां सांगीतले साङ्ग। नित्यनैमित्तविभाग। तोही विनियोग परियेसीं॥ ६०॥ मदर्पणें आवश्यक। करावें नित्यनैमित्तिक। तेंचि चित्ताचें शोधक। साधन मुख्य परमार्थीं॥ ६१॥ एक म्हणती स्वधर्म निर्फळ। वर्म नेणतीच ते बरळ। स्वधर्में होय जन्म सफळ। परमार्थफळ स्वधर्मीं॥ ६२॥ किडाळ झाडावया दृष्टीं। रज देऊनि पाठींपोटीं। सुवर्ण घालितां पुटीं। झळकत उठी निजतेजें॥ ६३॥ तैसा मज अर्पितां स्वधर्म। त्याचें सफळ होय निजकर्म। ऐसें नेणोनियां निजवर्म। कर्मभ्रम कर्मठां॥ ६४॥ मज अर्पिती हातवटी। अवघड वाटेल जगजेठी। ज्यासी आवडी माझी मोठी। त्याची दृष्टी मदर्पण॥ ६५॥ कृष्णीं निश्चळ ज्याचें मन। त्याचें कर्म तितुकें कृष्णार्पण। त्यासी न अर्पितांही जाण। सहजें मदर्पण होतसे॥ ६६॥ जो रथीं निश्चळ होऊनियां बैसे। तो न चळतांही चालतु दिसे। जाण स्वकर्म त्याचें तैसें। अनायासें मज अर्पे॥ ६७॥ यापरी होऊनि अकामात्मा। सुखें आचरावें स्वधर्मा। तेणें सांडूनि रजतमा। सत्त्वें पुरुषोत्तमा पावती॥ ६८॥ वर्णाश्रमसमुद्भवा। मूळ आश्रयो मी वोळखावा। कुळकर्मनिजस्वभावा। उपासावा मी एकु॥ ६९॥ वर्णासी आश्रयो मी प्रसिद्ध। जे जन्मले मुखबाहूरुपाद। आश्रमा आश्रयो मी विशद। गर्जती वेद ये अर्थीं॥ ७०॥ देवो देवी कुळाचार। यांचें वस्तीचें मी घर। एवं मी सर्वाधार। हा कर्मी विचार देखावा॥ ७१॥ गुज परियेसीं उद्धवा। कर्माकर्माध्यक्षु मी जाणावा। कर्मी मीचि अभिलाषावा। क्रियेनें धरावा मी एकु॥ ७२॥ एवं आदि-मध्य-अंतीं। मी अविनाशु धरितां चित्तीं। तीं कर्मेंचि निष्कर्में होतीं। जाण निश्चितीं उद्धवा॥ ७३॥

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम्। गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम्॥ २॥

यापरी स्वधर्मे जाण। ज्यांचें विशुद्ध अंतःकरण। ते विषयीं उदासीन। हें वोळखण तयांचें॥ ७४॥ तयांसी विषयाची आस्था। नाहीं नाहीं गा सर्वथा। परी सर्वार्थविपरीतता। विषयासक्तता देखती॥ ७५॥ भरलीं मृगजळाचीं तळीं। तेणें न पिकती साळी केळी। तैसी विषयबुद्धी जवळी। स्वसुखफळीं फळेना॥ ७६॥ पाहें पां विषयासक्त। कर्मारंभीं संकल्प करित। आयुःकामार्थ क्षेमार्थ। धनधान्यार्थसमृद्धी॥ ७७॥ या हेतू कर्म आरंभित। तें स्वकर्म नव्हे निश्चित। स्वधर्ममिषें मनोरथ। उपासित सर्वदा॥ ७८॥ बैलाची कांस दुहितां। शिंपीभरी दूध न ये हाता। तेवीं मनोरथ उपासितां। न लभे सर्वथा 'निजसुख'॥ ७९॥ एवं कर्मचि तें कर्म नव्हे। केल्याही सिद्धी न पवे। तें विघ्नबाहुल्यें नाश पावे। विघ्न संभवे देवांचें॥ ८०॥ विषयसेवनीं

आहे सुख। या बुद्धीं शिणशिणोनि मूर्ख। पावले परम दुःखें दुःख। मुख्य याज्ञिक घालूनि॥ ८१॥ वेदत्रयी जाणूनि सकळ। यज्ञकर्मी अतिकुशळ। वांछितां स्वर्गादिक फळ। पतन केवळ अधोमुखें॥ ८२॥ ऐसेनि विवेकें निपुणदृष्टी। जो स्वर्गु नेघे तृणासाठीं। वैराग्य लागे त्यापाठीं। उठाउठी घर रिघे॥ ८३॥ तो वैराग्याचें माहेर। विश्रांतीचें विसावतें घर। तो नररूपें साचार। 'विवेकु' साकार पैं झाला॥ ८४॥ ऐसेनि विवेकें विवेकदृष्टी। स्वर्गादि विषय मिथ्या सृष्टी। ते मिथ्यात्वाची गोठी। ऐक जगजेठी उद्धवा॥ ८५॥

सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः। नानात्मकत्वाद्विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः॥ ३॥

स्वप्न आणि मनोरथ। मनोमात्र-विलसित। ते निद्रितासी सत्य पदार्थ। मिथ्या होत। जागृतीं॥ ८६॥ तैसें कामनेचेनि उल्हासें। इंद्रियांचेनि सौरसें। उभय भोगपिसें। नाथिलें वसे बुद्धीसी॥ ८७॥ शिंपी शिंपपणें असे। धनलोभ्या रुपें भासे। तेवीं विषयाचेनि अभिलाषें। भेदपिसें नसतेंचि॥ ८८॥ स्वप्नीं देखिलें आत्ममरण। जागृतीं मिथ्या म्हणे आपण। तैसा स्वरूपीं जागा झाल्या जाण। जन्ममरण त्या नाहीं॥ ८९॥ जंववरी भेदाची भेदसिद्धी। तंववरी जन्ममरण बाधी। भेदु मिथ्या झालिया त्रिशुद्धी। अभेदीं बाधी तें नाहीं॥ ९०॥ तो भेदु कैसेनि तुटे। निजस्वरूप कैसेनि भेटे। ते अर्थीं साधन गोमटें। ऐक चोखटें विभागें॥ ९१॥

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत्। जिज्ञासायां सम्प्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम्॥ ४॥

चित्तीं वासनांचे मळ। तेणें भेदु भासे सबळ। तो नाशावया चित्तमळ। कर्म निर्मळ सेवावें॥ ९२॥ मागां सांगीतलें निश्चित। जें कां नित्यनैमित्य। तेंचि कर्म गा 'निवृत्त'। साधकीं प्रस्तुत सेवावें॥ ९३॥ जो प्रवर्तला माझ्या भजनीं। तेणें 'काम्य' सांडावें निपटूनी। हें मागां सांगितलें विवंचूनि। कामना मनीं न धरावी॥ ९४॥ धरोनि मदर्पणाचें बळ। 'नित्य' आचरतां निर्मळ। चित्ताचे चैत्य-मळ। जाती तत्काळ नासोनि॥ ९५॥ कृषीवळु करी शेतासी। यथार्थ द्रव्य दे राजयासी। तो न भी ग्रामकंटकांसी। तेवीं कृष्णार्पणेंसीं होतसे॥ ९६॥ जाहल्या चित्तमळक्षाळणें। नित्यविवेकु उपजे तेणें। इहामुत्रां लाता हाणे। अनित्य त्यजणें वैराग्यें॥ ९७॥ एवं वैराग्य झालिया अढळ। तेणें सत्त्व होय प्रबळ। तेव्हां मज जाणावया केवळ। वृत्ति निर्मळ ते काळीं॥ ९८॥ करितां माझीं चिंता। कामक्रोध नाठवती चित्ता। थोर लागली माझी अवस्था। न राहे सर्वथा अणुभरी॥ ९९॥ हो कां ऐशिये अवस्थेसी। कर्मक्रिया नावडे ज्यासी। तेणें संन्यासूनि सर्व कर्मांसी। ब्रह्मज्ञानासी रिघावें॥ १००॥ श्रवण मनन करितां। कर्मासी झालिया विगुणता। बाधक नव्हे माझ्या भक्तां। कर्मकिंकरता त्यां नाहीं॥ १॥ स्वधर्म केलिया फळ काये। चित्ताचा मळमात्र जाये। भक्तु भजनें निर्मळ आहे। बाधूं न लाहे स्वकर्म॥ २॥ एवं कर्माची चोदना। मद्भक्तासी नाहीं जाणा। करितां श्रवणकीर्तना। कर्मबंधना नातळती॥ ३॥ ऐशिया जिज्ञासावस्थेसी। कर्मबाधा नाहीं त्यासी। मुख्य तात्पर्य ब्रह्मज्ञानासी। हेंचि उद्धवासी सांगतु॥ ४॥

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचित्। मद्भिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम्॥ ५॥

होआवया वृत्तीचा उपरम। अहिंसा-सत्यादि धर्म। आचरावे अविश्रम। बाह्य नेम अविरोधें॥ ५॥ आचरतां अहिंसा-सत्यादिकांसी। तंव तंव दशा उजळे कैसी। अतिप्रीति गुरुभक्तीसी। अहर्निशीं गुरु चिंती॥ ६॥ सद्गुरूवीण ब्रह्मज्ञान। सर्वथा नव्हे नव्हे जाण। हें उपनिषदर्थें

प्रमाण। परम निर्वाण साधिलें॥ ७॥ डोळा देखणाचि आहे। त्यासी सूर्य नव्हतां साहो। सिद्ध पदार्थ देखों न लाहे। स्तब्ध राहे अंधारीं॥ ८॥ नाव तारी हे साचार। माजीं बैसले थोर थोर। परी तारकेंवीण परपार। समर्थ नर न पावती॥ ९॥ पर्जन्यें भूमी मार्दवा आली। बीजें कणिंग असे भरली। परी ज्ञातेन पेरणी नाहीं केली। तंव पिकाची बोली पोंचट॥ ११०॥ रत्न सांपडलें अवचितें। परी खरें खोटें संशय तेथें। रत्नपारखी करी मोलातें। अतियत्न त्यातें मग करिती॥ ११॥ तैसें निजस्वरूप आइतें। श्रद्धा-सद्गुरूचेनि हातें। खरें करूनियां ज्ञाते। निजसुखातें पावले॥ १२॥ साधावया निजज्ञान। करितां सद्गुरूचें सेवन। निवाले संत सज्जन। आनंदघन सद्गुरु॥ १३॥ म्हणसी साधनें केलीं अनेक। तैसें सद्गुरूही साधन एक। म्हणतां मुमुक्षु झाला मूर्ख। निजात्मसुख बुडालें॥ १४॥ सद्गुरु केला तो साधन। त्याहूनि परतें साध्य आन। म्हणतां आली नागवण। नागवला जाण सर्वस्वें॥ १५॥ जो चित्सुखें सदा संपन्न। चिद्रूपें ज्यासी समाधान। तो चिन्मात्राहोनि भिन्न। नव्हे जाण सर्वथा॥ १६॥ लवण सागरीं रिघालें। तेव्हांचि तें समुद्र झालें। दीपें वणवया आलिंगिलें। वणवाचि झालें तें तेज॥ १७॥ एवं चिद्रूपाचें ज्यासी ज्ञान। तो चिद्रूपचि सत्य संपूर्ण। गुरु ब्रह्म अभिन्न जाण। ये अर्थीं प्रमाण उपनिषदें॥ १८॥ हो कां घृताची पुतळी। नव्हतां घृतपणावेगळी। घृतरूपें रूपा आली। तैसी मूर्ती झाली सद्गुरूची॥ १९॥ तो चित्सुखाचा पुतळा। कीं सच्चिदानंदाचा सोहळा। प्रत्यक्ष देखावया डोळां। धरी लीलाविग्रहो॥ १२०॥ त्याची होआवया भेटी। पाहिजेति भाग्याचिया कोटी। हे बोलणेंवरी दिसे दिठी। तैसी गोठी ते नाहीं॥ २१॥ सद्गुरु जेउती वास पाहे। तेउती सुखाची सृष्टी होये। तो म्हणे तेथ लवलाहें। महाबोधु राहे स्वानंदें॥ २२॥ त्या सद्गुरूचे देखिल्या पाये। तहानभूक तत्काळ जाये। कल्पना उठोंचि न लाहे। निजसुख आहे गुरुचरणीं॥ २३॥ त्या सद्गुरूचें लक्षण। सांगतां शब्दुं थोंटावे जाण। जो सनातन ब्रह्म पूर्ण। ऊणखूण त्या नाहीं॥ २४॥ तंही स्फुरली एकी स्फूर्ती। त्यासी सर्वार्थीं दिसे शांती। शांतीवेगळी उपपत्ती। प्रमाण निश्चिती रिघेना॥ २५॥ शांति तेचि समाधान। शांति तेचि ब्रह्मज्ञान। शांती तेचि ब्रह्म पूर्ण। सत्य जाण उद्धवा॥ २६॥ ऐसी सद्गुरूची स्थिती। ऐकोनि शिष्याच्या चित्तीं। वाढली अतिप्रीती। गुरुभक्तीलागोनी॥ २७॥ यालागीं गुरुगवेषणा। उसंतु घेवों नेदी अंत:करणा। अष्टौ प्रहर विचक्षणा। गुरुलक्षणा लक्षितु॥ २८॥ कैं तो स्वामी देखेन ऐसा। कैं हा माझा फिटेल फांसा। कैं उपरमु होईल मानसा। सद्गुरुपिसा तो झाला॥ २९॥ आयुष्य वेंचतें उठाउठी। अझूनि नव्हे सद्गुरूसी भेटी। झाल्या मनुष्यदेहासी तुटी। सर्वस्व शेवटीं बुडेल॥ १३०॥ ऐकतां गुरूचें नांव। मनापुढें घेत धांव। ते गोठीसीच देत खेंव। येवढी हांव जयाची॥ ३१॥ सद्गुरु प्रत्यक्ष न भेटतां। मनेंचि पूजी गुरुनाथा। परमादरें पूजा करितां। प्रेम तत्त्वतां न संटे॥ ३२॥ सद्गुरु भेटावयाकारणें। हिंडे तीर्थें तपोवनें। गुरु न विसंबे मनें। नित्यविधानें आचरतां॥ ३३॥ सद्गुरुप्राप्तीचिया काजा। लहानथोरांची करी पूजा। अत्यादरें मानी द्विजा। गुरु मज माझा भेटावा॥ ३४॥ अस्वलाचिया परी। गुरुनामाचा जप करी। गुरुवांचोनि निरंतरीं। चिंता न करी आनाची॥ ३५॥ आसनीं भोजनीं शयनीं। गुरूतें न विसंबे मनीं। जागृतीं आणि स्वप्नीं। निदिध्यासनीं गुरु केला॥ ३६॥ गुरुस्मरण करितां देख। स्मरणें विसरे तहानभूक। विसरला देहगेहसुख। सदा संमुख परमार्था॥ ३७॥ ऐसी सद्गुरूची आवडी। ज्याची आस्था चढोवढी। त्यासी गुरुरूपें

तांतडी। भेटी रोकडी मी देतों॥ ३८॥ जंव जंव आस्था अधिक। तंव तंव भेटीची जवळिक। साधनांमाजीं हें साधन मुख्य। आस्थाचि एक विशेष॥ ३९॥ करितां वरिष्ठसाधनकोडी। बोधाची जोडेना कवडी। सद्गुरुभजनाची अर्ध घडी। जोडी कोडी बोधाच्या॥ १४०॥ सद्गुरुभजनीं लागवेगें। मोक्ष येऊनि पायां लागे। गुरुभक्त तोही नेघे। चरणरंगें रंगला॥ ४१॥ श्रीगुरुचरणाची गोडी। विसरवी मोक्षसुखाच्या कोडी। गुरुभजनीं जयां अनावडी। ते संसार बांदवडीं पडियेले॥ ४२॥ छेदावया संसारबंधन। करावें सद्गुरुसेवन। सद्गुरुसेवा तें माझें भजन। गुरु-आम्हां भिन्नभावो नाहीं॥ ४३॥ गुरुभक्तांची श्रद्धा गाढी। आणि गुरुभजनाची गोडी। ते सांगितली आवडीं। प्रत्यक्ष उघडी करूनि॥ ४४॥ सहज प्रसंगें येणें। शिष्यांचींही लक्षणें। सांगेन तुजकारणें। कृष्ण म्हणे उद्धवा॥ ४५॥

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः। असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ६॥

मान देखोनि सहसा। शिष्य सांकडों लागे कैसा। जेवीं गळीं लागला मासा। चरफडी तैसा सन्मानें॥ ४६॥ नांवें ऐकोनि बागुलातें। बाळ सांडूं पाहे प्राणातें। तेवीं ऐकतांचि सन्मानातें। भयें प्राणांतें सांकडें॥ ४७॥ चंडवातें जेवीं केळी। समूळ कांपे चळवळी। कां लहरींच्या कल्लोळीं। कांपे जळीं रविबिंब॥ ४८॥ सन्मानु तेणें पाडें। दृष्टीं देखोनि नावडे। महत्त्वें थोर सांकडें। अंगाकडे येवों नेदी॥ ४९॥ आदरें घेतां सन्मान। दृढ होईल देहाभिमान। सांडोनि मानाभिमान। हीनदीन होऊनि असे॥ १५०॥ समूळ नामरूप जाये। मज कोणी देखों न लाहे। ऐसी दशा जेणें होये। ते ते उपाये करीतसे॥ ५१॥ लौकिक देखोनि उद्वेगु। देहगेहांचा उबगु। एकलेपणीं अतिचांगु। न धरी संगु द्वैताचा॥ ५२॥ मज कोणीं न देखावें। मज कोणीं न वोळखावें। मज कोणीं न लाजावें। ऐसें जीवें वांछितु॥ ५३॥ मान देखोनियां दिठीं। लपे देहउपेक्षेच्या पोटीं। जेवीं चोर लागलिया पाठीं। लपे संकटीं धनवंतु॥ ५४॥ मी एकु लौकिकीं आहें। ऐसें कोणा ठावें नोहे। ऐशी ऐशी दशा पाहे। मानु न साहे यालागीं॥ ५५॥ सांडावया अहंममता। मानु न पाहे सर्वथा। लौकिकीं सन्मानु घेतां। दृढ अहंता होईल॥ ५६॥ ज्याचें पोटीं दृढ अभिमान। ते सदा वांछिति सन्मान। जो सांडूं निघे अभिमान। तो मानापमान न पाहे॥ ५७॥ जेणें घेतला सन्मान। त्यासी नेघवे अपमान। तेथ सहजें आला देहाभिमान। यालागीं सन्मान नावडे॥ ५८॥ सन्मानु घ्यावया तत्त्वतां। ज्ञातेपण मिरवी ज्ञाता। ते संधीं वसे ममता। अर्थस्वार्थाचेनि लोभें॥ ५९॥ एवं नापेक्षी सन्मान। हें प्रथम शिष्याचें लक्षण। आतां 'निर्मत्सरत्व' संपूर्ण। तें सुलक्षण परियेसीं॥ १६०॥ सज्ञानामाजीं वैर। ज्ञातृत्वाचाचि मत्सर। तेथें देहाभिमानें केलें घर। अतिदुस्तर जीवासी॥ ६१॥ ज्ञानाभिमानाची गोष्टी। वेंचुनी तपाचिया कोटी। दुजी करीत होता सृष्टी। अभिमान पोटीं ज्ञानाचा॥ ६२॥ ज्ञानाभिमानु दुर्वासासी। व्यर्थ शापिलें अंबरीषासी। म्यां सोशिलें गर्भवासासी। ज्ञानाभिमानासी भिऊनि॥ ६३॥ ज्ञानाभिमानु ब्रह्मयासी। नेलें गोपालवत्सांसी। मज होणें पडिलें त्या वेषांसी। ज्ञानाभिमानासी भिऊनि॥ ६४॥ उद्धवा ज्ञानाभिमान। सर्वां अभिमानांमाजीं कठिण। वसिष्ठ विश्वामित्र जाण। ज्ञानाभिमानें भांडती॥ ६५॥ एवं ज्ञानाभिमानांभेण। म्यां घेतलें गोवळेपण। मज मूर्ख म्हणती याज्ञिक ब्राह्मण। त्यांसी ज्ञानाभिमान कर्माचा॥ ६६॥ मुख्य माझीच हे ऐशी दशा। तेथें इतरांचा पाडु कायसा। ज्ञानाभिमानाचा दृढ फांसा। नुगवे सहसा ज्ञात्यासी॥ ६७॥ ज्ञानाभिमानाची जाती कैशी। उभा न ठाके मूर्खापाशीं। वैर लावी सज्ञानासी। समत्सरेंसीं

वर्तवी॥६८॥ एवं निर्मत्सर होणें ज्यासी। तेणें सांडावें ज्ञानाभिमानासी। येरवीं तो ज्ञातयासी। समत्सरेंसीं नांदवी॥६९॥ ऐक मत्सराची सामग्री। देहीं देहाभिमान दृढ करी। तोही ज्ञातेपणाचें बळ धरी। लोभ माझारीं अर्थस्वार्थें॥१७०॥ इतुकी सामग्री जेथें होये। तोचि समत्सर द्वेषु वाहे। शुद्ध शिष्य हें न साहे। त्यागोनि जाये मत्सरु॥७१॥ मत्सराची जाती कैशी। अवश्य वसे ज्ञात्यापाशीं। मत्सर थोर पंडितांशीं। यावज्जन्मेंसीं न संडिती॥७२॥ पंडित भेटती समत्सर। लवणभंजन अतिनम्र। बोलती अतिमधुर। समत्सर छळणोक्तीं॥७३॥ मत्सरें पंडित येती क्रोधा। असदारोपणें करिती निंदा। एवढी मत्सराची बाधा। नातळे कदा सच्छिष्यु॥७४॥ मत्सरु ज्ञात्यातें न सोडी। मा इतर काइसी बापुडीं। शिष्य द्वेषाची गोष्टी सोडी। मत्सरु तोडी सर्वस्वें॥७५॥ मत्सर सांडूनि तत्त्वतां। शिष्यें रहावें सर्वथा। निर्मत्सरतेची कथा। ऐक आतां सांगेन॥७६॥ पुढूनि स्वार्थु नेतां। द्वेष उपजों नेदी चित्ता। भूतीं भगवंतु भावितां। द्वेषु सर्वथा येवों नेदी॥७७॥ निंदेचिया वाग्बाणीं। दारुण विंधिल्या दुर्जनीं। द्वेषु उपजों नेदी मनीं। हित मानीं निंदेचें॥७८॥ जेणें जेणें निजनिंदा केली। तो तो मानी हित माउली। पापमळांची क्षाळणता झाली। शुद्ध केली माझी वृत्ति॥७९॥ ऐसऐशिया विवंचना। द्वेषु आळों नेदी मना। निर्मत्सरता ते हे जाणा। दुसरी लक्षणा शिष्याची॥१८०॥ यावरी जे 'दक्षता'। तेही तुज सांगों आतां। शिष्याची प्रागल्भ्यता। निजस्वार्थालागोनि॥८१॥ उगवल्या सावधान-भास्करा। नाशी निद्रेतंद्रेच्या अंधारा। होय धारणेचा दिवसु खरा। धृतीच्या दुपारा वर्ततु॥८२॥ त्या दिवसाचेनि लवलाहें। शमदमादि समुदायें। भक्तिपंथें चालताहे। मार्गीं न राहे क्षणभरी॥८३॥ तेथ उचलतां पाउलीं। निजबोधाची पव्हे ठाकिली। जेथ पांथिकांची निवाली। तृषा हरली तृष्णेची॥८४॥ तेथ निजग्रामींचे भेटले। सोहंसांगाती एकवटले। तेथूनि चुकणया मुकले। नीट लागले निजपंथीं॥८५॥ ऐकें बापा विचक्षणा। आळस विलंबु नातळे मना। त्या नांव 'दक्षता' जाणा। 'तिसरी' लक्षणा शिष्याची॥८६॥ जुनाट संग्रहो सवें होता। ते सर्व सांडिली ममता। सांडिल्याची क्षिती मागुता। न करी सर्वथा निजबोधें॥८७॥ देहीं दृढ धरावी अहंता। तेणें देहसंबंधीयांची ममता। देहाभिमानु नातळे चित्ता। गेली ममता न लगतां॥८८॥ देह नश्वरत्वें देखिला। विष्ठामूत्रांचा मोदळा। यालागीं अहंकारु गेला। 'सोहं' लागला दृढभावो॥८९॥ दृढ वाढवूनि सोहंता। तेणें सांडविली अहंममता। हे 'चौथी' गा अवस्था। जाण तत्त्वतां शिष्याची॥१९०॥ गुरु माता गुरु पिता। गुरु गणगोत तत्त्वतां। गुरु बंधु सुहृदता। निजस्वार्था शिष्याच्या॥९१॥ गुरुपरिचर्या नित्यकर्म। गुरुसेवा हाचि स्वधर्म। गुरु तोचि आत्माराम। सुहृदसंभ्रम सद्गुरूसी॥९२॥ ऐसें सद्गुरूसी 'सुहृद' पण। असावें शिष्यासीं संपूर्ण। हें 'पांचवें' गा लक्षण। सत्य जाण उद्धवा॥९३॥ चंचळत्वें चळु चित्ता। येवों नेदीच सर्वथा। निजीं निजरूपनिश्चळता। साधी सर्वथा सर्वस्वें॥९४॥ जन्ही चंचळ झालें अंग। चित्त गुरुचरणीं निश्चळ चांग। अंगीं वाजतां लगबग। वृत्ति अभंग गुरुचरणीं॥९५॥ शरीर वर्ततां व्यापारा। ज्याचे हृदयीं नाहीं त्वरा। गुरुचरणीं धरिला थारा। हा शिष्यु खरा परमार्थी॥९६॥ ज्यासी हृदयीं चंचळता। तो शिष्य नव्हे निजस्वार्था। ज्याचे अंतरीं 'निश्चळता'। तोचि परमार्था साधकु॥९७॥ ऐसी साधूनि निश्चळता। ज्यासी निजस्वार्थीं जिज्ञासुता। तोचि क्षणार्धें परमार्था। पावे तत्त्वतां गुरुवाक्यें॥९८॥ जैसा दीपु दीपें लाविला। लावितांचि तत्समान झाला। तैसा

निश्चळास गुरु भेटला। तो तत्काल झाला तद्रूप॥ ९९॥ एवं अंतरीं जें निश्चळपण। तें शिष्याचें श्रेष्ठ लक्षण। तो 'सहावा' गा गुण जाण। तेणें निर्दळण षड्विकारां॥ २००॥ षड्विकार देहावरी। शिष्यु देहबुद्धी हातीं न धरी। यालागीं मावळिजे विकारीं। गुरुवाक्येंकरीं वर्ततां॥ १॥ ऐसी साध्य करूनि 'निश्चळता'। साधूं रिघे जो परमार्था। धरोनियां अर्थजिज्ञासुता। होये भजता गुरुचरणीं॥ २॥ ज्यासी अर्थजिज्ञासा नाहीं। तो भजेना गुरुच्या ठायीं। जरी भजेल कहींबहीं। तरी स्वार्थें पाहीं विषयाच्या॥ ३॥ सांडोनियां विषयस्वार्था। इत्थंभूत जाणावया अर्था। जो भजे परमार्था। 'जिज्ञासता' त्या नांव॥ ४॥ ऐशी धरोनि जिज्ञासता। चढती आवडी परमार्था। आराणुक नाहीं चित्ता। निजस्वार्थाचेनि लोभें॥ ५॥ अतिप्रीती परमार्था। चढती वाढती आस्था। हे 'सातवी' लक्षणता। जाण तत्त्वतां शिष्याची॥ ६॥ हें सातवें लक्षण। परमार्थाचें अंगण। पावलें असे जाण। जिज्ञासुपणाचेनि नेटें॥ ७॥ गुरु बहुतांची साउली। शिष्यवर्गांची माउली। तेथ असूया जेणें केली। त्याची बुडाली निजप्राप्ती॥ ८॥ यालागीं गुरूचा जो जो अंकित। तो तो गुरुत्वेंचि मानित। असूया नाठवे मनांत। अतिविनीत सर्वांसी॥ ९॥ गुरुबंधु कनिष्ठ दीन। त्याच्या ठायीं उत्तम गुण। जाणोनि न मनीं आपण। असदारोपण तेथें करी॥ २१०॥ पुढिलांचा उत्तम गुण। त्यासी मिथ्या लावूनि दूषण। लटिकें म्हणे त्याचें ज्ञान। 'असूया' जाण त्या नांव॥ ११॥ प्रत्यक्ष भेटल्या वर्णी गुण। नम्र होवोनि वंदी चरण। सवेंचि मागें करी छळण। 'असूया' संपूर्ण या नांव॥ १२॥ सच्छिष्यु ये अर्थीं निर्मळ। हों नेदी असूयेचा विटाळ। उत्तम-मध्यम-प्राकृतमेळ। वंदी परी छळ करूं नेणे॥ १३॥ गुरूनें शिकविली वस्तुसमता। तेथ निरंतर ठेवूनि चित्ता। समभावें वंदी समस्तां। छळूं सर्वथा तो नेणे॥ १४॥ यापरी गा उद्धवा। छळूं नेणे कोणा जीवा। हा 'अनसूयु' म्हणावा। गुण आठवा शिष्याचा॥ १५॥ हे अष्टौमहामणिमाळी। अखंड ज्याच्या हृदयकमळीं। तो पावे सद्गुरूजवळी। नवी नव्हाळी भेटीची॥ १६॥ यावरी नववें लक्षण। तें जाण नवविधान। सत्यधूत संभाषण। वाग्विलापन सांडूनि॥ १७॥ सद्गुरूप्रति जाण। मृदु विनीत करी प्रश्न। सत्याचें सत्य तें गुरुवचन। मानी जाण निजभावें॥ १८॥ युक्ति वाढवून उदंड। नाना मतें अकांडतांड। साह्य संचरूनि पाखांड। गर्जत तोंड महावादें॥ १९॥ साधका बाधका युक्ती। माजीं संचरूनि छळणोक्ती। आपुली मिरवावी युक्ती। हें नाहीं चित्तीं शिष्याचे॥ २२०॥ सद्गुरूपुढें अतिजल्प। करणें तेंचि महापाप। जाणूनि सांडी वृथालाप। मिथ्या जल्प बोलेना॥ २१॥ शिष्याचें बोलणें कैसें। वाचा परिपक्क अमृत जैसें। बोल घोळले प्रेमरसें। प्रश्न पुसे एकांतीं॥ २२॥ मिथ्यावादाचीं अपक्व फळें। तुरटें तिखटें तोंडाळें। सदेठीं झडलीं पूर्वकाळें। बोले प्रांजळें परिपक्व॥ २३॥ बोलों नेणे छळ छद्म। स्पर्शों नेणें परवर्म। बोलीं नुपजवीं अधर्म। मनोधर्मक्षोभक॥ २४॥ व्यर्थ न करी आशंका। निंदेलागीं तो मुका। झकवूं नेणे लोकां। बाळां मूर्खां पंडितां॥ २५॥ बोलों नेणे अतिकर्कश। करूं नेणे उपहास। बोलामाजीं न धरी आस। बोले नैराश्य वैराग्य॥ २६॥ बोलीं बोलूं नेणे आटू। छळणोक्तीं नव्हे शठू। बहु बोलतां मानी विटू। मौननिष्ठु होऊनि राहे॥ २७॥ वादविवाद अतिवाद। नावडे कोणाचा संवाद। न करी बोलाचा विनोद। लौकिक शब्द न बोले॥ २८॥ वक्रोक्ति नाहीं जाण। बोलीं न बोले विंदाण। करूं नेणे प्रतारण। मिथ्या वचन न बोले॥ २९॥ पोटीं कार्य नाहीं करणें। हो हो म्हणवूनि झकविणें। हेंही नाहीं तया बोलणें। सदा पठणें हरिनाम॥ २३०॥

पश्चिमद्वारीचें कवाड। सदा वारेनि करी खडखड। तैशी न करी बडबड। वृथा तोंड पिटीना॥ ३१॥ करितां शब्दब्रह्मसंवादु। युक्तिबाधें विद्वांसा क्रोधु। अनिवार देखोनि बाधु। न बोले शब्दु शाब्दिक॥ ३२॥ न मिरवी शब्दज्ञान। न दाखवी आत्ममौन। न धरी वचनाभिमान। सदा स्मरण गुरूचें॥ ३३॥ बोलें नुपजवी उद्वेग। बोलावया न करी उद्योग। बोलीं नुठवी महावेग। अनुद्वेग बोलणें॥ ३४॥ सत्य आणि अतिमधुर। आइकतां आल्हादकर। सर्वांसी हितत्वें साचार। बोले सनागर हरिकथा॥ ३५॥ प्रार्थूनियां सद्गुरूसी। बहु बोलणें नाहीं त्यासी। पुसणें एकाक्षरासी। निजसुखासी सेवावया॥ ३६॥ एवं शिष्याचीं नव लक्षणें। नवखंड पृथ्वीची आभरणें। निजकृपेनें नारायणे। भक्ताकारणें दीधलीं॥ ३७॥ हे नवरत्नमाळा गोमटी। जो घाली सद्गुरूच्या कंठीं। तो बैसे सायुज्याच्या पाटीं। उठाउठीं तत्काळ॥ ३८॥ या नवरत्नांचें पदक! ज्या शिष्याचे हृदयीं देख। तो सद्गुरूचा आवश्यक। विश्वासिक सर्वार्थीं॥ ३९॥ या नवरत्नांची अभिनव गांठी। जो सद्गुरूसी आणी भेटी। तो स्वराज्याच्या मुकुटीं। झळकत उठी महामणी॥ २४०॥ उद्धवा येथें आशंका धरिसी। 'नांदतां स्त्रीपुत्रधनधान्येंसीं। निर्ममता शिष्यासी। कैसेनि त्यासी उपजली'॥ ४१॥

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु । उदासीनः समं पश्यन् सर्वेष्वर्थमिवात्मनः॥ ७॥

येविखीं सादर ऐक। शिष्य निरसावया निजदुःख। पावावया आत्मसुख। साधी विवेकसाधनें॥ ४२॥ विचारितां आत्मसुख। सर्व देहीं समान देख। विजातीय स्त्रीपुरुषवेख। सुखविशेख तेथ नाहीं॥ ४३॥ पाहें पां स्त्रीपुरुषदेहीं। आत्मा आत्मी हें तंव नाहीं। आत्मसुख आपुल्या ठायीं। असे पाहीं स्वतःसिद्ध॥ ४४॥ सुखाचिलागीं सर्वथा। झोंबती प्रपंचपदार्था। ज्यासी गुरुवाक्य आलें हातां। अद्वैतता निजसुख॥ ४५॥ एकपणीं निजात्मसुख। हातां आलें नित्य निर्दोख। आतां द्वैत वांछी तो अतिमूर्ख। थितें सुख नासावया॥ ४६॥ प्रपंचामाजीं असतें सुख। तरी कां त्यजिते सनकादिक। द्वैत तितुकें केवळ दुःख। परम सुख अद्वैतीं॥ ४७॥ हेंचि साधकीं साधूनि ज्ञान। स्त्री पुत्र स्वजन धन। त्यांसी झाले उदासीन। अद्वैतीं मन लागलें॥ ४८॥ तेथ कोणाचें गृह क्षेत्र। कोण पुसे कलत्र पुत्र। धनधान्यसमृद्धि विचित्र। माझें स्वतंत्र देह न म्हणे॥ ४९॥ ऐकें उद्धवा यापरी। माझे भक्त संसारी। उदास झाले घरदारीं। तत्त्वविचारीं लिगटोनि॥ २५०॥ लिगटोनियां गुरुचरणीं। केली प्रपंचाची झाडणी। मग अत्यादरें गुरुभजनीं। निजसुखदानी गुरुरावो॥ ५१॥ गुरुसेवेसी अत्यादर। न राहे आठौ प्रहर। ठेविलें गुरुचरणीं अंतर। निरंतर निजभावें॥ ५२॥ उद्धवा येथ आशंका धरिसी। 'जे देहावेगळें कोणे वस्तूसी। देखोनि पावला निजसुखासी। विदेहत्वासी अनुभवु'॥ ५३॥ देहीं असोनि विदेहता। प्रपंचीं असोनि अद्वैतता। आली शिष्याचिया हातां। तेही कथा परियेसीं॥ ५४॥

विलक्षणः स्थूलसूक्ष्मादेहादात्मेक्षितास्वदृक् । यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः॥ ८॥

स्थूलसूक्ष्मदेहांहून। आत्मा तो सर्वदा भिन्न। तेणें वेगळेपणें जाण। करी वर्तन प्रपंचीं॥ ५५॥ जीव उभय देहीं वर्ततां। प्राणियांसी देहातीतता। स्फुरत असे सर्वथा। तोचि तत्त्वतां नेणती॥ ५६॥ म्हणे 'माझा डोळा दुखों लागला'। परी न म्हणे 'मीचि दुखों आला'। माझा पावोचि मोडला'। परी 'मी मोडला' हें न म्हणे॥ ५७॥ यापरी देहीं वर्ततां। प्रत्यक्ष सांगे देहातीतता। हे आपुली आपणां अवस्था। न कळे भ्रांता देहभ्रमें॥ ५८॥ द्रष्टा दृश्य नव्हे सर्वथा।

तें जड तो चेतविता। एवं आत्म्यासी विलक्षणता। जाण तत्त्वतां या हेतू॥ ५९॥ विलक्षणता दों प्रकारेंसीं। एक ते जाण द्रष्टेपणेंसीं। दुसरी ते स्वप्रकाशेंसीं। देहद्वयासी विलक्षण॥ २६०॥ द्रष्टा दृश्याहूनि भिन्न। तरी 'तो म्हणसी झाला मन'। तें चार्वाकमत जाण। मनपण त्या नाहीं॥ ६१॥ अकरा इंद्रियांमाजीं जाण। मन तेंही एक करण। करणत्वें त्या जडपण। आत्मा नव्हे जाण या हेतू॥ ६२॥ प्रपंचीं मनाची दक्षता। तें मनपणेंचि नव्हे तत्त्वतां। जेवीं प्राणेंवीण नृपनाथा। न दिसे सर्वथा निजभाग्य॥ ६३॥ शस्त्राचेनि एकें घायें। छेदिले लोहार्गळसमुदाये। तें शस्त्राचें सामर्थ्य नोहे। बळ पाहें शूराचें॥ ६४॥ लोहाचा लोहगोळ। अग्निसंगें झाला इंगळ। धडधडां निघती ज्वाळ। तें नव्हे बळ लोहाचें॥ ६५॥ त्या लोखंडाऐसें जड मन। त्यासी चित्प्रभा प्रकाशून। प्रकृतीमाजीं प्रवर्तन। करवी जाण श्रेष्ठत्वें॥ ६६॥ पाव्यामाजीं रागज्ञान। केल्या अतिमधुर गायन। तो पाव्याचा नव्हे गुण। कळा जाण गात्याची॥ ६७॥ तैसा मनाचा जो व्यापार। तो जाण पां परतंत्र। नव्हे याचा तो स्वतंत्र। जड विचार मनाचा॥ ६८॥ सूर्याचेनि किरणसंगें। सूर्यकांतीं अग्नि निधे। तैसें आत्म्याचेनि प्रकाशयोगें। मन सवेगें वर्तत॥ ६९॥ मन जडत्वें जड जाण। आत्मा स्वप्रकाशें प्रकाशघन। मन तें आत्म्याआधीन। आत्मा स्वाधीन आत्मत्वें॥ २७०॥ प्रत्यक्ष म्हणे 'माझें मन'। परी 'मीचि मन' न म्हणे जाण। यालागीं मनाहूनि आत्मा भिन्न। वेगळेपणें साक्षित्वें॥ ७१॥ देहद्वयाहूनि भिन्न। दृढ साधूनि आत्मज्ञान। देहात्मबुद्धीचें छेदन। केलें जाण शिष्याचें॥ ७२॥ यालागीं देहात्मवादी। जे सत्य मनिती उपाधी। ते मिथ्या केली त्रिशुद्धी। शुद्ध बुद्धि ते नव्हे॥ ७३॥ मनावेगळा साधिला पाहा हो। तो तुं म्हणसी पितामहो। तो देवांमध्यें श्रेष्ठ देवो। हाही संदेहो न धरावा॥ ७४॥ हो का कल्पाचिये आदी। ब्रह्मयासी मौढ्य होतें आधीं। करूं न शके सृजनविधी। जड बुद्धि तयाची॥ ७५॥ त्यासी करूनि सावधान। म्यांचि प्रकाशिलें निजज्ञान। तेव्हां तो झाला ज्ञानसंपन्न। सृष्टिसृजन करावया॥ ७६॥ नाभिकमळीं जन्मलें केवळ। ब्रह्मा माझे पोटींचें बाळ। माझ्या दोंदावरी खेळे खेळ। आत्मा केवळ तो नव्हे॥ ७७॥ जितुका देवांचा समुदावो। तितुका प्रकाश्यचि पाहा हो। मी प्रकाशकु अनादि देवो। स्वप्रकाशस्वभावो आत्मा तो मी॥ ७८॥ देहद्वय आणि मन। त्यांहूनि आत्मा विलक्षण। हिरण्यगर्भाहूनि जाण। विलक्षणपण आत्म्याचें॥ ७९॥ हिरण्यगर्भचि परमात्मा। हेंही न घडे गा भक्तोत्तमा। मी हिरण्यगर्भाचाही आत्मा। माझी महिमा त्या कैंची॥ २८०॥ एवं हिरण्यगर्भउपासना। ते साधनरूपेंचि सेवना। परी केवळ आत्मपणा। न ये जाणा मायिकत्वें॥ ८१॥ तेचि विलक्षणता। आणोनियां दृष्टांता। साधीतसें तत्त्वतां। भक्तांच्या हाता चढे जेणें॥ ८२॥ अग्नि काष्ठामाजीं वसे। परी तो काष्ठचि होऊनि नसे। मथिल्या काष्ठीं प्रकट दिसे। जाळी उल्हासें काष्ठातें॥ ८३॥ तैसा आत्मा देहीं असे। तो देहोचि होऊनि नसे। ब्रह्मज्ञानें जेव्हां प्रकाशे। जाळी अनायासें देहभाव॥ ८४॥ असोनि एके ठायीं जाण। दाह्याहूनि दाहक भिन्न। तैसें प्रकाश्याहूनि जाण। भिन्नपण स्वप्रकाशा॥ ८५॥ अग्निदृष्टांतें निश्चित। आत्मयाचें निजतत्त्व। नित्यत्व आणि विभुत्व। असे साधित निजबोधें॥ ८६॥ काष्ठाचेनि योगें अग्नीसी। जन्मनिरोधु नामरूपांसी। पावे तेवीं आत्मयासी। विकारता तैसी देहयोगें॥ ८७॥

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतानगुणान्। अन्तःप्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान्परः॥ ९॥

नाना काष्ठांच्या संयोगीं। काष्ठांचे गुण अग्नीच्या अंगीं। आले दिसती प्रत्यक्ष जगीं। अग्नि

ते संगीं अलिप्त॥ ८८॥ काष्ठमथनें अग्नि प्रकटला। त्या नांव म्हणती 'उपजला'। काष्ठाकारीं आकारला। लहान थोर झाला तद्योगें॥ ८९॥ अग्नि काष्ठविकारवशें। त्रिकोण वर्तुळ वक्र आभासे। काष्ठाचेनि निःशेष नाशें। 'नाशला' ऐसें मानिती॥ २९०॥ तैसा अज नित्य अव्ययो। त्यासी आकार-विकार जन्म-लयो। हा देहादिसंबंधस्वभावो। मिथ्या पहा हो मानिती॥ ९१॥ जें साधिलें अग्निदृष्टांतें। तें उद्धवासी न मनेल चित्तें। यालागीं निरूपण मागुतें। श्रीअनंतें मांडिलें॥ ९२॥ उद्धवा तूं ऐसें म्हणसी। 'मूळीं सिद्धसंयोगु अग्निकाष्ठासी। तो काष्ठधर्मु लागला अग्नीसी। हे आम्हांसी मानलें॥ ९३॥ आत्मा नित्यसिद्धु अविकारी स्वांगें। जो गगनासी नातळे अंगें। त्यासी देहसंगु केवीं लागे। मग तद्योगें विकारी॥ ९४॥ आत्म्यासी देहसंगु घडे। हें बोलणेंचि तंव कुडें। ऐसें न घडतेंही जरी घडे। तरी तो सांपडे देहबुद्धीं॥ ९५॥ जो देहबुद्धीमाजीं आला। तो केवळ देहधारी झाला। पुढें केवीं जाय त्यागु केला।' ऐसा उपजला संदेहो॥ ९६॥ कृष्ण म्हणे उद्धवासी। ऐसी शंका झणें धरिसी। मन घालोनि मनाचे मानसीं। या अर्थासी परियेसीं॥ ९७॥ हे शब्दचातुर्यासाठीं। हाता न ये गा जगजेठी। हे माझ्या गुप्ताचीही गुप्त गोठी। तुजसाठीं बोलतों॥ ९८॥

योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि। संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसोविद्याच्छिदात्मनः॥ १०॥

ऐकें पुरुष जो पुरुषोत्तम। ज्या आधीन मायागुणग्राम। ज्यासी 'ईश्वर' ऐसा नामधर्म। शास्त्रानुक्रम बोलती॥ ९९॥ त्या ईश्वराची जे माया। ज्या उपजविलें नाना कार्या। जीव संसारी करावया। भ्रमु वायां वाढविला॥ ३००॥ तेथें चैतन्य जें प्रतिबिंबलें। तेंचि 'जीव' पणें वाच्य झालें। जेवीं थिल्लरीं चंद्रबिंब बुडालें। दिसे नाथिलें मूर्खांसी॥ १॥ त्या थिल्लरासी नातळत। चंद्रमा असे गगनीं अलिप्त। तैसा आत्मा अविद्यातीत। अविद्या नातळत प्रतिबिंबाला॥ २॥ 'अहमिति' प्रथमाध्यासें। सूक्ष्म लिंगदेह मायावशें। नाना अनर्थकारी कैसें। वासनासौरसें उपजलें॥ ३॥ जरी लिंगदेह झालें सबळ। विषयभोगा दृढ मूळ। तरी भोगु नव्हे स्थूळ। सूक्ष्म भूतगोळ स्थूळावला॥ ४॥ स्थूळापासोनि स्थूळ देहो। पांचभौतिक घडला पहा हो। एवं उभयदेह अभिप्रावो। झाला निर्वाहो या रीतीं॥ ५॥ ऐसा उभय देहीं वर्ततां। दृढ लागली देहात्मता। तेणें वाढली अहंममता। मी कोण हें तत्त्वतां विसरला॥ ६॥ न कळे निजसुखाची गोडी। पडला विषयांचिये वोढी। पापपुण्यांचिया जोडी कोडी। पडिली बेडी सुबुद्धा॥ ७॥ देहाध्यासें देहधर्म। सत्य मानी वर्णाश्रम। मग आचरों लागे कर्म। फळसंभ्रम वांछूनि॥ ८॥ राजा चक्रवर्ती निजमंदिरीं। निजेला सुमनशेजेवरी। तो स्वप्नीं होऊनि भिकारी। अंत्यजाघरीं अन्न मागे॥ ९॥ तेथ कुटका एकु यावया हाता। नीचासी म्हणे राजा रे तूं तत्त्वतां। परी मी राजा हें नाठवे चित्ता। स्वप्नीं भिक्षुकता दृढ झाली॥ ३१०॥ तैसी विसरोनि निजात्मता। फळें मागे देवां देवतां। मी देवांचा देवो तत्त्वतां। हें त्यासी सर्वथा नाठवे॥ ११॥ त्या स्वप्नाचेनि अतिअध्यासें। राजा वोसणावे 'मी भिकारी' ऐसें। ऐकोनि सेवकां येत हांसें। राजा स्वप्नवशें जल्पतु॥ १२॥ येथ गाढ मूळ अवस्थाघोरें। सर्वांग गडबडी निदसुरें। नागवें उघडें न स्मरे। निद्राभरें घोरत॥ १३॥ त्यासी थापटी पुरोहितु। जागा होतां होय विस्मितु। मग नागवेपणा आच्छादितु। सांगों लाजतु भिक्षुकता॥ १४॥ तेवीं अविद्या निद्रा उद्भटा। जल्पे मी देही मी करंटा। मी संपन्नु मी ज्ञाता मोठा। देहात्मनिष्ठा बडबडी॥ १५॥ तेणें निदसुरपणाचे लाहें। कर्माकर्मांचे

पसरी पाये। हिताहित कोण पाहे। देहमोहें मोहितु॥ १६॥ तो गाढमूढ अवस्थेआंतु। होता दीर्घसंकल्पें लोळतु। लोभें अतिजल्पें जल्पतु। वोसणतु 'मी माझें'॥ १७॥ तेथें दैवयोगें गडबडितु। अवचटें गुरुचरणीं आदळतु। निकटता देखोनि कृपावंतु। थापटितु निजबोधें॥ १८॥ 'ब्रह्माहमस्मि' ऐसी वाणी। एक वेळ पडली कानीं। अविद्या निद्रा गेली पळोनी। तो तत्क्षणीं जागिन्नला॥ १९॥ जागतांचि होय विस्मित। 'मी देह' म्हणतां लाजत। देहकर्म देखे निंदित। कर्मातीत ब्रह्म मी॥ ३२०॥ होआवया संसारबंधन। यासी अविद्याचि गा कारण। तिसी छेदावया जाण। खड्ग तीक्ष्ण ब्रह्मविद्या॥ २१॥ अविद्या निरसी ब्रह्मज्ञान। ते अवश्य ब्रह्माहोनि भिन्न। मोडलें म्हणसी अद्वैतपण। तें नव्हे जाण सिद्धांतीं॥ २२॥ प्रपंचु अज्ञानें लाठा। ज्ञानअज्ञानाच्या सत्त्ववाटा। फेडिजे कांटेन कांटा। मग खटपटा निमाल्या॥ २३॥ अविद्या जीवबंधनी। ब्रह्मविद्या बंधच्छेदनी। या समूळ तुजलागुनी। सांगितल्या दोनी सविस्तर॥ २४॥ तेचि ब्रह्मविद्या जाणा। कैसेनि प्राप्त होय आपणा। ते पूर्वपीठविवंचना। सावधमना परियेसीं॥ २५॥

तस्माज्जिज्ञासयाऽऽत्मानमात्मस्थं केवलं परम्। सङ्गम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम्॥ ११॥

उद्धवा याचिलागीं नित्य। जिज्ञासें बैसवावें चित्त। तिसी विवेक उपजवित। सत्यासत्यविभागें॥ २६॥ तेथ असत्य तितकी 'अविद्या'। जिचेनि जीवासी परम बाधा। तिच्या समूळ करावया छेदा। 'सद्विद्या' साधावी॥ २७॥ सद्विद्या साधिलिया पाहीं। केवळ वस्तु ते दूरी नाहीं। असे आपुल्याचि ठायीं। येचि देहीं कूटस्थ॥ २८॥ कार्यकारणसंघात। यामाजीं वस्तु असे व्याप्त। व्यापूनियां अलिप्त। नित्यमुक्त स्वभावें॥ २९॥ करूनि सद्विद्यासाधन। धरूनि आत्मानुसंधान। देहद्वयाचें निरसन। साधकें जाण साधावें॥ ३३०॥ स्थूल नश्वरत्वे मिथ्या झालें। सूक्ष्म वासनामय कल्पिलें। ते कल्पनेसी मिथ्यात्व आलें। ब्रह्म उरलें निर्विकल्प॥ ३१॥ जैशा गगनीं नाना मेघपंक्ती। निजबळें त्या वर्षती। त्याचि शारदियेचे अंतीं। हरपोनि जाती आकाशीं॥ ३२॥ तैसी देहीं देहात्मबुद्धी। दृढ केली होती त्रिशुद्धी। तेचि विवेकाचिया प्रबोधीं। नास्तिकसिद्धी पावली॥ ३३॥ देह-असद्भावाची पदवी। ब्रह्मविद्येच्या सद्भावीं। खद्योततेजाची दिवी। सूर्ये देखावी कैसेनि॥ ३४॥ दोर भासला होता विखार। त्याचा करितां निजनिर्धार। हारपोनियां सर्पाकार। उरे दोर निजरूपें॥ ३५॥ पाहतां विवेकाचेनि निवाडें। दोराचें सर्पत्व जेवीं उडे। तेवीं ब्रह्मसद्भावीं रोकडें। देह नातुडे सत्यत्वें॥ ३६॥ 'नरदेह आश्रयून। ब्रह्मविद्या वाढली जाण। तें आपुलें जन्मस्थान। देहनिर्दळण केवीं करी'॥ ३७॥ उद्धवा तूं ऐसऐसी। आशंका झणीं धरिसी। ते अग्निउत्पत्तिदृष्टांतेंसीं। तुजपाशीं सांगेन॥ ३८॥

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः। तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः॥ १२॥

दों काष्ठांचिया घसणीं। अग्नि काढिला मंथोनि। तो काष्ठें काष्ठ जाळूनी। अग्नि अग्निपणीं प्रज्वळला॥ ३९॥ तैसी ब्रह्मविद्या जाण। गुरुशिष्यसंवादमंथन। त्या मंथनाचें निरूपण। सावधान परियेसीं॥ ३४०॥ येथ आचार्य आद्य अरणी। शिष्य तो झाला उत्तरारणी। उपदेश तो मंथास्थानीं। संवादमंथानीं मंथावे॥ ४१॥ ये मंथनी जरी आळसु केला। तरी ज्ञानाग्नीचा अविर्भाव गेला। आपणिया आपण वंचला। थित्या मुकला साधना॥ ४२॥ धरितां आळसाची मागी। येव्हडा अनर्थु वाजे अंगीं। आठही प्रहर शिणतांति योगी। या योगालागीं साधावया॥ ४३॥ निजस्वार्थालागीं सावधान। गुरुवचनाचें अनुसंधान। अविश्रम करितां मंथन। ब्रह्मज्ञान तैं

प्रकटे॥ ४४॥ प्रकटलें ब्रह्मज्ञान। उरों नेदी देहाचें भान। दृश्य द्रष्टा दर्शन। करी प्राशन तात्काळ॥ ४५॥ कार्य कर्म आणि कर्ता। ज्ञान ज्ञेय आणि ज्ञाता। हें उरों नेदी सर्वथा। निजात्मता निजबोधें॥ ४६॥ निजबोधें संसार-दुःख। निरसूनि दिधलें निजसुख। निजात्मसुखीं निःशेख। मायागुण देख नासिले॥ ४७॥

वैशारदी सातिविशुद्धबुद्धिर्धुनोति मायां गुणसम्प्रसूताम्।
गुणांश्च सन्दह्य यदात्ममेतत्स्वयं च शाम्यत्यसमिद्यथाग्निः॥ १३॥

नाशावया निजमायागुण। शिष्य विशारद बुद्धिनिपुण। दैवी संपदेचें अधिष्ठान। सद्गुणीं संपन्न सर्वदा॥ ४८॥ ऐसा मुमुक्षु अधिकारवंतु। त्यासी शाब्दपरनिष्णातु। गुरूंनीं माथां ठेविला हातु। निजबोधु प्राप्तु तत्काळें॥ ४९॥ निजबोधीं बैसतां दृष्टी। गुणकार्य रिघे गुणांच्या पोटीं। तेव्हां गुणुचि गुणातें आटी। तमातें घोंटी मध्यमु॥ ३५०॥ तम खाऊन रजोगुण। अत्यंत उन्मत्त झाला जाण। त्याचें देखोनि उन्मत्तपण। सत्त्वें सत्त्वगुण खवळला॥ ५१॥ जेव्हां खवळला सत्त्वगुण। त्यासी न साहे दुजेपण। रजोगुणांचें प्राशन। केलें जाण तत्काळ॥ ५२॥ केवळ सत्त्वाचा स्वभावो। तेणें निजसुखाचा अनुभवो। क्षणक्षणां नीच नवा पहावो। अतिनवलावो अनुभवीं॥ ५३॥ तेणें सुखानुभवें देखा। रजतमाच्या बीजकणिका। ज्या सृष्टिसृजनीं उन्मुखा। त्याही निःशेखा जाळिल्या॥ ५४॥ तेव्हां गुण प्रसवती माया। शोधित सत्त्वें आणिली लया। ते सत्त्ववृत्ति एकलिया। अद्वैततया उरलीसे॥ ५५॥ तेव्हां 'ब्रह्माहमस्मि' लक्षण। तेंही हों लागलें क्षीण। सोहंहंसाची बोळवण। ते संधी जाण होतसे॥ ५६॥ तेथ देहींचें गेलें देहपण। जन्ममरणा आलें मरण। विश्वाचें न दिसे भान। आनंदघन कोंदला॥ ५७॥ तेणें सुखस्वरूप झाली दृष्टी। आनंदमय झाली सृष्टी। परमानंदें चढली पुष्टी। स्वानंदे मिठी घातली॥ ५८॥ त्या सुखाची मर्यादा। काइसेनिही नव्हे कदा। जेथ मौन पडिलें वेदां। वृत्ति तत्पदा पावली॥ ५९॥ द्वैत सर्वथा नाहीं पुढें। यालागीं वृत्तीची वाढी मोडे। तेव्हा तेही सुखस्वरूपीं बुडे। पुढें वाढे तें नाहीं॥ ३६०॥ जैसा निरिंधन अग्नी। जाय निजतेजीं मिळूनी। तैशी वृत्ति अद्वैतपणीं। मिळे मिळणीं सुखरूपीं॥ ६१॥ गंगा सागर मीनली। ते समुद्रचि होऊनि ठेली। कां लवणजळां भेटी झाली। मिठी पडली जळत्वें॥ ६२॥ दीपीं दीपु एकवटला। मिळणीं एकुचि होऊनि ठेला। तैसा वृत्तीचा लयो झाला। निर्व्यंग पावला निजसुख॥ ६३॥ तेव्हां आत्मा एक अद्वैत। तेंही म्हणणें नाहीं तेथ। एवं द्वैताद्वैतातीत। नित्य निश्चित निजात्मा॥ ६४॥ तो ज्ञानस्वरूप स्वप्रकाश। अविकारी अविनाश। अकर्ता अभोक्ता उदास। निर्विशेष निजरूप॥ ६५॥ तो अदेही अगोत्र। अचक्षु अश्रोत्र। अमनस्क अमंत्र। सर्व मंत्र-मंत्रार्थ जो॥ ६६॥ जो अज आद्य अप्रमेय। अतर्क्य अलक्ष्य अव्यय। नामरूपादि अभाव्य। भावना भाव ते शून्य॥ ६७॥ जो भोग्य भोग नव्हे भोक्ता। जो कार्य कर्म नव्हे कर्ता। कर्ता अकर्ता या वार्ता। जेथ सर्वथा निमाल्या॥ ६८॥ जो अविनाशी अभंग। जो शुद्ध बुद्ध असंग। देहद्वयाचा संग। ज्यातें अंग स्पर्शेना॥ ६९॥ आत्म्यावेगळें तें अनित्य। हा पूर्वनिश्चय होतां सत्य। आतां बुडाले नित्यानित्य। सबराभरित निजात्मा॥ ३७०॥ नेणपण निमालें सर्वथा। बुडाली जाणपणाची अवस्था। गुणगुणीगुणातीतता। हेही तत्त्वतां तेथ नाहीं॥ ७१॥ उद्धवा परमात्मा तो तत्त्वतां। हा माझा निश्चयो सर्वथा। तोचि उपनिषदर्थें अर्थितां। निजात्मता प्रतिपाद्य॥ ७२॥ येथ पावलियाहि वृत्ति। होय संसारनिवृत्ति। हाचि वेदांतीं सिद्धांतीं।

निश्चयो निश्चितीं केला असे॥ ७३॥ येथूनि कार्य-कर्मकर्तव्यता। नि:शेष खुंटली सर्वथा। निजीं निजरूप निजात्मता। जाण तत्त्वतां पावल्या॥ ७४॥ हे अद्वैतश्रुतिसुरवाडें। सद्गुरुकृपा-उजियेडें। वृत्ति निजात्मपदा चढे। भाग्य केव्हडें पाहें पां॥ ७५॥ मी वंद्य देवादिदेवां। त्या माझाही निजज्ञानठेवा। परम कृपेनें उद्धवा। तुज म्यां आघवा दीधला॥ ७६॥ तुज होआवया निवृत्ती। हाचि अर्थु नानासंमतीं। सांगितला परम प्रीतीं। जाण निश्चितीं उद्धवा॥ ७७॥ आतां देहादिक जे असंत। अतिनिंद्यत्वें कुत्सित। तेथ आतळों नेदीं चित्त। होई अलिप्त परमार्थीं॥ ७८॥ हे तुज झाली अलभ्य प्राप्ती। परी यत्न करावा अतिनिगुतीं। येथ मतांतरें छळूं येती। तेही उपपत्ती परियेसीं॥ ७९॥

अथैषां कर्मकर्तृणां भोक्तृणां सुखदु:खयो:। नानात्वमद्य नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम्॥ १४॥

नाना फळें अभिलाषिते। कर्माचे जे कर्मकर्ते। सुखदु:खांचे जे भोक्ते। अनेकत्वें येथें अनंत॥ ३८०॥ म्हणती जे मानिती एकात्मता। तरी एकाचेनि सुखें सुख समस्तां। कां एकाचेनि पापें पापता। न घडे सर्वथा सकळांसी॥ ८१॥ ऐसें कर्मवादियांचें मत। जीव नित्य आणि अनंत। मुख्य ईश्वरचि नाहीं म्हणत। कर्ते येथ निजकर्म॥ ८२॥ मीपणें जें स्फुरे स्फुरण। ते प्रतिशरीरीं जीव भिन्न। त्यांच्या स्वरूपाचें प्रमाण। कर्ता भोक्ता जाण म्हणताति॥ ८३॥ ऐकें विवंचना सावचित्त। लोक काळ श्रुति जीवित। अनेकत्वें अनित्य। हें वेदांतमत पैं माझें॥ ८४॥ उद्धवा कर्मवाद्यांचें ऐसें मत। सत्य मानील तुझें चित्त। तरी बुडवील निजस्वार्थ। अंगीं अनर्थ वाजेल॥ ८५॥ तोचि अनर्थ म्हणसी कैसा। तरी कर्मवाद्यांचा भावो ऐसा। हा पूर्वपक्षाचा ठसा। अभिप्रावो ऐसा परियेसीं॥ ८६॥ परमात्मा निर्विकाररूप। एक न मानिती सर्वस्वरूप। संन्यासु ऐकतां म्हणती पाप। मतजल्प मतवाद्यां॥ ८७॥ त्यागसंन्यास जे करिती। त्यांतें अनधिकारी म्हणती। कर्म मुख्यत्वें मानिती। वैराग्य निंदिती निजमतें॥ ८८॥ कर्म करोनि भोगिजे सुख। तें कर्म त्यजिती नि:शेख। निष्कर्मासी कैंचें सुख। परम दु:ख तो त्यागु॥ ८९॥ वैराग्य न घडावया कारण। चौं प्रकारीं बोलती जाण। तेंही सांगेन मी लक्षण। सावधान परियेसीं॥ ३९०॥ म्हणती अनित्य असते कांहीं। तरी वैराग्य घडतें ते ठायीं। येथ अनित्यचि नाहीं। वैराग्यें कायीं त्यजावें॥ ९१॥ वैराग्य होये चौं प्रकारीं। मीमांसक नित्य मानिती चारी। निजमताचा गर्व भारी। चाऱ्ही खरीं नित्यत्वें॥ ९२॥ कर्मप्रकाशक वेद मूळ। तो आगम नित्य मानी अढळ। जीव नित्यचि म्हणे सकळ। भोगकाळ तोही नित्य॥ ९३॥ स्वर्गादि लोक भोगस्थान। वेदु बोलिला आपण। मिथ्या नव्हे वेदवचन। चाऱ्ही प्रमाण नित्यत्वें॥ ९४॥ उद्धवा यापरी पाहीं। म्हणती अनित्य येथ नाही। वैराग्यें करावें कायी। मिथ्या पाहीं वैरागी॥ ९५॥ हो कां भोग्य जरी नश्वर होतें। अथवा मायिक कांहीं असतें। तरी वैराग्य संभवतें। तें तंव येथें असेना॥ ९६॥

मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा। तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धी:॥ १५॥

जीवाच्या भोग्यपदार्था। स्त्रक-चंदनादि-वनिता। त्यांसी प्रवाहरूपें नित्यता। म्हणती तत्त्वतां स्वमतें॥ ९७॥ आत्मा आहे जग नाहीं। हें घडलेंचि नाहीं कांहीं। जळेंवीण समुद्र पाहीं। उरला नाहीं सर्वथा॥ ९८॥ सृष्टि प्रवाहरूपें नित्य। पितृपुत्रत्वें अखंड वाहत। कर्मास्तव यातायात। सृष्टि अनित्य हें न घडे॥ ९९॥ नित्यासी ईश्वर कर्ता। हेंही न घडे गा तत्त्वतां। नित्याचा कोण नव्हे कर्ता। ईश्वरु सर्वथा येथ नाहीं॥ ४००॥ वेदांती स्वरूपभूत। आत्मा ज्ञानस्वरूप म्हणत। हेंही न घडे गा येथ। ऐसें स्वमत बोलती॥ १॥ घटपटाकार पाहातां। ज्ञानासी त्रिक्षणावस्था। आत्मा

ज्ञास्वरूप म्हणतां। लाज सर्वथा त्यां न ये॥ २॥ एवं वेदांत्याच्या ठायीं। आत्मनिश्चयो दृढ नाहीं। 'मोक्ष' म्हणती जो कांहीं। तोही पाहीं मिथ्याचि॥ ३॥ इंद्रियसुखेंवीण सुख। मोक्ष म्हणती ते अविवेक। इंद्रियद्वारा जीवांसी हरिख। भोगितांही मूर्ख न मानिती॥ ४॥ देहेंवीण विदेही। सुख भोगिजे कोणें कंहीं। अद्वैतवादी जल्पती कांहीं। तें सत्य नाहीं सर्वथा॥ ५॥ जीवासी जेणें सुखप्राप्ती। ते इंद्रियेंचि नाहीं म्हणती। डोळे फोडूनि देखणे होती। तैसी वदंती वेदांत्यां॥ ६॥ येथ ईश्वरुचि नाहीं फुडा। मा तो फळ देईल हा बोल कुडा। अद्वैतवादी मूर्ख गाढा। नागवी मूढां वैराग्यें॥ ७॥ गांव ठावो ना पदवी। तो मिथ्या ईश्वरु धरोनि जीवीं। कर्मफळीं नैराश्य करवी। अथवा सांडवी कर्मातें॥ ८॥ नरदेहीं ज्ञान उपजलें। तेणें देहचि नाशिलें। फळें वृक्षमूल छेदिलें कोणीं देखिलें कोठेंही॥ ९॥ ज्ञानाचे परिपाकदशें। म्हणती अवघा संसारुचि नाशे। सृष्टि प्रवाहरूपें नित्य असे। नित्य नासे कैसेनि॥ ४१०॥ मनुष्याचे हृदयींचें ज्ञान। तेणें संसाराचें निर्दळण। तरी खद्योततेजें जाळिले जाण। ग्रहगण शशी सूर्य॥ ११॥ एवं करूं जातां निवृत्ति। केले कष्ट ते मिथ्या होती। इंद्रियेंवीण सुखप्राप्ति। नव्हे निश्चितीं जीवासी॥ १२॥ यालागीं निवृत्ति ते वृथा कष्ट। सर्वांसी प्रवृत्तिच अतिश्रेष्ठ। कर्में करोनियां उद्धट। फळें वरिष्ठ भोगावीं॥ १३॥ संसार म्हणती मायिक। ते जाणावे केवळ मूर्ख। संसारावेगळें सुख। नाहीं देख जीवासी॥ १४॥ मनुष्याधिकारें सुखप्राप्ति। यालागीं देव मनुष्यत्व वांछिती। वेदांती मनुष्यत्व निंदिती। केवीं ते युक्ती मानावी॥ १५॥ वेदें अधिकारु बोलिला। तो वेदुचि इंहीं वेडा केला। यांचे लागला जो बोला। तो नागवला सर्वस्वें॥ १६॥ वेदाचें वेदवचन। सर्वार्थीं तें प्रमाण। मिथ्या म्हणतो तें वेदवचन। थोर सज्ञान हे झाले॥ १७॥ ऐशी मीमांसकांची वदंती। नानापरींच्या चाळिती युक्ती। आपुलें मत स्थापिती। तें मिथ्या निश्चितीं उद्धवा॥ १८॥ लापनिका ऐसें मिथ्या त्यांचें मत। अंगीकरूनि प्रस्तुत। प्रपंचअनर्थता दावित। दृढ स्थापित वैराग्य॥ १९॥

एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः। कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत्॥ १६॥

म्हणें आइकें बापा उद्धवा। हा मिथ्या मतवादु आघवा। म्हणसी कैसेनि जाणावा। विवेक करावा मतांचा॥ ४२०॥ निवृत्ति ते केवळ कष्ट। म्हणती प्रवृत्ति अतिश्रेष्ठ। प्रवृत्तीमाजीं परम कष्ट। मरण अरिष्ट अनिवार॥ २१॥ धरोनियां जन्ममूळ। अखंड लागलासे काळ। लवनिमिष पळपळ। काळ वेळ साधित॥ २२॥ जैसें संवचोराचें साजणें। तैसें काळाचें जोगवणें। वेळ आल्या जीवेंप्राणें। नाहीं राखणें सर्वस्वें॥ २३॥ काळु न म्हणे हाट घाट। न म्हणे अवसी पहांट। न म्हणे देश विदेश वाट। नाशी उद्धट निजतेजें॥ २४॥ करितां प्रवृत्तीचे कष्ट। अवचितां मृत्यूचा चपेट। अंगीं वाजे जी उद्धट। अहा कटकट ते काळीं॥ २५॥ जीवीं वासनेच्या थोर हांवा। म्हणे गेलों मेलों धांवा पावा। कोण निवारी मृत्युप्रभावा। उपावो तेव्हां चालेना॥ २६॥ काळु मारोनि नोसंडी। यातना भोगवी गाढी। सवेंचि गर्भवासीं पाडी। जेथ दुःखकोडी अनिवार॥ २७॥ मातेच्या जठरकुहरीं। विष्ठामूत्रांच्या दाथरीं। अधोमुख नवमासवरी। उकडी भारी जठराग्नी॥ २८॥ विष्ठालेपु चहूंकडे। नाकीं तोंडीं कृमी किडे। गर्भवासींचे कष्ट गाढे। कोणापुढें सांगेल॥ २९॥ कट्वम्ललवणमेळें। गर्भवतीचे पुरती डोहळे। त्वचेवीण गर्भांग पोळे। तेणें दुःखें लोळे अतिदुःखी॥ ४३०॥ ते गर्भोदरींची व्यथा। नेणती माता आणि पिता। तेथ नाहीं कोणी सोडविता। जीवींची व्यथा जीव

जाणे॥ ३१॥ ज्या ठायाची करूं नये गोठी। प्रकट दावूं नये दिठी। ते योनिद्वारें अतिसंकटीं। जन्म शेवटीं जीवासी॥ ३२॥ जे नित्य मूत्राची न्हाणी। कीं नविया नरकाची खाणी। जे रजस्वलारुधिराची श्रेणी। जन्म तेथोनी पावती॥ ३३॥ अपवित्र विटाळशीचें रुधिर। तें गोठोनि झालें जी शरीर। निंद्यद्वारें जन्मोनि नर। आम्ही पवित्र म्हणविती॥ ३४॥ गर्भवासाहूनि गाढें। दुःखकोण आहे पुढें। मतवादी बोले तें कुडें। सुख नातुडे प्रवृत्तीं॥ ३५॥ एके जन्में जन्म न सरे। एकें मरणें मरण नोसरे। कोटि कोटि जन्मांचे फेरे। काळ योनिद्वारें करवितु॥ ३६॥ पुढतीं जन्म पुढतीं मरण। अनिवार लागलें जाण। प्रवृत्तीमाजीं सुख कोण। दुःख दारुण भोगवी॥ ३७॥ जन्ममरणांमाजिले संधीं। आणिकही थोर दुःख बाधी। त्या दुःखाची दुःखसिद्धी। ऐक त्रिशुद्धी सांगेन॥ ३८॥ धाडीभेणें पळतां थोर। आडवे नागवती चोर। तैसें जन्ममरणांचें अंतर। षड्विकार राखती॥ ३९॥ षड्विकारांच्या पतिव्रता। षड्ऊर्मी लागल्या जीविता। एवं प्रवृत्तीमाजीं परम व्यथा। सुख सर्वथा असेना॥ ४४०॥ कर्मवादियांच्या मतां। जीवु स्वतंत्र कर्मकर्ता। म्हणती ते मिथ्या वार्ता। परतंत्रता प्रत्यक्ष॥ ४१॥

अत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते। भोक्तुश्च दुःखसुखयोः कोन्वर्थो विवशं भजेत्॥ १७॥

जीवासी असती स्वतंत्रता। तरी तो दुःखभोगु न भोगिता। सदा सुखीचि असता। पापें न करिता अळुमाळु॥ ४२॥ जीवु बापुडें सदा दीन। कर्मे करूनि कर्माधीन। कर्मफळदाता तो भिन्न। सुखदुःखें जाण तो भोगवी॥ ४३॥ यालागीं ईश्वराची सत्ता। तो कर्मफळाचा दाता। जीवु सुखदुःखांचा भोक्ता। स्वतंत्रता त्या नाहीं॥ ४४॥ ऐसें लक्षितां लक्षण। जीवु तितका पराधीन। पराधीनपणें जाण। भोगी दारुण सुखदुःख॥ ४५॥ मजलागीं दुःख होआवें। ऐसें कोणी भावीना जीवें। न वांछितां दुःख पावे। येणें न संभवे स्वतंत्रता॥ ४६॥ श्रुतिस्मृतींतें विचारितां। जीवासी नाहीं स्वतंत्रता। पराधीनपणें वर्ततां। भोगी अप्रार्थितां सुखदुःख॥ ४७॥ वादी परिहार करिती। साङ्ग कर्म जे नेणती। ते ते जीव दुःखी होती। सुख पावती कर्मज्ञ॥ ४८॥ जे सदाचार श्रोत्री। जे याज्ञिक अग्निहोत्री। जे उभयलोकव्यापारी। साङ्ग करी कर्मातें॥ ४९॥ जे अविकळ अव्यंग। कर्मे करूनियां साङ्ग। उभय लोकीं सुखभोग। कर्मयोग भोगिती॥ ४५०॥ कर्मी ज्याची योग्यता। तो सुखभोगाचा भोक्ता। हेंहि न घडे गा सर्वथा। ऐक आतां सांगेन॥ ५१॥

न देहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि। तथा च दुःखं मूढानां वृथाहङ्करणं परम्॥ १८॥

कर्माचे जे तत्त्वतां ज्ञाते। तेही दुःखी देखों येथें। सुखी देखिजे मूर्खातें। जे कर्मातें नातळती॥ ५२॥ चुकोनि यज्ञपुरुषा अच्युतातें। अग्निहोत्री करिती यागातें । तें स्वकर्मचि त्यांचें त्यांतें। विपरीतार्थें फळतसे॥ ५३॥ अग्नि तो तंव स्वरूप माझें। श्रुतिमंत्र ते तंव माझीं बीजें। आणि होमद्रव्य जें जें। तेंही माझें स्वरूप॥ ५४॥ ऐशिया मज सर्वगतातें। नास्तिक्य देवोनि निजचित्तें। अनीश्वरवादी करिती यागातें। तोचि त्यांतें बद्धक॥ ५५॥ स्रुक स्रुवा आणि प्रणीतापात्र। मांडूं शिकले कर्मतंत्र। मज निजात्मयाचें चुकलें सूत्र। तेणेंचि अपवित्र तो यागु॥ ५६॥ सकळ हें सर्वमुखीं। मज अर्पितसे यज्ञपुरुखीं। हें न मनिजे याज्ञिकीं। बुद्धी अल्प कीं सकाम॥ ५७॥ मज न अर्पितां जें सुकृत। तेंचि जाण दुःख दुरित। विषा नांव अमृत म्हणत। तैसें सुकृत सकाम॥ ५८॥ मातें न पवतां जो स्वर्ग। तो जाणावा उपसर्ग। तेथींचा भोग तो महारोग। मूढ उद्योग याज्ञिकां॥ ५९॥ कर्मी कर्म विगुण होत। तेथ स्मरावा मी अच्युत। नामें न्यून तें

संपूर्ण होत। हें सामर्थ्य नामाचें॥ ४६०॥ तो मी अंगें आपण। याज्ञिकां मागों गेलों अन्न। मज नेदितीच ते ब्राह्मण। कर्मठपण तें कर्माचें॥ ६१॥ मज यज्ञपुरुषातें सांडून। करिती इंद्रादिकांचें भजन। ते इंद्रादिक मजअधीन। कर्मवैगुण्य हें त्यांसी॥ ६२॥ जे कर्म न करिती कृष्णार्पण। त्यांचें मळिण प्राक्तन। तेणें इहलोकीं दरिद्रता जाण। पडे विघ्न परलोकीं॥ ६३॥ चुकवूनियां निजमुख। सर्वांगीं खिरीसाकरेचा देख। लेपु देतां न वचे भूक। अधिक दुःख तेणें होय॥ ६४॥ तैसें मज चुकवूनि यज्ञपति। जे यागातें आचरती। बाळविधवे गर्भप्राप्ती। तैशीं फळें येती त्या यागा॥ ६५॥ कर्मउद्देशें द्रव्य मागतां। यज्ञफळ ने द्रव्यदाता। याज्ञिक तो राहे रिता। मी कर्ता हा अभिमानु॥ ६६॥ जैसा चाटू खिरीआंतु। चाटुवेंचि खिरी वाढिजेतु। चाटू खरकटल्या सांडितु। भोक्ते भोगितु परमान्न॥ ६७॥ सरस ऊंस घालिजे घाणा। रस पिळूनि भरे भाणा। रिता चोपटीं करकरी घाणा। ते गती जाणा याज्ञिकां॥ ६८॥ तैसे याज्ञिक यज्ञ आचरत। द्रव्यदात्यासी तें फल होत। पशुहिंसा याज्ञिकां प्राप्त। दोषी होत अभिमानें॥ ६९॥ एवं कर्मकुशळ याज्ञिक। यापरी ते भोगिती दुःख। कर्म नेणती जे मूर्ख। ते परम सुख भोगिती॥ ४७०॥ नेणती कर्माच्या घडामोडी। परी माझी श्रद्धा पोटीं गाढी। तेणें उल्लंघोनि दुःखकोडी। निजात्मगोडी भोगिती॥ ७१॥ कर्मीं कर्मादरु नेणत। माझ्या ठायीं श्रद्धायुक्त। भाळे भोळे माझे भक्त। सुख अनंत पावले॥ ७२॥ काय कर्म केलें गोपाळीं। जे अखंड मजसवें गोकुळीं। भोगिली निजसुखनव्हाळी। करोनि होळी कर्माची॥ ७३॥ पाहतां गोपिकांचें कर्म। कर्ममार्गीं निंद्य धर्म। पावल्या माझें परम धाम। जीवीं पुरुषोत्तम आवडला॥ ७४॥ खग-मृग-गो-सर्पादि समस्त। माझे निजपदीं झाले प्राप्त। याज्ञिकां कर्माभिमान बहुत। दुःख भोगित निजकर्मे॥ ७५॥ केवळ कर्मठ कर्मजड। आम्ही सर्वज्ञ ज्ञाते दृढ। हा अभिमान धरिती मूढ। दुःख वाड तयांसी॥ ७६॥ दीपीं पतंगा मरण देख। तो उडी घालितां मानी सुख। तैसें कर्मठां कर्म केवळ दुःख। मानिती सुख अभिमानें॥ ७७॥ अभिमानेंचि सर्वथा। नसती जीवासी म्हणे स्वतंत्रता। तेंही न घडे विचारितां। ऐक आतां सांगेन॥ ७८॥

यदि प्राप्तिं विघातं च जानन्ति सुखदुःखयोः। तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युनं प्रभवेद्यथा॥ १९॥

दुःख निरसूनि सुखप्राप्ती। यालागीं कर्मे आचरती। कर्मवादी ज्ञाते म्हणविती। तेही नेणती दुःखनाशु॥ ७९॥ कर्मे करितां नाशु नोहे। ऐसें दुःख कोण आहे। पुसशील तरी पाहें। यथान्वयें सांगेन॥ ४८०॥ मरणांवरतें दुःख चढे। ऐसें दुःख तंव नाहीं पुढें। तें निवारूं नेणती बापुडे। अति बळ गाढें मृत्युचें॥ ८१॥ आंतु घालितां हातु पोळे। तेणें उन्हवणेंन घर न जळे। तैसा कर्मे मृत्यु न टळे। प्रबळबळें अनिवार॥ ८२॥ मारिता मृत्यु जेणें मारिजे। तो उपावो कर्मठीं नेणिजे। कर्मामाजीं जेणें असिजे। अचुक पाविजे तेणें मृत्यु॥ ८३॥ अंतीं येईल मरणदुःख। जंव जीजे तंव भोगिजेल सुख। हें बोलेणे बोलती मूर्ख। जितां सुख त्यां कैंचें॥ ८४॥

कोन्वर्थः सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके। आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः॥ २०॥

जितांही सुखाची वार्ता। कर्मठां नाहीं सर्वथा। तेही सांगेन मी कथा। ऐक आतां उद्धवा॥ ८५॥ विखे रांधिलें मिष्टान्न। तें गोड न म्हणती सज्ञान। पुढें देखोनियां मरण। निःशेष तें अन्न सांडिती॥ ८६॥ आगी लागलिये घरीं। क्षण न राहिजे चतुरीं। मरण नादळतां उरीं। सांडूनि दूरी पळताति॥ ८७॥ धाडी आल्या निजद्वारीं। गोड न लगे साखरखिरी। तैसा मृत्यु जाणितलिया

शरीरीं। विषयाकारीं सुख कैंचें॥ ८८॥ दाढीसी लागलिया आगी। तो शृंगारु न मनी मुखालागीं। तैसा नीच नवा मृत्यु अंगीं। विषयसंगीं सुख कैंचें॥ ८९॥ उठिल्या मरणान्त व्यथा। जन धन अन्न आणि कांता। सुख नेदितीच सर्वथा। झालीं वृथा समूळ॥ ४९०॥ अंतकाळीं स्त्री धन। झालीं दुःखासीच कारण। त्यांसी सांडूनि न निघती प्राण। तळमळी जाण प्राणांतीं॥ ९१॥ जैसा सुळीं द्यावया जो नेइजे। त्यासी नाना समारंभु कीजे। मुखीं घालिती पंचखाजें। तेणें तो नव्हिजे सुखिया कीं॥ ९२॥ तैसें संमुख असतां मरण। विषयसुखें सुखावे कोण। विषय त्यागिती सज्ञान। मूर्खासी जाण आसक्ती॥ ९३॥ देहदुःखाची अर्धघडी। नाशी विषयसुखाची कोडी। विषयालागीं शिणती वेडीं। अविनाश गोडी निर्विषयीं॥ ९४॥ एवं या लोकांच्या ठायीं। सुख सर्वथैव नाहीं। लोकांतरीं म्हणती कांही। न घडे तेंही उद्धवा॥ ९५॥

श्रुतं च दृष्टवद्दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः। बह्वन्तरायकामत्वात्कृषिवच्चापि निष्फलम्॥ २१॥

जैसा देखिला हा लोक। तैसाचि श्रुत स्वर्गादिक। अनादि दोषयुक्त देख। सदोष मूर्ख वांछिती॥ ९६॥ स्वर्गीं म्हणसी दोष कोण। ऐक तयांचें लक्षण। स्पर्धा असूया नाश जाण। तप क्षीण दिविभोगें॥ ९७॥ तपसंपत्ति समान पाही। स्पर्धा मांडी त्याच्या ठायीं। मज समान भोगु पाही। तैं सुख नाहीं मानसीं॥ ९८॥ आपणाहोनि अधिक पदीं। त्यासी दोष आरोपोनि निंदी। तेथही ऐसी विषमबुद्धी। सुख त्रिशुद्धी तेथें कैंचें॥ ९९॥ यालागीं स्वर्गभोगें जें सुख। सकळां सारिखें नाहीं देख। तपानुसारें न्यूनाधिक। भोगिती लोक निजकर्में॥ ५००॥ एक उर्वशी भोगूं लागला। एक काळी विद्रूप पावला। भोगें तपक्षयो झाला। नाशु आला अनिवार॥ १॥ जंव जंव स्वर्गभोग भोगिती। तंव तंव तपाची क्षीणशक्ती। तपक्षयें क्षया जाती। नाशु पावती स्वर्गस्थ॥ २॥ स्वर्गप्राप्तीचिये विधी। कर्में करितां विघ्न बाधी। तेणें नव्हे स्वर्गसिद्धी। जाण त्रिशुद्धी उद्धवा॥ ३॥ जें गर्भींच सटवलें। त्याचें बारसे न वचे केलें। तेवीं कर्मींचि विघ्न उद्धवलें। पावणें ठेलें स्वर्गाचें॥ ४॥ म्हणसी विघ्न करी कोण। कर्म करितां होय विगुण। तें कर्मचि कर्मासि जाण। विघ्न दारुण उपजवी॥ ५॥ कर्मचि कर्मासी साधक। कर्मचि कर्मासी बाधक। कर्मचि कर्मासी मोचक। हें नेणोनि लोक गुंतले॥ ६॥ काम्य कर्मीं विघ्न विचित्र। देश काळ मंत्र तंत्र। द्रव्य दक्षिणा विधि पात्र। शुद्धि सर्वत्र पाहिजे॥ ७॥ जैसे क्षयरोगाचे रोगियासी। अल्प कुपथ्य बाधी त्यासी। तैसे जाण काम्य कर्मासी। अल्पदोषी सविघ्न॥ ८॥ प्रचंड दुधाचें भांडें। माजीं थेंबु एकु कांजी पडे। तेणें दहीं दूध ना तूप जोडे। करी खवडे दुधाचे॥ ९॥ तैसें काम्य कर्म जाण। अल्पही होतां विगुण। फळ नव्हे परी दारुण। तें कर्मचि विघ्न उपजवी॥ ५१०॥ कष्टोनियां बारा मासीं। जैसा कृषीवळु करी कृषी। त्याच्या फलाआड विघ्नें कैशीं। केल्या कष्टासी नाशक॥ ११॥ भूमि शुद्ध शुद्ध बीज। काळीं पर्जन्य कर्ता निरुज। उपकरण सामग्रीसमाज। पहिलें हें वोज पाहिजे॥ १२॥ पेरणी झालियापाठीं। देखणें राखणें कूपकांटी। सोंकरावें आवशीं पाहाटीं। आळसु पोटीं सांडूनी॥ १३॥ पीक येतयेतां कणशीं। आभाळें हिंसळा पडे त्यासी। कां कान्ही पडे पिकासी। घाली शेतासी निंदणें॥ १४॥ गर्वाचा तांबारा पडे। कां अहंतेचा रोग पडे। कीं अधर्माची आळी वाढे। पीक बुडें तेणेंही॥ १५॥ सबळ सोंकरणें न घडी। तरी आशेतृष्णेच्या भोरडी। कीजे पिकाची ओरबडी। दाणा बुडीं उरेना॥ १६॥ दंभाची घांटी पडिल्या ठायीं। घांटा दिसे परी दाणा नाहीं। कामक्रोधांच्या

उंदरीं पाहीं। मूळाच्या ठायीं करांडिलें॥ १७॥ आल्या विकल्पाची धाडी। शेतामाजीं नुरे काडी। कुवासना टोळांची पडे उडी। समूळ सशेंडी खुराट॥ १८॥ एवं कृषीवळाचे परी। सकामासी विघ्नें भारी। फळ अंतरलें दूरी। विघ्नसागरीं बुडाले॥ १९॥ स्वर्ग एकु याज्ञिक बहुत। यागीं देव विघ्नें करित। मुख्य इंद्रचि विघ्ना प्रवर्तत। स्वर्ग राखत निजभोग॥ ५२०॥ एकी वेश्या एकी राती। येथ सकाम बहुत येती। ते जैसे कलहो करिती। तैशी गती याज्ञिकां॥ २१॥ कां शुनि जैसी ऋतुस्नात। तिसी भोगूं येती श्वान बहुत। परस्परें गुरगुरित। तैसा स्वर्ग भोगत सकाम॥ २२॥ तेथ ज्यासी भोग घडे। भोगूं जातां अडकोनि पडे। भंडिमा होये जगापुढें। सज्ञान तोंडें थुंकिती॥ २३॥ जिचें भोगूं जाय सुख। अडकल्या ते होय विमुख। मैथुनद्वारें गुंतल्या देख। थुंकिती लोक मुखामुखीं॥ २४॥ तैशी याज्ञिकां स्वर्गप्राप्ती। भोगें होय तपच्युति। स्वर्गभोगीं गुंतली आसक्ती। विमुख पडती इहलोकीं॥ २५॥ एवं कृषीवळाचिया परी। स्वर्गप्राप्तीसी विघ्नें भारी। केले कष्ट वृथा करी। भोगु कैशापरी घडेल॥ २६॥ एक म्हणती कर्मकुशळ। आम्ही कर्म हों नेदूं विकळ। अच्छिद्र साधूनि सकळ। स्वर्गसुखफळ भोगूं॥ २७॥ उद्धवा ऐसेंही न घडे। तें मी सांगेन तुज पुढें। पंचश्लोकीं फाडोवाडें। विशद निवाडें परियेसीं॥ २८॥

अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः। तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु॥ २२॥

जेणें अंतराय न पवती। ऐशीं अच्छिद्र कर्मे नव्हतीं। जरी झालीं दैवगतीं। तरी स्थान प्राप्ती ते नश्वर॥ २९॥ कर्मे ज्या स्थानाप्रति जाये। तेथ गेलिया जें जें लाहे। तें तें सांगेन मी पाहें। सावध होयें उद्धवा॥ ५३०॥

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः। भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान् दिव्यान्निजार्जितान्॥ २३॥

पावोनि कर्मभूमि उत्तम। वर्णवरिष्ठ ब्राह्मणजन्म। ज्योतिष्टोमादिक करिती कर्म। नित्य काम्य अग्निहोत्र॥ ३१॥ त्रयीविद्या जाणती सकळ। कर्मकलापीं अतिकुशळ। ऐसे सज्ञान मूर्ख केवळ। स्वर्गफळ वांछिती॥ ३२॥ जेणें पुण्यें मी न जोडें। तें पुण्य म्हणतां वाचा रडे। याज्ञिक विषयासक्त गाढे। स्वर्गभोगाकडे धांविन्नले॥ ३३॥ यजूनि इंद्रादि देवासी। जेणें अंतर पडे मजसी। त्या पावले स्वर्गलोकासी। दिव्य भोगांसी भोगावया॥ ३४॥ बहुतीं चघळिलें जुनें हाड। तें श्वान स्वलाळा करी गोड। तैसें याज्ञिकां स्वर्गकोड। स्वपुण्यें गोड करिताति॥ ३५॥ कां स्मशानबळींचें अन्न। कलहें श्वानशेष खाय श्वान। तैसाचि स्वर्गभोग जाण। शेष भाजन बहुतांचे॥ ३६॥ गांठीचें वेंचून शुद्ध सुकृत। उच्छिष्ट भोग विकत घेत। याज्ञिक पवित्र म्हणवित। मोलें सेवित बहुशेष॥ ३७॥ केवळ वायसाचें मांस। तेंही श्वानमुखींचें शेष। मोलें न मिळेचि बहुवस। तैसी रसकस याज्ञिकां॥ ३८॥ स्वर्ग उच्छिष्ट बहुतांचें। त्यासी मोल वेंचे अतिकष्टांचें। तेंही न मिळेचि धणीचें। भय पतनाचें अहर्निशीं॥ ३९॥ स्वर्गभोग भोगिती देव। तेही म्हणताति आम्ही निर्दैव। याज्ञिकांठायीं थोर हांव। दिव्य वैभवभोगार्थ॥ ५४०॥ एवं झालिया स्वर्गप्राप्ती। तेथ जे जे भोग भोगती। ते मी सांगेन तुजप्रती। ऐक निश्चितीं उद्धवा॥ ४१॥ स्वर्गीं समान भोगु समस्तां। नाही जाण गा सर्वथा। ज्यासी जैसी पुण्यअवस्था। तैशी प्राप्तता तयासी॥ ४२॥

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते। गन्धर्वैर्विहरन्मध्ये देवीनां हृद्यवेषधृक्॥ २४॥

आपुले पुण्याचेनि मोलें। चंद्रप्रभ विमान आलें। त्यामाजीं आरूढले। भोगूं लागले दिव्य

भोगु॥ ४३॥ तेथें दिव्य देहाची प्राप्ती। मनोहर वेषातें धरिती। अतिमधुर गंधर्व गाती। स्वेच्छा क्रीडती स्त्रियांसीं॥ ४४॥ त्या स्वर्गींच्या स्वर्गांगना। देखतां भुली पडिली मना। त्यांचेनि छंदें जाणा। नाना स्थानां क्रीडतु॥ ४५॥

स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना। क्रीडन्न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः॥ २५॥

त्या स्त्रियांसमवेत आपण। विमानीं करोनि आरोहण। स्वेच्छागामी गमन। शोभे विमान तें कैसें॥ ४६॥ घंटाघंटिका-जाळमाळा। क्षुद्रघंटिका रत्नमेखळा। किंकिणी लाविलिया सकळा। विमानलीळा विचित्र॥ ४७॥ इच्छिल्या ठाया ने विमाना। चैत्रवना कां नंदनवना। भोगावया स्वर्गांगना। आसक्त जाणा झालासे॥ ४८॥ वनीं सुमनांचे संभार। पराग उधळत सुंदर। कोकिळांचे मधुर स्वर। झणत्कार भ्रमरांचे॥ ४९॥ मंद सुगंध सुशीतळ। झळकतसे मलयानिळ। स्वर्गांगनांसीं गदारोळ। कामसुकाळ सकामां॥ ५५०॥ आगी कापुरा होतां भेटी। एकवेळे भडका उठी। तैसें पुण्य वेंचलें उठाउठी। भोगासाठीं सकामां॥ ५१॥ मज पतन होईल येथ। भोग जातील समस्त। हेंही नाठवी त्याचें चित्त। कामासक्त झालासे॥ ५२॥ दीपासी देतां आलिंगन। पतंगा नाठवे निजमरण। तैसें नाठवे आत्मपतन। भोगी मन विगुंतलें॥ ५३॥

तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते। क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन्कालचालितः॥ २६॥

जंव असे पुण्यसंपत्ती। तंव स्वर्गभोग भोगिती। क्षीण झाल्या पुण्यशक्ती। पतन पावती तत्काळ॥ ५४॥ जंववरी गांठीं असे धन। तंववरी वेश्येचें सौजन्य। निःशेष वेंचल्या धन। मुख परतोन पाहेना॥ ५५॥ तैशीच स्वर्गींची वस्ती। निजपुण्यें भोग भोगिती। पुण्यक्षयें क्षया जाती। पतन पावती अनिच्छा॥ ५६॥ कष्ट करूनियां याज्ञिकीं। स्वर्गु साधिला होआवया सुखी। ते झालेचि परम दुःखी। पतन अधोमुखीं पावले॥ ५७॥ उडालें स्वर्गभोगाचें सुख। आलें गर्भवासाचें दुःख। जळो सकामाचें सुख। ठकले याज्ञिक सुखलोभें॥ ५८॥ उद्धवा जे म्हणती स्वर्गसुख। ते या रीतीं पावले दुःख। स्वर्गसुख मानिती मूर्ख। नव्हे निर्दोख तो मार्गु॥ ५९॥ विधियुक्त आचरतां याज्ञिक। पुढती पावले थोर दुःख। तरी अविधीनें होईल सुख। झणीं देख म्हणशील॥ ५६०॥ येथ कर्ममार्गींची प्रवृत्ती। दों प्रकारें असे वर्तती। एकी विधिरूपें आचरती। दुजी स्थिती अविधीनें॥ ६१॥ आतां सांगितली तुजप्रती। ते वेदोक्त विधानस्थिती। जे विधीनें स्वर्गप्राप्ती। हे प्रवृत्ती उत्कट॥ ६२॥ पुण्यक्षयें स्वर्गपतन। तेंही सांगीतलें कथन। आतां अविधीं जें आचरण। तेंही लक्षण परियेसीं॥ ६३॥ वेदउल्लंघनें कुमती। कुश्चित जनांचे संगती। अप्रवृत्तीची प्रवृत्ती। अधर्मस्थिती अवधारीं॥ ६४॥

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः। कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः॥ २७॥

सहज प्राणी कामासक्त। प्राप्तकामें अतिलुब्ध होत। काम न पवतां दीनचित्त। स्वभावो नित्य जीवांचा॥ ६५॥ ऐशिया स्वभावनिष्ठासी। जरी संग होय असंत पुरुषेंसीं। तरी रति वाढे अधर्मासी। अकर्मासी प्रवर्ते॥ ६६॥ चंचलत्वें मर्कट मन। त्यासी असत्संग-मदिरापान। कामवृश्चिकें दंशिलें जाण। तेव्हां वर्तन यद्वातद्वा॥ ६७॥ पिशाहातें धेंडेवाळी। दीधल्या तो सर्वत्र जाळी। तेवीं असत्संगें करी होळी। स्वधर्म समूळीं जाळिती॥ ६८॥ बाळकाहातीं दीधलें शस्त्र। खोंचितां न म्हणे आप पर। छेदी आपुलेंचि शरीर। हितविचार तें नेणे॥ ६९॥ जेवीं जानी अवतरे देव्हारा। तिच्या तोंडा नाहीं वाढावारा। कां बहुरूप्याच्या दिगंबरा। नाहीं थारा वैराग्या॥ ५७०॥

तैसा असत्संगें खरा। घाली दंभाचा पसारा। नाहीं विवेकाचा थारा। कामशास्त्रा प्रवर्ते॥ ७१॥ कामशास्त्रें अतिसकाम। कामास्तव योजी अधर्म। अधर्मास्तव अकर्म। निंद्य धर्म आचरे॥ ७२॥ निंद्य धर्माचा संयोग। यासी मुद्दल लुब्धभोग। लुब्धभोगामाजीं चांग। अधर्म साङ्ग सविस्तर॥ ७३॥ अधर्म वाढतां उभारा। परद्रव्य आणि परदारा। याचिलागीं शरीरा। उपायद्वारा कष्टवी॥ ७४॥ अंगनेलागीं अति दीन। स्त्रीध्यानें होय स्त्रैण। स्त्री साधावया जाण। भूतहनन आरंभी॥ ७५॥

पशूनविधिनाऽऽलभ्य प्रेतभूतगणान् यजन्। नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः॥ २८॥

विधि म्हणे तें न करावें। वेदु बोले तें नाइकावें। स्मृतिशास्त्र नावडे जीवें। कर्म करावें स्वेच्छा॥ ७६॥ जारण मारण उच्चाटन। स्तंभन मोहन वशीकरण। असाध्य साधूनि अंजन। करी लागवण स्त्रियांसी॥ ७७॥ लोण राई आणि बिबवे। मधुरसीं कालवी आघवे। शाबरी मंत्राचेनि वैभवें। होम करूं धांवे तामस॥ ७८॥ कर्म करावया अभिचार। मेष जंबूक वानर। सरड बेडूक मत्स्य मगर। गीध घार होमिती॥ ७९॥ नग्न भैरव वेताळ। झोटिंग पिशाच कंकाळ। मारको मेसको मैराळ। भूतें प्रबळ उपासी॥ ५८०॥ काळी चिडी टोंकण घारी। काग बक उलूक मारी। आवंतूनि काळी मांजरी। शाबरमंत्रीं होमिती॥ ८१॥ वाहत्या घाण्याचें तेल चोरी। प्रदोषसंधीं न्हाये शनिवारीं। शाकिनी डाकिनी मध्यरात्रीं। होमामाझारीं चेतवी॥ ८२॥ मद्याचे घट पूर्ण भरी। मातंगीची पूजा करी। रुधिर घाली प्रेतयात्रीं। मोहनीमंत्रीं मंत्रूनी॥ ८३॥ घेती हळदीची उटी। सेंदूर लाविती ललाटीं। काम साधावया हटीं। अंजन कष्टी साधिती॥ ८४॥ होमपात्रें करावया तांतडी। समूळ अश्वत्थातें तोडी। फळित पुष्पित ओषधी उपडी। आसनाबुडीं घालावया॥ ८५॥ बीज जपावया मंत्राचें। वोलें कातडें प्रेताचें। आणवी मृगअस्वलांचें। भय पापाचें मानीना॥ ८६॥ खेचर भूचर जळचर। जीव पीडिती अपार। घेऊनि ब्राह्मणाचें रुधिर। अभिचार आचरती॥ ८७॥ गायीब्राह्मणांसी जाण। पीडा करिती दारुण। क्षेत्रवित्तदाराहरण। स्वार्थें प्राण घेताति॥ ८८॥ देवालयींचें देवलेश। कां शिवालयींचें शिवशेष। घेतां न करिती आळस। वासना असोस अधर्मीं॥ ८९॥ एवं कर्म करितां ऐसें। तेणें अकर्म कर्मवशें। अंधतमीं तो प्रवेशे। जेवीं कां अवसे चंद्रमा॥ ५९०॥ अकर्म जाण अतुर्बळी। जीवाचें निजज्ञान छळी। अतिमूढ करूनि ते काळीं। निरयकल्लोळीं घालित॥ ९१॥ ते नरकींची नवल कथा। कोटि वर्षें तळीं जातां। ठाव न लगे गा सर्वथा। केवीं वरुता येईल॥ ९२॥ त्यातें 'अंधतम म्हणती। जें देखतां अंध होय वृत्ती। निघतां निर्गमु विसरती। नरकीं वसती मूढत्वें ॥ ९३॥ जंव होय कर्मभोगान्त। तंव नरक भोगी आकल्पान्त। मग स्थावरत्व पावत। वृक्ष होत कां पाषाण॥ ९४॥ ऐशी अवस्था गाढमूढ। केवळ जाड्य झालें जड। स्वप्नीं सुख नेणती गोड। दुःख दुर्वाड भोगिती॥ ९५॥ एवं अधर्मवृत्तीं वर्ततां। सुखलेश न लभे सर्वथा। दुःख अनिवार भोगितां। निर्गमता त्यां नाहीं॥ ९६॥

कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन्देहेन तैः पुनः। देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः॥ २९॥

ऐकें बापा उद्धवा। मरणधर्मात्मका जीवा। सुख न भेटे त्याच्या भावा। दुःखप्रभवामाजीं वासु॥ ९७॥ नरदेहा येवोनि केवळ। क्रूर कर्में करिती प्रबळ। ज्यांसी उत्तरोत्तर दुःखफळ। यातना सबळ भोगवी॥ ९८॥ मरमरों दुःख भोगी दारुण। उपजोनि कर्में करी हीन। दुःखावर्ती

पडे जाण। आपणिया आपण घातक॥ ९९॥ जे संतचरणीं विमुख। त्यांसी स्वप्नींहि नाहीं सुख। क्रूर कर्मे करी कामुक। चढतें दु:ख सकामा॥ ६००॥ एवं प्रवृत्तीमाजीं असतां। सकाम कर्मे आचरतां। सविधि कर्मे करितां। दु:ख सर्वथा अनिवार॥ १॥ सविधि काम्यें स्वर्गपतन। अविधि काम्यें नरक दारुण। एवं प्रवृत्तीमाजीं जाण। सुख कोण सकामा॥ २॥ म्हणशी लोकपाळांच्या ठायीं। नित्य सुख असेल पाहीं। त्यांसी जन्ममरण नाहीं। अमरत्व आम्हींही साधावें॥ ३॥ लोकपाळांचे नित्य लोक। लोकपाळही नित्य देख। तेथें असेल नित्य सुख। ऐसें मूर्ख कल्पिती॥ ४॥

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम्। ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुष:॥ ३०॥

लोकपाळामाजीं अमरेंद्र। मरुद्गणांचा राजा इंद्र। ज्यासी मानिती सूर्यचंद्र। वरुण कुबेर यमादि॥ ५॥ ज्या अमरावती सिंहासन। ऐरावताचें आरोहण। उच्चै:श्रवा अश्व जाण। पुढें आपण खोलणिये॥ ६॥ ज्यासी उर्वशी भोगपत्नी। रंभामुख्य विलासिनी। जेथ तिलोत्तमा नाचणी। चिंतामणी लोळती॥ ७॥ अष्टमासिद्धींचीं भांडारें। रत्नजडित धवळारें। मर्गजाचे डोल्हारे। सुवर्णसूत्रें लाविले॥ ८॥ वैदूर्याचे शाहाडे। कामधेनूंचे वाडे। कल्पद्रुमांचे मांदोडे। चहूंकडे शोभती॥ ९॥ लोकपाळ आज्ञेचे। सुरसेना सैन्य ज्याचें। एवढें ऐश्वर्य जयाचें। राज्य स्वर्गीचें भोगित॥ ६१०॥ त्यासी माझी काळशक्ती। ब्रह्मयाचे दिनांतीं। चौदा इंद्र क्षया जाती। येरांची गति कायशी॥ ११॥ ब्रह्मायु म्हणती समता। जो द्विपरार्ध आयुष्यवंता। जंव न पवे माझी काळसत्ता। तंव श्लाघ्यता आयुष्याची॥ १२॥ ज्यासी अग्रपूजेची मान्यता। जो लोकलोकपाळांचा कर्ता। त्या ब्रह्मयासी माझी काळसत्ता। ग्रासी सर्वथा सलोकें॥ १३॥ मी काळात्मा दंडधरु। शास्ता नियंता ईश्वरु। अंतर्यामी सर्वेश्वरु। अतिदुर्धरु व्यापकु॥ १४॥ माझा काळक्षोभ दारुण। त्यातें आवरूं शके कोण। धर्मअर्थकामें जाण। निवारण त्या नव्हे॥ १५॥ प्रळयकर्त्या महाकाळासी। माझी काळसत्ता ग्रासी। माझें महाभय सर्वांसी। लोकपाळांसी सुख कैंचें॥ १६॥ लवनिमेष-पळपळें। माझेनि भयें सूर्य चळे। माझेनि भयें प्राण खेळे। वायु चळे माझेनि भेणें॥ १७॥ माझे आज्ञेवरी अग्नि जाण। वसवीतसे जठरस्थान। मद्भयें नव्हे अधिक न्यून। पचवी अन्न चतुर्विध॥ १८॥ यथाकाळीं पर्जन्यधारीं। इंद्र वर्षे मद्भयेंकरीं। मृत्यु स्वकाळें प्रळय करी। भय भारी त्या माझें॥ १९॥ माझेनि भयेंकरीं देखा। समुद्र नोलांडी निजरेखा। माझिया भयाची थोर शंका। तिंही लोकां कांपवी॥ ६२०॥ तिंही लोकांचा शास्ता। ईश्वर तो मी नियंता। येणें कर्मजडाची वार्ता। अनीश्वरता छेदिली॥ २१॥ प्रवृत्तीसी अनर्थता। मागां दाविली तत्त्वतां। वैराग्य स्थापिलें सदृढता। निवृत्ति सर्वथा अतिश्रेष्ठ॥ २२॥ आपुल्या ऐश्वर्याच्या आविष्कारें। साधूनि ईश्वरत्व केलें खरें। मीमांसकमत-निराकारें। निरूपण पुढारें चालवी॥ २३॥ मीमांसकमतवार्ता। बोलिले जीवासी अनेकता। तोचि कर्ता आणि भोक्ता। हेचि सर्वथा निराकारी॥ २४॥

गुणा: सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्। जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ॥ ३१॥

कृष्ण म्हणे उद्धवातें। एकादश इंद्रियें समस्तें। करिती नानाविध कर्मांतें। आत्मा तो येथें सर्वसाक्षी॥ २५॥ दीपु उजळलिया घरीं। लोक वर्तती व्यापारीं। तो नेमी ना निवारी। तैशापरी जीवु येथें॥ २६॥ जीवु प्रेरोनि इंद्रियांतें। म्हणाल करवितसे कर्मांतें। जेवीं कुऱ्हाडी घेऊनि हातें।

छेदी वृक्षातें कृषीवळु॥ २७॥ ऐशी इंद्रियांची प्रेरकता। जीवासी न घडे सर्वथा। ते न घडायाची ऐक कथा। तुज तत्त्वतां सांगेन॥ २८॥ इंद्रियां कर्मीं प्रेरण। करिते सत्त्वादिक गुण। जीवु उभयसाक्षी जाण। कर्मकारण त्या नाहीं॥ २९॥ अंगें नातळतां आपण। चुंबक संनिधिमात्रें कारण। अचेतन लोहा करी चळण। तैसा जाण जीव येथें॥ ६३०॥ कां उगवल्या दिवाकर। सुष्टुदुष्टु लोकव्यापार। तो सूर्यासी नातळे कर्मभार। साक्षी साचार कर्मांचा॥ ३१॥ तैसी जीवासी कर्तव्यता। सत्य नाहीं गा सर्वथा। दिसे जें कांहीं आपाततां। ते आध्यासिकता मिथ्यात्वें॥ ३२॥ कवळें अध्यासिला डोळा। तो चंद्रमा देखे पिंवळा। तेवीं आत्मा कर्ता भासे स्थूळा। केवळ निश्चळा नेणती॥ ३३॥ सवेग चालतां आभाळें। बाळें म्हणती चंद्रमा पळे। तेवीं आत्मा कर्ता मानिती स्थूळें। उपाधिमेळें अध्यासु॥ ३४॥ देह मी कर्म माझें। हें आत्मेनि स्वप्नीं नेणिजे। मृगजळीं बुडाले राजे। सत्य मानिजे तैसें हें॥ ३५॥ एवं आत्म्यासी कर्तव्यता। सत्य नाहीं गा सर्वथा। त्यासी म्हणतातीं फळभोक्ता। तेही वार्ता मिथ्यात्वें॥ ३६॥ स्वप्नीं जोडिल्या सहस्र गायी। जागृतीं त्यांचें दुभतें नाहीं। आत्मा भोक्ता तैसा पाहीं। उपाधीच्या ठायीं मिथ्यारूपें॥ ३७॥ डबकीं प्रतिबिंबला रवी। तो जै तेथील कर्दम सेवी। तैं भोक्ता आत्मा देहगांवीं। सत्य मानवीं मानावा॥ ३८॥ मृगजळामाजिलेनि मत्स्यें। बिंबला चंद्र गिळिजे आवेशें। तैसा आत्मा देहाभिनिवेशें। भोगविशेषें भोगिता॥ ३९॥ एवं आत्मा जो भोक्ता। ते सोपाधिक वार्ता। उपाधि मिथ्या गा तत्त्वतां। आत्मा भोक्ता कैसेनि॥ ६४०॥ आत्मा अकर्ता अभोक्ता। सदृढ साधिलें तत्त्वतां। जीवासी बोलिली अनेकता। ते मिथ्या आतां साधितु॥ ४१॥

यावत्स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः। नानात्वमात्मनो यावत्पारतन्त्र्यं तदैव हि॥ ३२॥

सत्त्व-रज-तमांचा। अंतरीं धुमाडू गुणकर्मांचा। तंव जीवासी अनेकत्वाचा। आभासु साचा मानला॥ ४२॥ अहंकारादि देहपर्यंत। जंव जीवासी मीपण भासत। तंव नानात्व मानी सत्य। तें मिथ्या निश्चित उद्धवा॥ ४३॥ जैसें आपुलेंचि मुख। आरिसा करी आपणासन्मुख। तैसें अविद्यायोगें मायिक। द्वैत देख दाखवी॥ ४४॥ आरिशामाजीं आपुला। जो द्वैतप्रभावो स्वयें देखिला। तेणें आपण नाहीं द्विधा झाला। मिथ्या भासला आभासु॥ ४५॥ तो आभास झालिया समोर। त्रिगुण गुणांचे विकार। एकचि दावी नानाकार। दिसे साचार गुणक्षोभें॥ ४६॥ जैसें आपुलेंचि मुख केवळ। शस्त्र आदर्श आणि जळ। लांब निश्चळ चंचळ। करी प्रबळ विकारी॥ ४७॥ एवं त्रिप्रकार कार्यविशेखें। मुखचि देखिजे निजमुखें। तैसें तें नानात्व लटिकें। गुणक्षोभकें भासतु॥ ४८॥ सूत्रचि विणिलें पटाकारीं। पटावरी तंतूंच्या हारी। दिसती तेवीं चराचरीं। नानाकारीं एकुचि॥ ४९॥ साकरेचा केला ऊंसु। परी कठिण आंत बाकसु। मधील पिळून घ्यावा रसु। हा त्रिगुण दोषु त्या नाहीं॥ ६५०॥ तैसा परमात्मा श्रीहरी। अद्वितीय एकु चराचरीं। त्यासी अनेकत्वाची परी। सत्त्वादि करी गुणक्षोभु॥ ५१॥ जैसा बहुरूपी आपुल्या ठायीं। नाना सोंगें धरी देहीं। तितुकीं रूपें त्यासी नाहीं। एकला पाही अद्वैत॥ ५२॥ तैसा सच्चिदानंद श्रीहरी। आत्मा एक चराचरीं। नांदताहे नानाकारीं। द्वैतामाझारीं अद्वैत॥ ५३॥ 'अद्वैत' साधिलें जीवासी। सत्य मानिलें आम्हांसी। परी एक आशंका ऐसी। निजमानसीं वर्तत॥ ५४॥ तूंचि म्हणसी 'जीव परतंत्र'। आतां अद्वैतपणें 'स्वतंत्र'। बोलसी बोलणें विचित्र। केवीं साचार मानावें॥ ५५॥ अद्वैतपण संपादिसी। माझें भय लोकपाळां

म्हणसी। हें न मने गा आम्हांसी। अद्वैतासी भय कैंचें'॥ ५६॥ ऐशिया रीतीं उद्धवा। झाल्या संदेहासी रिघावा। तो तूं आतळों नेदीं जीवा। ऐक बरवा निर्धारु॥ ५७॥ जीवासी उपाधीसी तादात्म्यता। तंव तंव आभासे नानात्मता। नानात्वीं परतंत्रता। ईश्वरसत्ता नियामक॥ ५८॥ अमित मीनलिया दळ। सेनापतीवीण विकळ। आंबा पिकलिया रसाळ। राखण सबळ त्यापासीं॥ ५९॥ तैसी जीवासी जंव अनेकता। तंव सृष्टीसी कर्ता हर्ता नियंता। जाण ईश्वरचि सर्वथा। परतंत्रता ते जीवासी॥ ६६०॥ अनेकत्वें परतंत्रता। यालागीं ईश्वर नियंता। ऐसी देखोनि ईश्वरसत्ता। भय समस्तां जीवांसी॥ ६१॥ माझे ईश्वरी सत्तेचे भयें। देखोनि अंतकुही भीताहे। इंद्रादिकांचा पाडु काये। भय वाहे विधाता॥ ६२॥ माझी अत्यंत प्रळयींची सत्ता। वाजे हरिहरांचे माथां। अनेकत्वाचा संहर्ता। मीचि सर्वथा निजकाळु॥ ६३॥ यालागीं अनेकत्व जंव आहे। तंववरी दुस्तर काळभये। जेव्हां अनेकत्व नाहीं होये। तेव्हां काळू काये नाशील॥ ६४॥ एवं अनेकत्वाचे माथां। ईश्वरभयाची काळसत्ता। अनेकत्वें परतंत्रता। जाण सर्वथा उद्धवा॥ ६५॥ तें अनेकत्व जैं जाये। तैं काळ नाहीं मा कैंचें भये। पर नसतां परतंत्र न होये। एकत्वीं आहे स्वानंद॥ ६६॥ जेथ द्वैताचा मळु नुठी। ऐक्य देखे सकळ सृष्टीं। तेव्हां स्वानंदाचिया कोटी। भोगी उठाउठी निजबोधें॥ ६७॥ ज्या सुखाची मर्यादा। देशें काळें न करवे कदा। त्या सुखाची सुखसंपदा। भोगिती सदा अद्वैतें॥ ६८॥ निजात्मज्ञानें अलोलिक। दुजेनवीण अद्वैतसुख। तें सांडूनि कर्मवादी परम मूर्ख। नाना लोक वांछिती॥ ६९॥ मागां कर्मवादी कर्मठ। बोलिले प्रवृत्ति अतिश्रेष्ठ। कर्मे करूनियां उद्धट। भोग वरिष्ठ भोगावे॥ ६७०॥ तेंचि निरसोनि आतां। पुढारीं चालविली कथा। उद्धवासी अद्वैतता। दृढ सर्वथा सांगत॥ ७१॥

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम्। य एतत्समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः॥ ३३॥

गुणवैषम्य ज्याचे ठायीं। ते नर भोगासक्त पाहीं। यागादि कर्मे करूनि देहीं। भोगस्थान तिहीं ठाकिलें॥ ७२॥ जे जे ठाकूनि गेले लोक। तेथूनि याज्ञिकां पतनधाक। तंव दुःखी देखे लोकनायक। अनित्य लोक देखोनि॥ ७३॥ पदच्युती लोकच्युती। भोगकर्मे भोगच्युती। केले कष्ट वृथा जाती। दुःखी होती निजपतनें॥ ७४॥ घायाळा कीजे तरटमार। तैसें ओतप्रोत दुःख फार। भंवे जन्ममरणव्यवहार। भोगी अघोर गर्भवास॥ ७५॥ राहाटमाळेचे करे। पुढती रिता पुढतीं भरे। तैसा अविश्रम फिरे। गर्भद्वारें मरणांतीं॥ ७६॥ विंचें खादिल्या दुःखितासी। दाढीसी आग लागे त्यासी। तेवीं भोगक्षयें पतितासी। गर्भवासीं पीडा होय॥ ७७॥ लोकांची अनित्यता नेणती। यालागीं परमदुःखी होती। कष्टांचें फळ दुःखप्राप्ती। संसारावर्तीं अडकले॥ ७८॥ केवळ लोक भोग अनित्य। हेंही न घडे गा येथ। भोगलोक होत सत्य। तरी अनित्य म्हणावे॥ ७९॥ जेवीं दोरीं सर्पाभास। तेवीं लोक चतुर्दश। केवळ मायामय विलास। सुखलेश तेथ कैंचा॥ ६८०॥ केवळ जें कां मायिक। सत्यामाजीं कैंचें भोगसुख। कर्मठ ते केवळ मूर्ख। विषय मायिक वांछिती॥ ८१॥ भरलें मृगजळाचें तळें। तेणें जैं पिकती साळीकेळें। तैं विषयभोगीं सुख फळें। हें न कळे भ्रांतासी॥ ८२॥ जग दुमदुमित भरलें दिसे। तें तूं मायिक म्हणसी कैसें। हेंचि कळे अनायासें। तुज मी तैसें सांगेन॥ ८३॥

काल आत्माऽऽगमो लोकः स्वभावो धर्म एव च। इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति॥ ३४॥

केवळ मायामय कल्पित। संसार तो अज्ञानजनित। एकातें अनेक म्हणत। चित्तें दुश्चित्त

होउनी॥ ८४॥ कनकबीजसेवनें जैसें। शहाणें माणूस होय पिसें। मग त्यासी नसतेंचि आभासे। ससे मासे गो सर्प॥ ८५॥ तैसें मायावशें अतिभ्रांता। नसतें अनेकत्व भासे चित्ता। नभीं गंधर्वनगर पाहतां। दिसे शोभिता पुरदुर्गु॥ ८६॥ कां अंधारीं दोरु दिसे डोळां। म्हणे सर्प दंड कीं सुमनमाळा। नाना एकावळी मुक्ताफळां। कोणी अबळा विसरली॥ ८७॥ तेवीं निजात्मा मी पुरुषोत्तम। त्या मज नानारूपें नानाकर्म। काळु आत्मा आगम। स्वभावधर्म मज म्हणती॥ ८८॥ 'काळु' म्हणती प्रकृतिक्षोभकु। 'आत्मा' म्हणती प्रकृतिनियामकु। 'वेद' म्हणती कर्मबोधकु। अदृष्टद्योतकु 'धर्म' म्हणती॥ ८९॥ अदृष्ट दृष्ट करूनि भोगविजे। यालागीं 'धर्म तो म्हणिजे। आतां 'स्वभावो' जेणें बोलिजे। तेंही सहजें परियेसीं॥ ६९०॥ आत्मा भोक्ता हा 'स्वभावो'। जेणें परिणामें देवाधिदेवो। इत्यादिका हेतु पहा हो। मजचि 'स्वभावो' म्हणतातिं॥ ९१॥ अदृष्टाचें फळ नाना लोक। 'लोक' म्हणावया हेतु हे देख। एवं मज एकातें अनेक। मिथ्या मूर्ख मानिती॥ ९२॥ नानारंगांचिया वृत्ती। चित्र लिहिलें यथानिगुती। तेंही नानाकारें दिसे भिंतीं। सर्वव्यक्तिद्योतक॥ ९३॥ तैसे नानाकार नाना धर्म। नाना नामें नाना कर्म। तें मी अवघा आत्माराम। सर्वोत्तम सर्वथा॥ ९४। मजवेगळा रिता कांहीं। अणुभरी ठाव उरला नाहीं। मी सर्वात्मा सर्व देहीं। सर्वगत पाहीं सर्वदा॥ ९५॥ जैसे सागरामाजीं तरंग। तैसें मजमाजीं दिसे जग। जग नव्हे तें मीचि चांग। सुख अव्यंग मजमाजीं॥ ९६॥ मी शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव। त्या मज नानात्वें ठेविती नांव। उद्धवा ज्यासी जैसा भाव। तैसा मी देव तयासी॥ ९७॥ नास्तिक्य वसे ज्याचे ठायीं। त्यासी मी सर्वथा कोठें नाहीं। आस्तिक्यवंतालागीं पाहीं। मी सर्वांठायीं तिष्ठतु॥ ९८॥ भावार्थें जो मज जेथें पाहे। त्यासी मी तेव्हांचि तेथें आहें। मज पावावया उपाये। बहुत पाहें न लगती॥ ९९॥ मी सर्वात्मा सर्वगत एकु। ऐसा जयाचा भाव निष्टंकु। तोचि पढियंता मज एकु। ज्ञानतिलकु तो माझा॥ ७००॥ तो आत्मा मी त्याचें देह। मी ध्याता तो माझें ध्येय। मी ज्ञाता तो शुद्ध ज्ञेय। ऐसा पढिये तो आम्हां॥ १॥ उद्धवा हे एकात्मताभक्ती। सज्ञान ज्ञातें येणें भजती। तयां मज अभेदप्रीती। तुवांही या रीती भजावें॥ २॥ परमात्मा एक नित्य शुद्ध। त्यासी मायामय संसारबंध। मिथ्या जाण देहसंबंध। हा 'निजात्मबोध' पैं माझा॥ ३॥ हा मिथ्यासंबंध पडे जीवासी। आत्मज्ञानें मुक्ति त्यासी। हें मागें बोलिलों तुजपाशीं। तेंचि मतनिरासीं दृढ केलें॥ ४॥ धरोनि श्लोक चौदावा। अंतीं श्लोक चौंतिसावा। मीमांसकमताचा आघवा। निरासु बरवा येणें केला॥ ५॥ एवं निरसोनि मतांतर। अद्वैत स्थापिलें दृढतर। हेंचि निजज्ञान साचार। चराचरवरिष्ठ॥ ६॥ अद्वैतज्ञान शुद्ध चोख। ऐकोनि उद्धवा जाहलें सुख। हृदयीं दाटला जी हरिख। पाहे श्रीमुख कृष्णाचें॥ ७॥ चालिलें सात्त्विकाचें भरितें। चित्त विसरलें चिंतनातें। लोटले जी तेथें। आपआपणियातें विसरला॥ ८॥ उद्धवासी नावेक। पडोनि ठेलें जी टक। सावध होऊनियां देख। कृष्णसंमुख तो झाला॥ ९॥ अद्वैतभजनें जे भजते। ते भक्त कृष्णासी आवडते। तें केवीं प्राप्त होय मातें। यालागीं हरीतें पुसतु॥ ७१०॥

उद्धव उवाच—गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः। गुणैर्न बद्ध्यते देही बद्ध्यते वा कथं विभो॥ ३५॥

उद्धव म्हणे कृष्णनाथा। आत्मा देहामाजीं असतां। बंधन पावे जी तत्त्वतां। कीं सर्वथा पावेना॥ ११॥ गुण असतां मुक्ति घडे। कीं गुण गेलिया मुक्ति जोडे। हेंचि सांगावें मज पुढें।

अतिनिवाडें निश्चित॥ १२॥ गुण असतां मुक्ति घडे। हें सर्वथा बोलणें कुडें। ज्वर असतां आरोग्य न घडे। वृक्ष न वाढे भिरुंडेंसीं॥ १३॥ बाहीं बांधोनि पाषाण। समुद्रामाजीं तरे कोण। तैसें देहीं असतां त्रिगुण। मुक्तपण कैसेनि॥ १४॥ गुण जे रजतमादिक। त्यांचें कार्य देह देख। गुणासारिखीं आवश्यक। कर्मे अनेक आचरे॥ १५॥ कर्माचें फळ सुखदुःख। भोगणें पडे गा अचुक। गुणांसी मुक्ति न घडे देख। हें ज्ञाते लोक म्हणताति॥ १६॥ गुण गेलिया मुक्ती। हेंही न घडे गा श्रीपती। येहीविषयीं विनंती। कृपामूर्ती अवधारीं॥ १७॥ गुणांचें कार्य देहेंद्रियें। ते गुण जाऊनि देह राहे। भूमीविण वृक्ष होये। हें अबद्ध पाहें बोलणें॥ १८॥ कारण जाऊनि कार्य राहे। हें बोलणें घडे काये। गुण जातां देहोचि जाये। मुक्त वर्तताहे कैसेनि॥ १९॥ एवं गुण असतां नसतां। मुक्ति न घडे गा सर्वथा। येचिविषयीं कृष्णनाथा। तुज मी तत्त्वतां पुसतु॥ ७२०॥ आणिक एक जगन्नाथा। तुज मी विनंती करीन आतां। गुण आत्म्यासी एकत्रता। न घडे सर्वथा निश्चित॥ २१॥ भरलें मृगजळाचें तळें। चंद्रमा बिंबेना तेणें जळें। तेवीं आत्मा गुणांसी नाकळे। स्वभावें नातळे गुणांतें॥ २२॥ गुण ते अज्ञानाची राती। आत्मा स्वप्रकाश गभस्ती। त्यासमोर ते कैंचे येती। मग बाधिती आत्म्यातें॥ २३॥ अंधार सूर्यातें गिळी। काउळा कैलास आतळी। बागुल हनुमंतातें सळी। मशक गिळी गजातें॥ २४॥ माशीपांखें गगन उडे। सगळा मेरु थिल्लरीं बुडे। मृगजळीं जैं तारूं पडे। तैं आत्मा सांपडे गुणांत॥ २५॥ जेवीं आकाश नातुडे जाळीं। तेवीं आत्मा नाकळे गुणमेळीं। मा सुखदःखांची नवाळी। गुणकल्लोळीं कां भोगी॥ २६॥ यापरी न घडे गा बद्धता। मा मुक्ताची कायसी कथा। कैसेनि बद्धमुक्तव्यवस्था। घडे कृष्णनाथा तें सांग॥ २७॥ येथ बद्धासी काय कारण। आणि मुक्ताची कोण खूण। एवं बद्धमुक्तलक्षण। मज संपूर्ण सांगावें॥ २८॥

कथं वर्तेत विहरेत्कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः। किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा॥ ३६॥

आतां बद्धमुक्तांची स्थिती। मज सांगावी श्रीपती। कोणें लक्षणें जाणिजेती। दोघे कळती कैसेनि॥ २९॥ पावोनियां विदेहावस्था। देहीं कैसेनि वर्तता। वश करूनि गुणातीतता। गुणीं क्रीडता कैसेनि॥ ७३०॥ पावोनियां मुक्तदशा। देहीं भोग भोगी कैसा। त्यासी त्यागाचा कोण ठसा। हृषीकेशा सांगिजे॥ ३१॥ त्याचे निद्रेचें कोण लक्षण। कोण बैसका कोण आसन। वस्तु जाणोनि संपूर्ण। गमनागमन त्या कैसें॥ ३२॥ ऐशीं मुक्तांचीं लक्षणें। त्याहोनि बद्धांची विलक्षणें। कृपा करोनि नारायणें। मजकारणें सांगिजे॥ ३३॥

एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर। नित्यमुक्तो नित्यबद्ध एक एवेति मे भ्रमः॥ ३७॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे दशमोऽध्यायः॥ १०॥

या प्रश्नोत्तरांची उत्कंठा। थोर वर्ततसे वैकुंठा। प्रश्नवेत्त्यांमाजीं श्रेष्ठा। अतिवरिष्ठा गोविंदा॥ ३४॥ अनादि असे गुणसंबंधु। तेणें आत्मा झाला नित्यबद्धु। नित्यमुक्त हा शब्दु। असंबद्धु सर्वथा॥ ३५॥ जरी आत्म्यासी नित्यमुक्तता। तरी बोलोंचि नये बद्धता। एकुचि बद्धमुक्त म्हणतां। भ्रम अच्युता वाटत॥ ३६॥ आत्मा एकचि तत्त्वतां। त्यासी बद्धता आणि मुक्तता। एकासीच दोनी अवस्था। कृष्णनाथा कैसेनि॥ ३७॥ तो धाला तोचि भुकेला। जागता तोचि निजेला। जो जिता तोचि मेला। सत्यत्व या बोला कैसेनि॥ ३८॥ काळें तेंचि धवळें। देखणें तेंचि आंधळें। अर्धें तेंचि सगळें। कुहिऱ्या केळें केवीं होती॥ ३९॥ लोण तेंचि अलवणी।

कोरडें तें पाणी। अतिशीतळ तो दारुण अग्नि। मुकें पुराणीं बोलिगडें॥ ७४०॥ लुगडें नागीवपणें लाजाळु। अन्न भुकेलेपणें भुकाळू। मुक्तीसी मुक्तीचा दुकाळू। कापुरा परिमळू मिळेना॥ ४१॥ तैसे संत तेचि असंत। अद्वैत तेंचि होय द्वैत। तेव्हां हित तेंचि अनहित। दिसे प्रस्तुत आम्हांसी॥ ४२॥ आत्मा नित्यमुक्त-शुद्ध-बुद्ध। ऐसा तुवांचि मज केला बोध। तो गुणसंगें म्हणसी बद्ध। भ्रमु अगाध येणें मज॥ ४३॥ एकासचि बद्धमुक्तता। कैसेनि घडे कृष्णनाथा। कृपाळुवा जी अनंता। हें मज तत्त्वतां सांगावें॥ ४४॥ म्हणसी मुक्तीसी आगंतुकता। तेणें मोक्षासि आली अनित्यता। बद्ध आगंतुक म्हणतां। त्यासी सादिता येऊं पाहे॥ ४५॥ पूर्वी बद्धचि नव्हता। येथूनि उपजला आतां। ऐशी सादिता बोलतां। होईल शास्त्रार्थां विरुद्ध॥ ४६॥ श्रुतिस्मृतिशास्त्रसिद्ध। अनादि मुक्ति अनादि बद्ध। आत्मा एक अवस्था द्विविध। त्याही विरुद्ध परस्परें॥ ४७॥ उठिली बद्धता मुक्तीतें छळी। खवळली मुक्ती बद्धता गिळी। ऐशा विरुद्धता आत्म्याजवळीं। केवीं वनमाळी राहताति॥ ४८॥ जैं सांजवेळे भेटे पाहांट। तै विद्या अविद्या होय एकवट। सूर्य अंधाराची बांधे मोट। तैं आत्म्यानिकट अवस्था॥ ४९॥ हिंगासी कापुराचा वासु जोडे। तैं अविद्या विद्येमाजीं पडे। ससा सिंहावरी जैं चढे। तैं आत्म्यापुढें अवस्था॥ ७५०॥ उद्धव म्हणे कृष्णनाथा। या जैं कळल्या दोनी अवस्था। तैंचि मुक्ति आली हाता। मज सर्वथा मानलें॥ ५१॥ मग म्हणे श्रीअनंता। विशद सांगाव्या अवस्था। म्हणोनि चरणीं ठेविला माथा। मोक्षदाता तूं मज॥ ५२॥ सखोल उद्धवाचा प्रश्न। ऐकोन सुखावला नारायण। माझा उद्धवु जाहला सज्ञान। हरिखें जगज्जीवन डोलतु॥ ५३॥ परमार्थी अवस्था गाढी। देखोनि प्रश्नाची अतिगोडी। उद्धवासी ओंवाळावया आवडीं। जीव कुरवंडी करूं पाहे॥ ५४॥ नुल्लंघी भक्ताचें उत्तर। फोडिलें गुह्य ज्ञानभांडार। भक्तकृपा जी अपार। हरि साचार तुष्टला॥ ५५॥ उद्धवाचा प्रश्न गहन। कृपा द्रवला जगज्जीवन। एका विनवी जनार्दन। आनंदघन वोळला॥ ५६॥ त्या आनंदाचा महापूरु। शिष्यसरितेसी येईल थोरु। तेणें चिद्गंगासागरु। शिष्य सत्वरु ठाकील॥ ५७॥ टाकोनियां संसारआस्था। जो लागला भक्तिपंथा। तोचि अधिकारी भागवता। परमार्था ग्राहकु॥ ५८॥ ज्याचे पोटीं संसारचिंता। तो कथा ऐकतांचि दुश्चिता। चित्त चिंती ज्या ज्या अर्था। तो सर्वथा तेथें असे॥ ५९॥ चित्त जंव नाहीं सुचित। तंव न कळे श्रीभागवत। गुरुवांचूनि श्रीभागवतार्थ। नव्हे प्राप्त प्राण्यासी॥ ७६०॥ जो संसारापासोनि विरक्त। गुरुचरणीं अतिअनुरक्त। त्यासी फावला एक परमार्थ। फळे भागवत तयासी॥ ६१॥ देखतां कृष्णाचें श्रीमुख। उद्धवा नीच नवें समाधिसुख। तरी श्रवणाची श्रद्धा अधिक। आवडी देख अनिवार॥ ६२॥ जो श्रुतिप्रतिपाद्य चिद्घन। त्या श्रीकृष्णाचें गुह्य ज्ञान। पुढतपुढतीं होआवया श्रवण। करी प्रश्न अतियोग्य॥ ६३॥ विद्याअविद्येचा निरासु। श्रीकृष्ण सांगेल परेशु। पुढील अध्याय अतिसुरसु। श्रोतां अवकाशु मज द्यावा॥ ६४॥ तो कृष्णउद्धवसंवादु। पुढिले कथेचा अतिविनोदु। एका जनार्दनीं महाबोधु। परमानंदु प्रकटेल॥ ७६५॥

*इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे श्रीकृष्णोद्धवसंवादे परमहंससंहितायां एकाकारटीकायां दशमोऽध्यायः॥ १०॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥ मूळश्लोक॥ ३७॥ ओव्या॥ ७६५॥*

~~○~~

॥ श्रीः ॥

॥ ॐ तत्सत्-श्रीकृष्ण प्रसन्न ॥

# श्रीएकनाथी भागवत

## अध्याय अकरावा

श्रीगणेशाय नमः॥ श्रीकृष्णाय नमः॥ ॐ नमो सद्गुरु सच्चिद्घन। वर्षताहे स्वानंदजीवन। मुमुक्षुमयूरकूळें जाण। हरिखें उद्धाण करिताति॥ १॥ तो सजल देखोनि मेहो। 'सोहंभावें' फोडिती टाहो। रोमांचपिसीं पसरूनि पहा हो। सत्त्वें लवलाहो नृत्याचा॥ २। नाचती स्वानंदाचेनि मेळें। तेणें सर्वांगीं निघाले डोळे। पिसें देखणीं जाहलीं सकळें। तें शिरीं गोपाळें वाहिलीं॥ ३॥ तो मेघ देखोनि संमुख। आर्त चातक पसरिती मुख। बिंदुमात्रें पावले सुख। नित्य निर्दोख ते जाहले॥ ४॥ आर्ततृषा तत्काळ वोळे। निवाले तेणें स्वानंदजळें। मग हरिखाचेनि कल्लोळें। सुखसोहळे भोगिती॥ ५॥ सुभूमि देखोनि निर्मळ। जाणोनि वर्षती काळवेळ। वर्षों लागले जी प्रबळ। जळकल्लोळ अनिवार॥ ६॥ तेणें वोळलेनि कृपाभरें। शिष्यसरितेसी पूरु भरे। विकल्पवोसणें एकसरें। महापूरें वाहविलीं॥ ७॥ तेणें प्रवाहनिर्मळजळें। चिदैक्यसागरीं सरिता मिळे। मग समरसोनि तेणें जळें। राहे निश्चळें निजरूपें॥ ८॥ वैराग्यराबें शुद्ध केली। पृथ्वी निजवोला वोळली। कठिणत्वेंवीण मार्दवा आली। नाहीं अंकुरली बहुबीजें॥ ९॥ अखंड वर्षतां जळमेळीं। वासनेचीं ढेपें विरालीं। सद्भावाची वोल जाहली। वाफ लागली बोधाची॥ १०॥ तेथें न पेरितांचि जाण। सहज निजबीजें परिपूर्ण। अंकुरलीं आपणिया आपण। सिद्ध संपूर्ण स्वभावें॥ ११॥ ते परम कृपेचिये पुष्टीं। स्वानंदें पिकली समदृष्टी। परमानंदें कोंदली सृष्टी। ऐक्यें संवसाटी जीवशिवां॥ १२॥ फिटला दुःखदुष्काळु। पाहला सुखाचा सुकाळु। वोळळा सद्गुरु कृपाळु। आनंदकल्लोळु सच्छिष्यां॥ १३॥ वर्षतां निजपर्जन्यधारा। वर्षला नाना अवतार-गारा। कार्यानुरूपें तदाकारा। विरोनि निराकारा त्या होती॥ १४॥ त्या पर्जन्याचा वोसडा। दैवें लागल्या जडमूढां। तो सरता होय संतांपुढां। अवचटें शिंतोडा जैं लागे॥ १५॥ तो महामेघ श्रीहरी। सद्गुरुकृपा वोळे जयावरी। तोचि धन्य चराचरीं। पूज्य सुरनरीं तो कीजे॥ १६॥ गुरुनामें अति घनवटु। शिष्य तारूनि अति हळुवटु। ज्याचा आदि-मध्य-शेवटु। न कळे स्पष्टु वेदांसी॥ १७॥ तो सद्गुरु श्रीजनार्दनु। वोळलासे आनंदघनु। तेणें एका एकु केला पावनु। सांडवोनु एकपण॥ १८॥ एक तेंचि अनेक। अनेक तेंचि एक। हेंही केलें निष्टंक। स्वबोधें देख बोधोनि॥ १९॥ बोधोनियां निजऐक्यता। ऐक्यें लाविलें भक्तिपंथा। मज प्रवर्तविलें श्रीभागवता। निज कथा गावया॥ २०॥ तेचि श्रीभागवतींची कथा। दशमाध्यावो संपतां। ते बद्धमुक्तांची व्यवस्था। उद्धवें कृष्णनाथा पूशिली॥ २१॥ सखोल उद्धवाचा प्रश्न। ऐकोनियां श्रीकृष्ण। निजहृदयींचें गुह्यज्ञान। उद्धवासी जाण सांगेल॥ २२॥ येणें प्रश्नोत्तरश्रवणें। उठे जन्ममरणांचे धरणें। संसाराचें खत फाडणें। फिटलें लाहणें विषयांचें॥ २३॥ मोक्षमार्गींचे कापडी।

साधनीं शिणती बापुडीं। तिहीं शीघ्र यावें तांतडी। जिणावया वोढी बंधमोक्षांच्या॥ २४॥ जे कष्टती जपतपसाधनें। शिणती ध्येय-ध्यान-अनुष्ठानें। ते ते शीघ्र या विंदानें। ज्ञानाज्ञानें जिणावया॥ २५॥ ऐशी कथा आहे गहन। श्रोतीं व्हावें सावधान। एका विनवी जनार्दन। स्वानंदघन तुष्टला॥ २६॥ अकरावे अध्यायीं जाण। इतुकें सांगेल श्रीकृष्ण। बद्धमुक्तांचें वैलक्षण्य। आणिक लक्षण साधूचें॥ २७॥ तेणेंच प्रसंगें जाण। सांगेल भक्तीचें लक्षण। अकराही पूजेसी अधिष्ठान। इतुकें निरूपण हरि बोले॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच—बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥ १॥

उद्धवा बद्ध-मुक्त-अवस्था। जरी सत्य म्हणसी वस्तुतां। तरी न घडे गा सर्वथा। ऐक आतां सांगेन॥ २९॥ बद्ध-मुक्त-अवस्था। माझे स्वरूपीं नाहीं तत्त्वतां। हे गुणकार्याची वार्ता। संबंधु तत्त्वतां मज नाहीं॥ ३०॥ माझ्या निजस्वरूपाच्या ठायीं। बद्धमुक्तता दोनी नाहीं। बद्धता मुक्तता गुणांच्या ठायीं। आभासे पाहीं गुणकार्यें॥ ३१॥ गुण ते समूळ मायिक। मी गुणातीत अमायिक। सत्यासी जैं बाधे लटिक। तैं मृगजळीं लोक बुडाले॥ ३२॥ चित्रींचेनि हुताशनें। जैं जाळिजती पुरें पट्टणें। कां स्वप्नींचेनि महाधनें। वेव्हारा होणें जागृतीं॥ ३३॥ सूर्यासी प्रतिबिंब गिळी। छाया पुरुषातें आकळी। समुद्र बुडे मृगजळीं। तैं मज गुणमेळीं बद्धता॥ ३४॥ जैं जिभेसी केंसु निघे। जैं तळहातीं वृक्ष लागे। डोळ्यांमाजीं पर्वत रिगे। तैं मी गुणसंगें अतिबद्धु॥ ३५॥ आकाश खोंचे सांबळीं। काजळ लागे वारया निडळीं। कां विजूचे कपाळीं बाशिंग सबळी बांधावें॥ ३६॥ गगन तुटोनि समुद्रीं बुडे। सपर्वत धरा वारेनि उडे। सूर्य अडखळोनि अंधारीं पडे। तरी मी सांपडें गुणांत॥ ३७॥ अंतरिक्षगगनीं सरोवर। त्यामाजीं कमळें मनोहर। तो आमोद सेविती भ्रमर। ऐसें साचार जैं घडे॥ ३८॥ तैं मी आत्मा गुणसंगे। नानाविषयभोगसंभोगें। मग त्या विषयांचेनि पांगें। होईन अंगें गुणबद्धु ३९॥ त्रिगुण-अंगीकारें वर्ततां। गुणकार्य-तदात्मता। तेणें बद्ध-मुक्त-अवस्था। भासे वृथा भ्रांतासी॥ ४०॥ गुणा आत्म्यासी भिन्नता। म्हणसी मानली तत्त्वतां। परी गुणसंगें आत्मा असतां। अवश्य विकारिता येईल॥ ४१॥ अग्निसंगें पात्र तप्त। पात्रतापें जळ संतप्त। जळतापें धान्यपाकु होत। तेवीं विकारवंत नव्हे आत्मा॥ ४२॥ अग्नितापाआंत। आकाश नव्हे संतप्त। तेवीं गुणसंगा आंत। विकारवंत नव्हे आत्मा॥ ४३॥ नट अंधत्वें अवगला। परी तो आंधळा नाहीं जाहला। तैसा आत्मा गुणसंगें क्रीडला। तरी असे संचला निर्गुणत्वें॥ ४४॥ नटु अंधत्वें नव्हे अंधु। आत्मा गुणसंगें नव्हे बद्धु। गुण मायिक आत्मा शुद्धु। या त्या संबंधु असेना॥ ४५॥ आत्मा व्यापक गुण परिच्छिन्न। याही हेतु न घडे बंधन। सकळ समुद्राचें प्राशन। केवीं रांजण करूं शके॥ ४६॥ मोहरीमाजीं मेरु राहे। पशामाजीं पृथ्वी समाये। मुंगी गज गिळोनि जाये। खद्योत खाये सूर्यातें॥ ४७॥ मशकु ब्रह्मांडातें आकळी। पतंगु प्रळयानळ गिळी। तरी आत्मा गुणाचे मेळीं। गुणकल्लोळीं बांधवे॥ ४८॥ यापरी न संभवे बद्धता। बद्धतेसवें गेली मुक्तता। बद्धमुक्तअवस्थांपरता। जाण तत्त्वतां आत्मा मी॥ ४९॥ स्वप्नींचा अत्यंत सुकृती। अथवा महापापी दुष्कृती। दोन्ही मिथ्या जेवीं जागृतीं। तेवीं बद्धमुक्ती आत्मत्वीं॥ ५०॥ हो कां जीवात्म्यासीची बद्धता। सत्य नाहीं गा तत्त्वतां। मा मज परमात्म्यासी अवस्था। बद्धमुक्तता ते कैंची॥ ५१॥ बिंबीं प्रतिबिंबी नाहीं। मध्येंचि आरिशाचे ठायीं। मळ बैसले ते पाहीं। प्रतिबिंबाचे

देहीं लागले दिसती॥ ५२॥ तो मळु जैं पडे फेडावा। तैं आरिसाची साहणें तोडावा। परी प्रतिबिंब त्या साहणे धरावा। हें सद्भावा मिळेना॥ ५३॥ तेवीं जीवीं शिवीं दोष नाहीं। दोष अंत:करणाच्या ठायीं। तें चित्त शुद्ध केल्या पाहीं। बंधमोक्षां दोंही बोळवण॥ ५४॥ तैसें आविद्यक हें सकळ। गुणकार्य नानामळ। जीवा अंगीं प्रबळ। मूढमती स्थूल स्थापिती॥ ५५॥ जैं सत्त्वें गुण निरसे सबळ। तैं आविद्यक फिटती मळ। तेचि सद्विद्या होय निर्मळ। जीवचि केवळ शिव होये॥ ५६॥ तेव्हां जीवशिव हीं नामें दोनी। जातीं मजमाजीं समरसोनी। तैं मीच एकवांचूनी। आन जनीं वनीं असेना॥ ५७॥ जीवभावनें मीचि जीवु। शिवभावनें मीचि शिवु। मी एकला ना नव्हे बहु। माझा अनुभवु मीचि जाणें॥ ५८॥ झणीं आशंका धरिशी येथ। 'जरी जीव शिव तूंचि समस्त। तरी ते शुकवामदेवचि कां मुक्त। येरां म्हणत जड जीव॥ ५९॥ जरी तूचिं जीवरूपें तत्त्वतां। तरी हे ऐशि कां विषमता। शुकवामदेवांची अवस्था। वेदशास्त्रार्था सम्मत॥ ६०॥ तींही लोकांमाजीं जाण। वेदवचन तंव प्रमाण। हें बोलणें विलक्षण। अप्रमाण जैं मानिशी'॥ ६१॥ हो कां वेद म्हणे जें निश्चित। तें बोलणें माझें नि:श्वसित। तो मी स्वमुखीं जे बोलत। तें तूं अयुक्त म्हणतोसी॥ ६२॥ जो मी वेदांचा वेदवक्ता। सकळ शास्त्रांचा मूळकर्ता। त्या माझें वचन म्हणसी वृथा। अतियोग्यता तुज आली॥ ६३॥ वेदांचें जाण त्रिविध बंड। त्रिकांडीं केला तो त्रिखंड। वेदबळें बा पाखंड। वाजवी तोंड अव्हासव्हा॥ ६४॥ भासले बहुसाल मतभेद। वेदबळें नाना वाद। तो वेद माझा परोक्षवाद। तेणें तत्त्वावबोध केवीं होय॥ ६५॥ शब्दज्ञान ब्रह्मज्ञान। बाह्यदृष्टीं समसमान। जेवीं वाल आणि वालभर सुवर्ण। तुकितां पूर्ण समता आली॥ ६६॥ परी वाला सुवर्णा समता। मोलें कदा नव्हे तत्त्वतां। तेवीं वेदवादयोग्यता। ब्रह्मानुभविता सम नव्हे॥ ६७॥ जो मी हरिहरां प्रमाण। त्या माझें वचन अप्रमाण। तूं म्हणसी हा ज्ञानाभिमान। हेंही जाणपण सांडावें॥ ६८॥ माझें वचन सत्याचें सत्य। सत्य मानूनि निश्चित। येणें भावें साधे परमार्थ। हें ब्रह्मलिखित मद्वाक्य॥ ६९॥ उद्धवा मज पाहतां। वसिष्ठवामदेवादि समस्तां। न देखे बद्ध आणि मुक्तता। हा माझा तत्त्वतां निजबोधु॥ ७०॥ मुक्तांचिये दृष्टीं। मुक्तच दिसे सकल सृष्टी। तेथें शुकवामदेवांची गोष्टी। वेगळी पाठीं केवीं राहे॥ ७१॥ बद्धमुक्तांहूनि भिन्न। परमात्मा मी चिद्घन। जरी म्हणसी जीवासी बंधन। तेहीं सत्यत्वें जाण घडेना॥ ७२॥

शोकमोहौ सुखं दु:खं देहापत्तिश्च मायया। स्वप्ने यथाऽऽत्मन: ख्याति: संसृतिर्न तु वास्तवी॥ २॥

दोन मुहूर्त स्वप्नवृत्ती। त्यामाजीं देखे जन्मपंक्ती। तेथें पावला नाना याती। तेवीं मिथ्या प्रतीती भवभावा॥ ७३॥ नसता आभासु मावळे ठायीं। त्यालागीं हाहाकारु उठे देहीं। गेले मेले नाहीं नाहीं। 'शोक' पाहीं त्या नांव॥ ७४॥ भग्नपात्रीं भरिलें जळ। तेथें बिंबलें चंद्रमंडळ। तें पात्र पोटेंशीं धरी बाळ। रत्न प्रबळ हें माझें॥ ७५॥ जळ गळोनि जाय सकळ। चंद्रमा हरपे तत्काळ। त्यालागी तळमळी तें बाळ। 'शोकु' केवळ या नांव॥ ७६॥ अथवा घटचंद्र धरूं जातां। तो न ये बालकाचे हाता। यालागीं करी जे जे व्यथा। 'शोक' सर्वथा या नांव॥ ७७॥ काढावया आरशांतील धन। करी दर्पणामाजीं खनन। फुटल्या नागवलों म्हणे जाण। 'शोक' दारुण या नांव॥ ७८॥ नसते वस्तूच्या ठायीं जाण। मी माझें हा अभिमान। तेंचि 'मोहाचें' लक्षण। ममता दारुण ते संधी॥ ७९॥ देखोनि मृगजळाचें तळें। येणें पिकती रायकेळें। यालागीं मृगतृष्णेचीं जळें। आठै काळें राखतु॥ ८०॥ मृगजळाकडे कोणी भंवे। त्यासी सक्रोधें भांडू धांवे। अतिमोहित मोहस्वभावें। विवेकु न करवे

सत्याचा॥ ८१॥ तेवीं पुत्रापासोन सुखप्राप्ती। माता पिता होईल म्हणती। शेखीं पुत्र अंगोठा दावितीं। केवळ भ्रांति पुत्रमोहो॥ ८२॥ गंधर्वनगरींची रचना। देखोनि अभिलाष होय मना। ते घ्यावया मेळवी सेना। नानासूचनाउपायें॥ ८३॥ तैसा मिथ्या देहीं अभिमान। देहसंबंधाची ममता गहन। हेंचि मोहाचें मूळ लक्षण। ममताभिमान प्राणियां॥ ८४॥ एवं अहं आणि ममता। हेचि मोहाची मातापिता। त्याचेनि उत्तरोत्तर वाढतां। जनमोहिता व्यामोह॥ ८५॥ प्रियविषयीं आसक्ति देख। त्याची नित्यप्राप्ती अनेक। त्याचि नांव म्हणती 'सुख'। जेवीं चाखितां विख अति मधुर॥ ८६॥ विषयप्राप्तीं जो हरिख। तया नांव म्हणती 'सुख'। विषयविनाश तेंचि 'दुःख'। परम असुख त्या नांव॥ ८७॥ शोक-मोह-सुख-दुःख। येणेंचि 'देहाची प्राप्ती' देख। देहाभिमानें देह अनेक। दुःखदायक भोगवी॥ ८८॥ जे जेणें तीव्रध्यानें मरे। तो तेंचि होऊनि अवतरे। कां जो निमे अतिद्वेषाकारें। तो द्वेषानुसारें जन्मतु॥ ८९॥ सर्प मुंगुस पूर्ववृत्ती। वैराकारें जन्म पावती। जे जे वासना उरे अंतीं। ते ते गती प्राण्यासी॥ ९०॥ यालागीं हृदयामाजीं निश्चितीं। जे सबळ वासना उठे अंतीं। तो तो प्राणी पावे तिये गती। श्रुति बोलतीं पुराणें॥ ९१॥ पुरुषासवें वृथा छाया। तैशी ब्रह्मीं मिथ्या माया। ते उपजवी गुणकार्या। देह भासावया मूळ ते॥ ९२॥ जेवीं का स्वप्नीं एकलें मन। नानाकार होय आपण। तेवीं चैतन्याचें अन्यथाभान। तें हें जाण चराचर॥ ९३॥ एवं वस्तुतां संसार नाहीं। तेथें सुखदुःख कैंचें कायी। देहेंवीण छाया पाहीं। कोणें ठायीं उपजेल॥ ९४॥ जें उपजलेंच नाहीं। तें काळें गोरें सांगों कायी। अवघें स्वप्नप्राय पाहीं। वस्तुतां नाहीं संसारु॥ ९५॥ इहीं दोहीं श्लोकीं अगाधु। परिहरिला वस्तुविरोधु। आतां प्रतीतीनें जो अनुरोधु। तो सत्यासी बाधु करूं न शके॥ ९६॥ डोळां अंगुळी लाविती। तेणें दोन चंद्र आभासती। गगनीं दों चंद्रा नाहीं वस्ती। मिथ्या प्रतीती निराकारीं॥ ९७॥

विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्। मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते॥ ३॥

निजबोधें येत बोधा। 'ब्रह्माहमस्मि' स्फुरे सदा। ते जाण शुद्ध 'विद्या'। जें अविद्याछेदक॥ ९८॥ मी पापी मी सदा निर्दैवो। ऐसा नित्य स्फुरे भावो। तेचि सबळ 'अविद्या' पहा हो। जे नाना संदेहो उपजवी॥ ९९॥ एकी जीवातें घाली बंदी। एकी जीवाचें बंधन छेदी। या दोनी माझ्या शक्ति अनादी। जाण त्रिशुद्धी उद्धवा॥ १००॥ 'तूं चिन्मात्र चैतन्यघन। चित्स्वरूपें वृत्तिशून्य। तुज शक्ती कैंच्या जाण। निर्धर्मकपण सर्वदा'॥ १॥ उद्धवा हे आशंका वाया। कारण नाहीं करावया। या शक्ती जन्मवी माझी माया। जे न ये आया सुरनरां॥ २॥ 'सत्' म्हणों तरी तत्काळ नासे। 'असत्' म्हणों तरी आभासे। जिणें नामरूपांचें पिसें। लाविलें असे जगासी॥ ३॥ नातुडे संतासंतबोली। माया 'अनिर्वचनीय' झाली। तिणें विद्या-अविद्या इये पिलीं। वाढविलीं निजपक्षीं॥ ४॥ आजि काळींच्या केल्या नव्हती। विद्या अविद्या अनादि शक्ती। बंधमोक्षातें भासविती। या दोनी वृत्ती मायेच्या॥ ५॥ ते 'माया' तूं म्हणसी कोण। तुझी 'कल्पना' ते माया पूर्ण। बद्धमुक्तता-स्फुरण। तीमाजीं जाण स्फुरताति॥ ६॥ बंधमोक्षांची राहती स्थिती। ते मी सांगेन तुजप्रती। ऐक उद्धवा निश्चितीं। यथानिगुतीं निवाडें॥ ७॥ स्वप्नीं न देखे आराधन। ज्यासी नाहीं माझें भजन। अविद्या त्यामाजीं संपूर्ण। प्रबळ जाण वाढत॥ ८॥ तो माझ्या ठायीं अतिसादर। भजनशीळ आठौ प्रहर। तेंचि ब्रह्मविद्येचें घर। तेथें निरंतर ते वाढे॥ ९॥ जेथ माझ्या भजनाचा उल्हासु। तेथ अविद्येचा निरासु। तोचि ब्रह्मविद्येचा

प्रवेशु। हा अतिविश्वासु भक्तांचा॥ ११०॥ येथ बद्धाचें कारण। आणि मोक्षाचें साधन। भक्तीचें दृढ स्थापन-। अर्थास्तव जाण बोलिलों॥ ११॥ 'ज्या बंधमोक्ष दोनी वृत्ती। त्या तूं मायेच्या म्हणसी शक्ती। तेव्हां माया झाली मोक्षदाती। हें केवीं श्रीपति घडेल॥ १२॥ जरी माया झाली मोक्षदाती। तरी कां करावी तुझी भक्ती। हेंचि सत्य काय श्रीपती। सांग निश्चितीं निवाडु'॥ १३॥ कृष्ण म्हणे उद्धवासी। स्वयें चलन नाहीं छायेसी। तेवीं सामर्थ्य नाहीं मायेसी। केवीं मोक्षासी ते देईल॥ १४॥ जो मायेचा नियंता। तो विष्णु मोक्षाचा दाता। तोडूनि जीवाची बद्धता। सायुज्यता देतसे॥ १५॥ म्हणशी अविद्या-कामकर्मादृष्टें। जीवासी बंधन लागे मोठें। तें ब्रह्मविद्या-निष्कर्में तुटे। हा बोध करी नेटें गुरु श्रुतिद्वारा॥ १६॥ 'येथ विष्णु काय झाला कर्ता। मा तो होईल मोक्षदाता'। हे विकल्पाची वार्ता। न घडे सर्वथा उद्धवा॥ १७॥ गुरुरूपें विष्णु जाण। श्रुत्यर्थ विष्णुचि आपण। शमदमादि साधन। तेंही जाण विष्णुचि॥ १८॥ शिष्यबुद्धीसी बोधकता। विष्णुचि जाण तत्त्वतां। यापरी गा निजभक्तां। मोक्षदाता श्रीविष्णु॥ १९॥ त्या मोक्षाचा जो परिपाक। ते समाधि श्रीविष्णुचि देख। समाधीचें समाधिसुख। आवश्यक श्रीविष्णु॥ १२०॥ परमात्मा परिपूर्ण। तो मी विष्णु ब्रह्मसनातन। भक्तभवपाशमोचन। कृपाळू जाण करीतसें॥ २१॥ गत श्लोकींचेनि अनुवादें। 'शरीरिणाम्' येणें पदें। जीवासी बद्धपण उद्बोधे। तेंही विनोदें निवारितसे॥ २२॥ एकाशीच बद्धमुक्तता। घडे न घडे तत्त्वतां। या उद्धवाच्या प्रश्नार्था। विशद आतां करीतसे॥ २३॥

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते। बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः॥ ४॥

रितीवाढी असे अग्नीशी। तेथ फुणगे उसळले आकाशीं। रितीवाढी नाहीं स्वरूपासी। अंश भासावयासी ठावो कैंचा॥ २४॥ जेणें पाविजे निजबोधातें। ते बुद्धी उद्धवापाशीं वर्ते। यालागीं कृष्ण म्हणे 'महामते'। उद्धवातें अतिप्रीतीं॥ २५॥ अतिप्रीतीं पुरस्करून। उद्धवासी म्हणे सावधान। ये श्लोकींचा अर्थ गहन। ते धारणा जाण धरावी॥ २६॥ यालागीं कृष्णजगजेठी। उद्धवाची पाठी थापटी। अतिगुह्याची गुह्य गोष्टी। तुझे कृपेसाठीं मी बोलतों॥ २७॥ पाठी थापटावयामिसें जाण। करीत स्वशक्तिसंचरण। तेणें अद्वयबोधलक्षण। उद्धवासी जाण प्रकाशी॥ २८॥ जीव एकचि त्रिजगतीं। हें जाण उद्धवा निश्चितीं। जेवीं नाना दीपांचिया दीप्ती। तेजाची ज्योति अभिन्न॥ २९॥ दोनी दीप एक होती। तैशी टिवळीं ऐक्या न येती। जडत्वापाशीं भेदप्राप्ती। ऐक्यवृत्ती अजडत्वीं॥ १३०॥ चंदनकुटके बहुवस। परी सर्वीं एकुचि सुवास। तेवीं जीवरूपें मी अविनाश। परमपरेश आभासे॥ ३१॥ 'जीवरूपें तूं श्रीकृष्ण। हें सत्य मानावें वचन। तैं भवपाशादि बंधन। तुजचि जाण आदळलें'॥ ३२॥ ऐशी कल्पिशी जरी वार्ता। ते मज न घडे गा सर्वथा। जेवीं शरीरासी प्राण चाळिता। शरीरअवस्था त्या नाहीं॥ ३३॥ लिंगशरीरीं स्वयंभ। जीव तो मदंशें प्रतिबिंब। त्यासी देहादि बंधनभांब। मिथ्या विडंब आभासे॥ ३४॥ घटें आवरिला अवकाश। त्या नांव म्हणती 'घटाकाश'। घटभंगें त्या नव्हे नाश। तेवीं मी अविनाश जीवत्वीं॥ ३५॥ थिल्लरीं प्रतिबिंबला सविता। तो गगन सांडोनि थिल्लराआंतौता। नाहीं रिघाला तत्त्वतां। तेंवीं मी जीवत्वा अलिप्त॥ ३६॥ रवि छिल्लरीं बिंबला दिसे। तेवीं मी लिंगदेहीं आभासें। मिथ्या तेथींचें भोगपिसें। तें बंधन कैसें मज लागे॥ ३७॥ येथें बोलणें न लगे बहु। प्रतिबिंबा नांव 'जीवु'। मुख्य बिंब तो मी 'शिवु'। विशद उगवु हा जाण॥ ३८॥ तळाव विहिरीं नाना थिल्लुरीं। सूर्यु प्रतिबिंबे त्यांमाझारीं। तितुकीं रूपें दिवाकरीं। पाहतां अंबरीं तंव नाहीं॥ ३९॥

तैसें एकासी जें अनेकत्व। तें मिथ्या जाण जीवत्व। हें भागवताचें निजतत्त्व। शुद्ध सत्त्व ज्ञानाचें॥ १४०॥ थिल्लरीं प्रतिबिंबला सविता। चंचल निश्चल मळिनता। हे थिल्लराचे गुण तत्त्वतां। प्रतिबिंबमाथां मानिती॥ ४१॥ तेवीं शिवासी बाधकता। पाहतां नाहीं गा सर्वथा। हें अविद्याकार्य तत्त्वतां। जीवाचे माथां मानिती॥ ४२॥ एवं मिथ्या जीवभेद सर्वथा। त्यासी बद्धता आणि मुक्तता। विद्या अविद्या निजपक्षपाता। दावी तत्त्वतां निजकर्में॥ ४३॥ त्या जीवअभासासी प्रस्तुत। नित्यबद्ध नित्यमुक्त। एकासी दोनी अवस्था येथ। असे दावित विद्या अविद्या॥ ४४॥ जेवीं जळीं बिंबला सविता। त्या जळाची चंचळनिश्चळता। या प्रतिबिंबासीच अवस्था। मुख्य सविता ते नेणें॥ ४५॥ तेवीं जीवांची बद्धमुक्तता। परमात्म्यासी नलगे सर्वथा। जेवीं का अंधारींच्या खद्योता। न देखे सविता कल्पांती॥ ४६॥ जळीं आकाश दिसे बुडालें। परी तें कांही नाहीं झालें वोलें। तेवीं अविद्येसी अलिप्त ठेलें। असें संचलें निजरूप॥ ४७॥ एक बद्ध एक मुक्त। हें जीवामाजीं भासत। तेंही मी सांगेन निश्चित। सावचित्त परियेसीं॥ ४८॥ सहस्रघटीं जळ भरितां। एकचि सहस्रधा दिसे सविता। तेथ ये घटींची जी अवस्था। त्या घटस्था लागेना॥ ४९॥ तेथ जो घट होय चंचळु। त्यांतील प्रतिबिंब लागे अंदोळूं। परी दुजे घटीं जें निश्चळु। तें नव्हें चंचळु याचेनि॥ १५०॥ तेथ एकें दैवबळें। सूक्ष्म छिद्रें घटजळ गळे। तें प्रतिबिंब निजबिंबीं मिळे। येर सकळें तैसींचि॥ ५१॥ तेवीं गुरुकृपाउजियेडें। ज्याचें लिंगदेह विघडे। त्यासी परमात्म्यासी ऐक्य घडे। येर ते बापुडे देहबंदीं॥ ५२॥ हेंचि निरूपण पुढें। श्लोकसंगती सुरवाडें। तें मी सांगेन वाडेंकोडें। अतिनिवाडें निश्चित॥ ५३॥

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते। विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि॥ ५॥

येणेंचि प्रसंगें जाण। मागील तुझे जे प्रश्न। बद्धमुक्तांचें लक्षण। तेहीं निरूपण सांगेन॥ ५४॥ दोघांही देहीं असतां। दिसे विरुद्ध धर्म स्वभावतां। एक तो सदा सुखी सर्वथा। एक दुःखभोक्ता अहर्निशीं॥ ५५॥ येथ विलक्षणता दों प्रकारीं। एक ते जीव-ईश्वरामाझारीं। एक ते जीवांसी परस्परी। बद्ध मुक्त निर्धारीं निश्चित॥ ५६॥ पहिली जीवेश्वरांची कथा। तुज मी सांगेन विलक्षणता। मग जीवाची बद्धमुक्तता। विशद व्यवस्था सांगेन॥ ५७॥ जीवेश्वरांचें वैलक्षण्य। अडीच श्लोकीं निरूपण। स्वयें सांगताहे नारायण। भाग्य पूर्ण उद्धवाचें॥ ५८॥

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्॥ ६॥

'सुपर्ण' म्हणिजे पक्षी। ये वृक्षींचा जाय ते वृक्षीं। तैसा देही देहांतरातें लक्षी। यालागीं 'पक्षी' म्हणिजेत॥ ५९॥ पक्ष्यांच्या ऐशी यांची गती। हा देह सांडूनि त्या देहा जाती। 'पक्षी' म्हणावया हे उपपत्ती। जाण निश्चितीं उद्धवा॥ १६०॥ एवं आत्मा देहाहूनि भिन्न। तें सांगितलें उपलक्षण। देहात्मवादाचें खंडन। प्रसंगी जाण दाखविलें॥ ६१॥ आत्मा देह सर्वथा न घडे। देहबुद्धी धरणें तें तंव कुडें। हें उद्धवासी फाडोवाडें। निजनिवाडें दावित॥ ६२॥ देहबुद्धीचिया पोटी। जन्ममरणांचिया कोटी। स्वर्गनरकांची आटाटी। देहबुद्धि गांठी जीवशिवपणें॥ ६३॥ दोघेही चिद्रूपें सारखे। कधीं न होती आनासारिखे। अनादि हे दोघे सखे। अति नेटके जिवलग॥ ६४॥ काळें अकाळें सकाळें। नव्हती येरयेरांवेगळे। एकत्र वर्तती खेळेमेळें। निजप्रांजळें सख्यत्वें॥ ६५॥ प्रभा दीपु दवडिना वेगळा। दीपु प्रभेसी नव्हे निराळा। तेवीं जीवशिवांचा मेळा।

एकत्र स्वलीळा नांदती स्वयें॥ ६६॥ जीवु इच्छी जें जें कांहीं। तें तें वासनेसरिसें पाहीं। ईश्वर पुरवी सर्वही। विमुख कांही हों नेणे॥ ६७॥ अंतकाळीं जें जीव मागे। तें अलोट ईश्वर देवों लागे। आणि ईश्वरआज्ञेचेनि योगें। जीवु सर्वांगें वर्तत॥ ६८॥ ईश्वरआज्ञा त्रिशुद्धी। जीवें जीव सर्वस्वें वंदी। होय नव्हे न म्हणे कधीं। अभिनव सिद्धी सखेपणाची॥ ६९॥ नवल सख्यत्वाची परी। ईश्वर जैसें जैसें प्रेरी। जीवु तैसें तैसें करी। निमेषभरी ढळेना॥ १७०॥ निमेष आरंभोनि जन्मवरी। जीवु ईश्वराची आज्ञा करी। ईश्वरु जीवाचा साहाकारी। परस्परीं निजसखे॥ ७१॥ जीवु अत्यंत अडलेपणें। ईश्वरासी धांव धांव म्हणे। तो तत्काळ पावे धांवणें। करी सोडवणें जीवाचें॥ ७२॥ एवं शिवाचे आज्ञे जीवु राहे। जीवपण गेलिया शिवीं समाये। जीवालागीं हा शिवपणा वाहे। येरवीं राहे सांडूनि॥ ७३॥ ऐसें सखेपण यांचें। केवीं अनुवादवे वाचें। उद्धवा हें मीचि जाणें साचें। या सखेपणाचें सौजन्य॥ ७४॥ जीव ईश्वराआधीन। हें दृढ केलें संस्थापन। अनीश्वरवादाचें। खंडण। प्रसंगें जाण दाविलें॥ ७५॥ अनीश्वरवादु खंडितां। खंडिली कर्मपाखंडवार्ता। कर्मपाखंडाच्या मता। ईश्वरता न मानिती॥ ७६॥ म्हणती चित्तधर्म ईश्वरासी। तंव चिद्रूपता स्थापूनि त्यासी। निराकरिलें चित्तधर्मासी। अनायासीं चिद्रूपें॥ ७७॥ नाना परीचें अतिचिंतन। त्याचि नांव 'चित्त' जाण। चित्तेंवीण निश्चळपण। तेंचि 'चैतन्य' उद्धवा॥ ७८॥ धर्माधर्म न विचारितां। म्हणती ईश्वरु मोक्षदाता। हे भक्तपाखंडी कथा। स्थापूनि चिद्रूपता निवारी॥ ७९॥ टिळे-माळा-मुद्राधारणें। लावूनि संतांसीं निंदिलें जेणें। पाप राहटे भक्तपणें। त्यासी नारायणें नुद्धरिजे॥ १८०॥ अंतरींचें सर्व जाणता मी। यालागीं नांवें 'अंतर्यामी'। तो शाब्दिकवचनधर्मी। चाळविला अधर्मी केवीं जाये॥ ८१॥ मी ज्ञानस्वरूप तत्त्वतां। सर्वद्रष्टा सर्वज्ञाता। तो मी धर्माधर्म न विचारतां। मोक्षदाता हें न घडे॥ ८२॥ धरोनियां भक्तभावो। पाप राहाटे जो स्वयमेवो। याचि नामीं 'दांभिक' पहा हो। त्यातें देवो नुद्धरी॥ ८३॥ 'सदृशौ' आणि 'सखायौ'। धरोनि या पदांचा अन्वयो। पाखंडमात्रातें पहा हो। स्वयें देवो उच्छेदी॥ ८४॥ निरसोनि नाना मतांतरें। स्वमत करावया खरें। श्लोकींचीं पदें अतिगंभीरें। शार्ङ्गधरें वर्णिलीं॥ ८५॥ ते दोनी मिळोनियां पक्षी। नीड केळें देहवृक्षीं। वृक्ष म्हणिजे कोणे पक्षीं। तीहीं लक्षीं लक्षणें॥ ८६॥ जननीउदर तेंचि आळ। पित्याचें रेत बीज सकळ। गर्भाधान पेरणी केवळ। संकल्पजळ वृद्धीसी॥ ८७॥ सोहंभावाचा गुप्त अंकुरु। त्रिगुणभूमीं तिवणा डीरु। कोहंभावें वाढला थोरु। वृक्ष साकारु तेणें झाला॥ ८८॥ करचरणादि नाना शाखा। प्रबळबळें वाढल्या देखा। अधऊर्ध्व नखशिखा। वृक्षाचा निका विस्तारु॥ ८९॥ तया देहबुद्धीचीं दृढ मूळें। विकल्प-पारंब्या तेणें मेळें। भूमी रुतल्या प्रबळबळें। कामाचे कोंवळे फुटती कोंब॥ १९०॥ तेथ कर्माचीं पानें। निबिड दाटलीं अतिगहनें। मोहममतेचे घोंस तेणें। सलोभपणें दाटले॥ ९१॥ ज्या उंचावल्या थोर शाखा। त्या फळीं फळोनि सुखदुःखां। उतरल्या जी अधोमुखा। अधःपतनें देखा लोळती॥ ९२॥ ऐशिया वृक्षामाजीं जाण। अतिगूढ गुप्त गहन। नीड केलें हृदयस्थान। जीवशिव आपण बैसावया॥ ९३॥ जेथ जीव परमात्मा वसती। तरी देहाची जाहली सत्य प्राप्ती। ऐसें कोणी कोणी म्हणती। तें मत श्रीपति निराकरी॥ ९४॥ पुरुषासवें लटकी छाया। तोडितां मोडितां नये घाया। तैशी अनिर्वचनीय माझी माया। तेणें यदृच्छया नीड केलें॥ ९५॥ जेवीं स्वप्नीं गृहाचारु निद्रिता। तेवीं जीवात्मा नीडीं वसता। हें मायामय सर्वथा। नव्हे वस्तुतां

साचार॥ ९६॥ येणें निरूपणें गोविंदु। नैयायिक मताचा कंदु। समूळ केला त्याचा उच्छेदु। देहसंबंधु मिथ्यात्वें॥ ९७॥ ऐशियाही या वृक्षासी। जन्मादि निमेषोन्मेषीं। काळु छेदीतसे अहर्निशीं। बाळादि वयसांसी छेदकु॥ ९८॥ तया वृक्षाचीं फळें। तुरटें तिखटें तोडाळें। पक्वे अपक्वे सकळें। ज्यांसी 'पिप्पलें' म्हणताति॥ ९९॥ त्या दों पक्ष्यांमाजीं तत्त्वतां। जो जीवपणें बोलिजेता। तो या कर्मफळांचा भोक्ता। जीं नाना व्यथादायकें॥ २००॥ जीं फळें खातां पोट न भरे। खादल्या दारुण दुर्जरें। जेणें भवचक्रीं पडोनि फिरे। तरी अत्यादरें सेवितु॥ १॥ दुजा फळें खातां खुणा वारी। जीवासी त्या फळाची गोडी भारी। अखंड जाहला फळाहारी। वारिलें न करी शिवाचें॥ २॥ फळें सेविता अहर्निशीं। तिळभरी शक्ति नाहीं जीवासी। अशक्त देखोनियां त्यासी। काळ पाशीं बांधितु॥ ३॥ जो इयें सेवी कर्मफळें। तो तत्काळ बांधिजे काळें। दुजा कर्मफळा नातळे। त्यातें देखोनि पळे कळिकाळु॥ ४॥ जो कर्मफळातें न सेवितु। तो ज्ञानशक्तीनें अधिक अनंतु। सदा परमानंदें तृप्तु। असे डुल्लतु स्वानंदें॥ ५॥ उद्धवासी होय निजबोधु। यालागीं जीवशिवाचा भेदु। अत्यादरें सांगें गोविंदु। निजात्मबोधु प्रांजळु॥ ६॥

आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः॥ ७॥

जो कर्मफळातें न सेविता। जो स्वरूपाचा जाणता। द्रष्टा जीव-प्रपंचांचा तत्त्वतां। अलिप्तता निजज्ञानें॥ ७॥ जीवु प्रपंचाचा ज्ञाता। परी परमात्मा नेणे तत्त्वतां। यालागीं भोगी भवव्यथा। कर्मफळें खातां अतिबद्धु॥ ८॥ जो कर्मफळें सेवी बापुडा। तो अंधपंगु झाला वेडा। मी कोण हें नेणे फुडा। पाडिला खोडां देहाचे॥ ९॥ देहसंबंधाआंतु। प्रतिपदीं होय आत्मघातु। नाहीं जन्ममरणांसी अंतु। दुःखी होतु अतिदुःखें॥ २१०॥ नश्वर विषयांचा छंदु। तेणें जीवु जाहला अतिबद्धु। हा अविद्येचा संबंधु। लागला सुबद्धु देहवंतां॥ ११॥ जितुकी विषयाची अवस्था। तितुकी जीवासी 'नित्यबद्धता'। जो विषयातीत सर्वथा। 'नित्यमुक्तता' ते ठायीं॥ १२॥ जो विद्याप्राधान्यें नित्यमुक्तु। जो ज्ञानशक्तीनें शक्तिमंतु। सर्वव्यापकु सर्वीं अलिप्तु। तो 'नित्यमुक्तु' बोलिजे॥ १३॥ सांगितली जीवाची नित्यबद्धता। प्रगट केली शिवाची मुक्तता। जीवाची जे बद्धमुक्तता। तेही आतां सांगतु॥ १४॥ उद्धवाप्रती श्रीकृष्ण। बद्धमुक्तांचें लक्षण। दोघांचीही ऊणखूण। विचित्र जाण सांगेल॥ १५॥

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान् स्वप्नाद्यथोत्थितः। अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग्यथा॥ ८॥

बद्धमुक्तांचें मिश्र लक्षण। तीं श्लोकीं सांगेल जाण। केवळ मुक्ताचें सुलक्षण। गोड निरूपण सात श्लोकीं॥ १६॥ देहीं असोनि देहबुद्धि नाहीं। हें मुक्ताचें 'मुक्तलक्षण' पाहीं। यालागीं देंही असोनि 'विदेही'। म्हणिपे पाहीं या हेतू॥ १७॥ स्वप्नींचें राज्य आणि भीक। जागृतीं मिथ्या दोन्ही देख। तैसें देहादि जें सुखदुःख। तें मिथ्या देख मुक्तासी॥ १८॥ जो स्वप्नीं मरोनि जाळिला। तो जागृतीं नाहीं राख जाहला। तैसा प्रपंच मिथ्या जाणितला। 'मुक्त' बोलिला त्या नांव॥ १९॥ स्वप्नींचें साधकबाधक। जागृतीं आठवे सकळिक। त्याचें बाधीना सुखदुःख। तैसें संसारिक मुक्तासी॥ २२०॥ आतां ऐक बद्धाची स्थिती। तो वस्तुतां असे देहातीतीं। परी 'मी देह' हें मानी कुमती। दुःखप्राप्ती तेणें त्यासी॥ २१॥ जळीं देखे प्रतिबिंबातें। मी बुडालों म्हणोनि कुंथे। कोणी काढा काढा मातें। पुण्य तुमतें लागेल॥ २२॥ स्वप्नीं घाय लागले खड्गाचे। तेणें जागृतीं म्हणे

मी न वांचें। ऐसें निबिड भरितें भ्रमाचें। तें बद्धतेचें लक्षण॥ २३॥ स्वप्नींचें सुखदुःख नसतें। तें स्वप्नभ्रमें भोगितां कुंथे। तेवीं 'देह मी' म्हणोनि येथें। नाना दुःखांते भोगितु॥ २४॥ स्वस्वरूपाचें विस्मरण। तेणें विषयासक्ति दृढ जाण। संकल्प विकल्प अतिगहन। तेंचि लक्षण बद्धाचें॥ २५॥ आणिकें लक्षणें त्याचीं आतां। सांगतु असें तत्त्वतां। भोग भोगोनि अभोक्ता। ते 'मुक्तावस्था' परियेसीं॥ २६॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च। गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान्यस्त्वविक्रियः॥ ९॥

अवशेष प्रारब्धस्थितीं। मुक्तांची देहीं दिसे वस्ती। परी जागृतीं स्वप्न-सुषुप्तीं। देहस्थिती नातळे॥ २७॥ छाया पुरुषाचेनि चळे। ते छायेसी पुरुष नातळे। तेवीं मिथ्या देह मुक्ताजवळें। कल्पांतकाळें येवों न शके॥ २८॥ आपुले छायेसी जाण। जेवीं बैसों न शके आपण। तेवीं मायादि तिन्ही गुण। जवळी असोन स्पर्शेना॥ २९॥ इंद्रियद्वारा यथानिगुतीं। प्राप्त विषयांतें सेविती। परी सेविलें ऐसेंही नेणती। विषयस्फूर्ती स्फुरेना॥ २३०॥ गुण पोखिती गुणावस्था। इंद्रियें घेतीं इंद्रियार्था। मी उभयसाक्षी अकर्ता। चिन्मात्रतां अलिप्त॥ ३१॥ तो इंद्रियाचेनि खेळेमेळें। सुखें विषयामाजीं जरी लोळे। तरी विकाराचेनि विटाळें। कदाकाळें मैळेना॥ ३२॥ जेथ कामाची अतिप्रीती। तेथ लोभाची दृढ वस्ती। अथवा कामाची जेथ अप्राप्ती। तेथ महाख्याती क्रोधाची॥ ३३॥ मुक्त जाहला नित्य निष्काम। क्रोधलोभेंसी निमाला काम। तो स्वयें जाहला 'आत्माराम'। विश्रामधाम जगाचें॥ ३४॥ एवं मुक्ताच्या ठायीं जाण। उपजों न शके पापपुण्य। कामक्रोधादिवृत्तिशून्य। जाहला परिपूर्ण चिद्ब्रह्म॥ ३५॥ मुक्ताची विषयस्थिती। विषयीं स्पुरे ब्रह्मस्फूर्ती। यालागीं पापपुण्यें नुपजती। नित्यमुक्ति तेणें त्यासी॥ ३६॥ ऐशी मुक्ताची हे कथा। ऐक बद्धाचीही वार्ता। अकर्ताचि म्हणे मी कर्ता। येणेंचि सर्वथा गुंतला॥ ३७॥

दैवाधीने शरीरेऽस्मिन् गुणभाव्येन कर्मणा। वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबद्ध्यते॥ १०॥

अदृष्टाअधीन जें शरीर। तेथ आलियाहि हरिहर। अन्यथा न करवे अणुमात्र। हें वेद शास्त्रसंमत॥ ३८॥ देहीं ज्या गुणाचें प्राधान्य। तैसेंचि कर्म निपजे जाण। इंद्रियें तीं गुणाधीन। तदनुसारें जाण वर्ततीं॥ ३९॥ एवं दैवगुणें देहवर्तन। तेथ मी कर्ता म्हणवी आपण। तेंचि त्यासी दृढ बंधन। आपणा आपण घातक॥ २४०॥ नळीमाजिल्या चण्यांच्या आशां। वानरें मुठीं धरणें तोचि फांसा। तेवीं देहींच्या विषयविलासा। अभिमानें तैसा गुंतला॥ ४१॥ जी देहातीत वस्तुतां। जो गुणकर्माचा अकर्ता। तो म्हणे 'मी देह' 'मी कर्मकर्ता'। अहंममता भूलला॥ ४२॥ जो न करितांचि चोरी। मी चोरु म्हणे राजद्वारीं। तो मारिजे लहानथोरीं। तैशी परी जडजीवां॥ ४३॥ प्रकृतीचें कर्म आपुले माथां। घेऊनि नाचे अहंममता। तेणें अभिमानें दृढ बद्धता। आकल्पांता अनिवार॥ ४४॥ तळीं मांडूनि काजळा। वरी ठेविला स्फटिकु सोज्ज्वळा। श्वेतता लोपूनि दिसे काळा। तेवीं आंधळा जीवु झाला॥ ४५॥ कां आंधळें मातलें हातिरूं। नेणे निजपतन निर्धारु। तैसा जीवु लागे कर्म करूं। पतनविचारु तो न देखे॥ ४६॥ 'मी देह मी कर्मकर्ता। मी ज्ञाता मी विषयभोक्ता'। ऐशी जे कां देहात्मता। 'दृढबद्धता' तिये नांव॥ ४७॥ एवं बद्ध-मुक्त-वर्तन। विशद केलें निरूपण। आतां केवळमुक्ताचें लक्षण। आवडीं श्रीकृष्ण सांगतु॥ ४८॥ 'ज्ञानिया तो तंव आत्मा माझा'। हे अतिप्रीती गरुडध्वजा। हें गुह्य सांगितलें कपिध्वजा। रणसमाजा रणरंगीं॥ ४९॥ तेंचि आतां उद्धवाप्रती। अत्यादरें सांगे श्रीपती।

ज्ञानियांची मुक्तस्थिती। यथानिगुतीं निजगुह्य॥ २५०॥ ज्ञानलक्षणें सांगतां। धणी नपुरे श्रीकृष्णनाथा। निरोपणमिसें ज्ञानकथा। मागुतमागुतां सांगतु॥ ५१॥ यालागीं ज्ञानभक्तांची गोडी। श्रीकृष्णचि जाणे फुडी। कृष्णभजनाची आवडी। भक्त ते गोडी जाणती॥ ५२॥ आधींच तंव हे मुक्ताची कथा। वरी श्रीकृष्णासारिखा वक्ता। उद्धवाचें भाग्य वर्णितां। न वर्णवे सर्वथा शेषादिकां॥ ५३॥ उद्धव अर्जुनासमान। त्याहूनि हा दिसे गहन। ते परस्परें नरनारायण। गुह्य ज्ञान बोलिले॥ ५४॥ तेचि उलथूनि ज्ञानकथा। उद्धवासी होय सांगता। उद्धवा ऐसें भाग्य तत्त्वतां। न दिसे सर्वथा आनासी॥ ५५॥ जाणें सांडूनि निजधामा। मागें ठेवूनि आपल्या कामा। उद्धव आवडला पुरुषोत्तमा। त्याचिया प्रेमा विगुंतला॥ ५६॥ यालागीं उद्धवाचें शुद्ध पुण्य। जगीं उद्धवचि धन्य धन्य। जयालागीं स्वयें नारायण। स्वानंदघन वोळला॥ ५७॥ जो नातुडे योगयागसंकटीं। तो उद्धवाच्या बोलासाठीं। जेवीं व्याली धेनु वत्सा चाटी। तेवीं गुह्य गोठी सांगतु॥ ५८॥ जो निजकुळासी काळु। तो उद्धवासी अतिस्नेहाळु। बापु भक्तकाजकृपाळु। ज्ञानकल्लोळु तुष्टला॥ ५९॥ यालागीं उद्धवाचें नांव घेतां। श्रीकृष्ण निवारी भवव्यथा। ऐसी भक्तप्रीती भगवंता। भक्तातें स्मरतां हरि तारी॥ २६०॥ मुक्ताचीं लक्षणें निर्धारितां। लाभे आपुली निजमुक्तता। एका जनार्दनु विनवी संतां। मुक्तकथा हरि बोले॥ ६१॥ कृष्णु उद्धवासी म्हणे मी तुज। सांगेन आपुलें निजगुज। मुक्तलक्षणाचें भोज। नवल चोज परियेसीं॥ ६२॥

एवं विरक्तः शयने आसनाटनमज्जने। दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ॥ ११॥

ऐकें मुक्ताचें लक्षण। आसन भोज शयन। दर्शन स्पर्शन घ्राण। अटन मज्जन करी कैसें॥ ६३॥ मागील श्लोकार्थु संपतां। प्रकृतिकर्म अभिमानता। तेणें लागली दृढबद्धता। तो अहंकारु ज्ञाता नातळे॥ ६४॥ सर्वकर्मीं स्वभावतां। ज्ञात्याची निरभिमानता। ते मी समूळ सांगेन कथा। सावधानता अवधारीं॥ ६५॥ जेवीं छायेचा मानापमान। पुरुषा न बाधी अणुप्रमाण। तेवीं देहाचें कर्माचरण। निरभिमान मुक्तासी॥ ६६॥ स्वाधिष्ठान तेंचि 'आसन'। अखंड त्यावरी आरोहण। तेथें येवोंचि नेणे अभिमान। बैसलें मन उठेना॥ ६७॥ नवल आसनाचें महिमान। हारपोनि गेलें विस्मरण। कदा एकांतु न मोडे जाण। हें 'सहजासन' मुक्ताचें॥ ६८॥ जें आसनींचें समाधान। समाधि आणि व्युत्थान। करी दोंहीची बोळवण। हें चालतें 'आसन' मुक्ताचें॥ ६९॥ जें बैसल्या आसनीं समाधान। त्याचि स्थिति 'गमनागमन'। उठिलों बैसलों नाठवे जाण। चालतेंपण स्फुरेना॥ ७०॥ चालतांही चपळ पदीं। मी चालतो हे नाठवे बुद्धी। चालतां न मोडे समाधी। हे लक्षणसिद्धी मुक्ताची॥ ७१॥ जरी त्रैलोक्य हिंडला। तरी ठायींहूनि नाहीं हालला। ऐसा न चलोनि मुक्तु चालला। जेवीं अभ्रें धांवला दिसे चंद्र॥ ७२॥ कुलालचक्रीं बैसली माशी। ते न हालतां भंवे चक्रासरसीं। मुक्तांची गमनसिद्धी तैशी। देहगमनेंसीं आभासे॥ ७३॥ देहो प्रारब्धास्तव हिंडे। बैसका स्वस्वरूपींची न संडे। जेवीं रथीं धांवतां सवेग घोडे। निद्रा न मोडे रथस्थाची॥ ७४॥ ऐसें न चळतां जें चळण। तें जाण मुक्ताचें 'गमन'। आतां ऐक त्याचें 'स्नान'। निमज्जन निजरूपीं॥ ७५॥ स्नान करी गंगाजळें। परी गंगोदकातें नातळे। मन 'चित्स्वरूपीं' केलें सोवळें। तें वोवळें हों नेणे॥ ७६॥ त्यासी निजस्वरूपीं नाहतां। जाहली परम पवित्रता। तीर्थें मागती चरणतीर्था। ऐशी सुस्नातता मुक्ताची॥ ७७॥ तो चिन्मात्रचि देखे जीवन। अखंड चिद्रुपीं अवगाहन। इतर म्हणती केलें स्नान। त्यासी निमज्जन निजरूपीं॥ ७८॥ त्याचे

चरणींचे रज:कण। लाहोनि धरा परम पावन। त्याचेनि प्राणसंगें जाण। पवित्रपण वायूसी॥ ७९॥ त्याचेनि चरणस्पर्शें तत्त्वतां। पवित्र झाल्या गंगादि सरिता। त्याचेनि जठरसंगे सर्वथा। अतिपवित्रता अग्नीसी॥ २८०॥ त्याच्या हृदयावकाशीं आकाश। सगळें राहिलें सावकाश। तेणें पवित्र जाहलें आकाश। अलिप्त उदास सर्वत्र॥ ८१॥ जे चढोनि बैसले वैकुंठीं। ते सदा वांछिती त्याची भेटी। वेदु ऐकों धांवे गोठी। तो पहावया दिठीं देव येती॥ ८२॥ एवं चित्स्वरूपीं करूनि स्नान। जाहला सर्ववंद्य अतिपावन। हें मुक्ताचें स्नानलक्षण। आतां 'निरीक्षण' तें ऐक॥ ८३॥ अवघें चराचर देखतां। तो देखोनीचि न देखता। दृष्टीसी दृश्यासी अलिप्तता। दृश्य देखतां हरि दिसे॥ ८४॥ दृश्यें दुमदुमित दिसे सृष्टी। परी दृश्य न पडे त्याचे दृष्टीं। होतांही दृश्येंसीं भेटी। पडे मिठी अदृश्यीं॥ ८५॥ दृष्टि प्रकाशे देखणेपणीं। तें देखणें देखे दृश्यस्थानीं। जेवीं डोळ्यां डोळा दर्पणीं। निज दर्शनीं देखतु॥ ८६॥ डोळेनि दर्पणु प्रकाशे। त्यामाजीं डोळेनि डोळा दिसे। मुक्ताचें देखणें तैसें। आपणयाऐसें जग देखे॥ ८७॥ दृश्य-द्रष्टा-दर्शनीं। त्रिपुटी गेली हारपोनी। देखणें देखे देखणेनी। देखणा होउनी सर्वांगें॥ ८८॥ होतां नाना पदार्थेंसीं भेटी। तें देखणेपणा दृश्य लोटी। दृश्यातीत निजदृष्टीं। सुखें सृष्टी देखतु॥ ८९॥ मुक्ताची हे देखती स्थिती। देखणेपणें यथानिगुतीं। उद्धवा ये दृष्टीची ज्यासी प्राप्ती। तोचि त्रिजगतीं पावन॥ २९०॥ या दृष्टीं जे नित्य वर्तत। ते जाण पां परम मुक्त। या दृष्टीं जे मज पाहत। परम भागवत प्रिय माझे॥ ९१॥ परादिवाचांमाजीं वचन। उपजे तेथ याचें 'श्रवण'। श्रोता वक्ता कथा कथन। अवघें आपण होऊनि ऐके॥ ९२॥ शब्दजातेंसीं कान। अखंड जडले सावधान। श्रवणामाजीं हारपे गगन। परम समाधान श्रवणाचें॥ ९३॥ ऐकतां लौकिक शब्द। कां नारायण-उपनिषद। परिसतां नाम हरि-गोविंद। अर्थावबोध समत्वें॥ ९४॥ बोलातें जो बोलविता। तोचि श्रवणामाजीं श्रोता। येणें अन्वयें श्रवण करितां। शब्दीं नि:शब्दता अतिगोड॥ ९५॥ जो जो श्रवणीं पडे शब्दु। तो तो होत जाय नि:शब्दु। यापरी श्रवणीं परमानंदु। स्वानंदबोधु मुक्ताचा॥ ९६॥ अकारादि वर्णत्रिपुटी। प्रणवु मूळशब्द सृष्टीं। तो ओंकार ब्रह्मरूपें उठी। हे श्रवणसंतुष्टी मुक्ताची॥ ९७॥ श्रवणीं पडतां शब्दज्ञान। सहजें शाब्दिक जाय उडोन। श्रवणीं ठसावे ब्रह्म पूर्ण। स्वानंदश्रवण मुक्ताचें॥ ९८॥ परिसतां उपनिषद। कां लौकिकादि नाना शब्द। मुक्ताचा पालटेना बोध। श्रवणीं स्वानंद कोंदला॥ ९९॥ एक अद्वितीय ब्रह्म। हें वेदशास्त्राचें गुह्य वर्म। तें मुक्तांसी जाहलें सुगम। शब्दी परब्रह्म कोंदलें॥ ३००॥ लौकिक वैदिक शब्द जाण। शब्दमात्रीं ब्रह्म पूर्ण। ऐसें मुक्ताचें हें श्रवण। 'घ्राणलक्षण'। परियेसीं॥ १॥ घ्राणासी येतां सुगंधु। मुक्तासी नोहे विषयबोधु। गंधमिसें स्वानंदकंदु। परमानंदु उल्लासे॥ २॥ घ्राण-सुमन-चंदन। अवघें तो होय आपण। यापरी गंध भोगी जाण। भोक्तेंपण सांडोनी॥ ३॥ घ्राणा येतांचि सुवासु। सुवासीं प्रकटे परेशु। तेव्हां सुवासु आणि दुर्वासु। हा विषयविलासु स्फुरेना॥ ४॥ मलयानिलसंगें जाण। जेथ जेथ गंधाचें गमन। तेथ तेथ मुक्ताचें घ्राण। अगम्यपण या भोगा॥ ५॥ जितुका चळता वायु जाण। तितुकें मुक्ताचें घ्राण। यापरी गंधग्रहण। स्वभावें जाण होतसे॥ ६॥ यापरी जाण तत्त्वतां। होय तो गंधाचा भोक्ता। हे घ्राणक्रिया जाण मुक्ता। 'रसभोग्यता' अवधारीं॥ ७॥ रस-रसना-भोजन। तो स्वयेंचि आहे आपण। हातु न माखितां सर्वापोशन। रसनेविण सेवितु॥ ८॥ षड्रसांचा स्वादु जाणे। परी एकीचि चवीं अवघें खाणें। भोक्तेपणा आतळों नेणे। ऐसेनि भोजनें नित्यतृप्तु॥ ९॥ भूक उपजोंचि नेणे। जेवूं बैसल्या

पुरे न म्हणे। सर्वभक्षी नखातेपणें। उच्छिष्ट होणें त्या नाहीं॥ ३१०॥ ताट अन्न आणि आपण। तो न देखे भिन्नपण। रसमिसें स्वानंदपूर्ण। सर्वांगें जाण सेवित॥ ११॥ जंव रसना घेवों जाय रसस्वादु। तंव तेथें प्रकटे परमानंदु। करूनि रसरसने उच्छेदु। निजानंदु सेवितु॥ १२॥ सकळ गोडियांची मूळ गोडी। तेथ बैसली निजआवडी। सेवितां नाना परवडी। तेचि गोडी गोडपणें॥ १३॥ सकळ गोडियां जें गोड आहे। ते गोडीच तो झाला स्वयें। आतां जो जो रसविषयो खाये। तेथ तेथ आहे ते गोडी॥ १४॥ कैसा मुक्ताचा निजबोधु। घेवों जातां रसस्वादु। रसत्व लोपूनि स्वानंदकंदु। परमानंदु वोसंडे॥ १५॥ यालागीं जो जो रस सेवूं जाये। तो तो ब्रह्मरसुच होये। मुक्ताची रसना यापरी पाहें। घेत आहे रसातें॥ १६॥ एवं मुक्ताचें जें भोजन। ते करिती क्रिया ऐशी जाण। आतां तयाचें जें 'स्पर्शन'। तेंही लक्षण परियेसीं॥ १७॥ मुक्ता शीत लागातांचि जाण। शीत सांडी शीतळपण। स्पर्शे उष्णत्वा मुकलें उष्ण। स्पर्शलक्षण हें त्याचें॥ १८॥ जेवीं कां टेंकितां अग्नीशी। घुरें आणी चंदनाशी। जाळूनि त्यांच्या विकाराशी। आपणाऐशीं करी वन्ही॥ १९॥ तेवीं मुक्तासी द्वंद्वें आदळतां। द्वंद्वांची बुडाली द्वंद्वता। तो सर्वी सर्वपणें असतां। सहजे द्वंद्वता निमाली॥ ३२०॥ तेथ कैंचे मृदु कैंचेंकठिण। कैंचें शीत कैंचें उष्ण। सर्वीं सर्वात्मा तो जाण। द्वंद्वाचें भान स्पर्शेना॥ २१। आगीसी पोळीना उन्हाळा। हींव पीडीना हिमाचळा। तैशी द्वंद्वांची हे माळा। मुक्ताचे गळां पडेना॥ २२॥ सुवर्णांचे अलंकार भले। सुवर्णपेटीमाजी झांकिले। झांकिले म्हणतां उघडे ठेले। तेवीं द्वंद्वें सकळ परब्रह्म॥ २३॥ अंगीं जें जें आदळें। तें अंगचि होय तत्काळें। कांहीं नुरे त्यावेगळें। द्वंद्वे सकळें निमालीं॥ २४॥ त्यासी हातीं लीलाकमळ सांपडे। तंव कमळीं कमळत्वचि उडे। कमळजन्मा तोही बुडे। करी रोकडे निजरूप॥ २५॥ स्पर्श-स्पर्शतें-स्पर्शावें। हेही त्रिपुटी न संभवे। किंबहुना आपणचि आघवें निजस्वभावें होऊनि ठेला॥ २६॥ तो देवपूजा हातीं धरी। तरी मीचि ते देवपूजेभीतरीं। अथवा खेळों रिघाल्या पाथरीं। त्याहीमाझारीं मी त्यासी॥ २७॥ भिंती नानावर्ण चित्राकृती। तेथें जें जें स्पर्शे तें तें भिंती। तेवीं मुक्ताची स्पर्शनस्थिती। पूर्ण अद्वैतीं निजबोधु॥ २८॥ यापरीं गा तत्त्वतां। स्पर्शलक्षण वर्ते मुक्ता। त्याचें 'बोलणें' जें सर्वथा। ऐक आतां सांगेन॥ २९॥ सुरस कथा सांगे वाडेंकोडें। अथवा लौकिक बोलणें घडे। परी त्याची समाधिमुद्रा न खंडे। मौन न मोडे बोलतां॥ ३३०॥ बोलतांही न मोडे मौन। हेचि अनुभवाची आंतुली खूण। शब्दामाजीं निःशब्दगुण। सज्ञान जाण जाणती॥ ३१॥ स्त्रीपुरुषें अबोला चालती। तो अबोला कीं अतिप्रीती। तेवीं मुक्ताची बोलती स्थिति। शब्द शब्दार्थी निःशब्द॥ ३२॥ जयाचीं बोलतीं अक्षरें। अक्षररूपेंचि साचारें। त्याचीं ऐकतां उत्तरें। चमत्कारें मन निवे॥ ३३॥ मी एकु चतुर बोलका। हाही नाहीं आवांका। अथवा रंजवावें लोका। हेंही देखा स्मरेना॥ ३४॥ निःशब्दीं उठती शब्द। शब्दामाजीं ते निःशब्द। यापरी करितांही अनुवाद। बोलोनि शुद्ध अबोलणा॥ ३५॥ जळामाजीं उपजे तरंग। जळ तरंगाचें निजांग। तेवीं निःशब्दीं शब्द साङ्ग। शब्दाचें सर्वांग निःशब्द॥ ३६॥ वाच्य-वाचा-वाचकता त्रिपुटी। लोपूनि सांगे गोड गोठी। करितां सैराट चावटी। न सुटे मिठी मौनाची॥ ३७॥ म्यां सत्यचि बोलावें। हेंही त्यासी जीवें नाठवे। मिथ्या बोलों लोभस्वभावें। हेंही न संभवे मुक्तासी॥ ३८॥ सत्य मिथ्या जीं बोलणीं। निःशेष प्राशूनि नेलीं दोनी। मूळींच्या मौनें जाहला मौनी। नाना वचनीं बोलतां॥ ३९॥ तेथ सैराट हाक देतां। कां सिंहनादें गर्जतां। शब्दीं ठसावली निःशब्दता।

मौन सर्वथा मोडेना॥ ३४०॥ जरी तो माझें स्तवन करी। तरी मी त्याच्या स्तवना माझारीं। तो जरी सैरा बडबड करी। त्याही माझारीं मी त्यासी॥ ४१॥ जरी त्यासी येऊनि भांडण पडे। तरी भांडणही करणें घडे। त्या कळहामाजीं मागेंपुढें। चहूंकडे मज देखे॥ ४२॥ त्याचे वांकुडे तिकुडे व्यंग बोल। ते जाण ब्रह्मचि केवळ। तया आम्हां अभिन्न मेळ। निजात्मसाल वस्तीसी॥ ४३॥ अवचटें ये त्याच्या मुखाबाहेरीं। ज्यासी म्हणे 'तुज देवो तारी'। त्यासी मी वाउनियां शिरीं। ब्रह्मसाक्षात्कारीं पाववीं॥ ४४॥ यालागीं त्याच्या वचनाऽधीन। मी सर्वथा असें जाण। त्याचें वचन तें प्रमाण। सर्वस्वें जाण मी मानीं॥ ४५॥ आतां 'तो' 'मी' हे ऐशी बोली। बाहेरसवडी वाढिन्नली। 'मी तोचि तो' हे किली। मागीं चोजवली मद्भक्तां॥ ४६॥ यालागीं तो माझा जीवप्राण। मी त्याचें निजजीवन। तयासीं मज भिन्नपण। कल्पांतीं जाण असेना॥ ४७॥ एवं तो सगळा मजभीतरीं। मी तया आंतुबाहेरीं। ऐसेनि अभिन्नपणेंकरीं। सुखें संसारीं नांदतु॥ ४८॥ त्याचे मुखींचे जे जे बोल। ते मीचि बोलता सकळ। मुक्ताचें बोलणें केवळ। तुजप्रती विवळ म्यां केलें॥ ४९॥ 'हातीं' कांही घेवों जाये। तंव घेणें देवोचि होये। देतां कांहीं देवो पाहे। तेंही होये तद्रूप॥ ३५०॥ तेव्हां दान आणि देते-घेते। भिन्नपणें न देखे तेथें। यालागीं करोनियां अकर्ते। यापरी करांतें वर्तवी॥ ५१॥ निजस्वभावें ते कर। जो कांहीं करिती व्यापार। तेथ नकेलेपणाचें सूत्र। सहजीं साचार ठसावे॥ ५२॥ करीं पडलिया शस्त्र। करूं जाणे तो व्यापार। परी 'मी कर्ता' हा अहंकार। अणुमात्र असेना॥ ५३॥ पुढें वोढवलें अवचितें। तरी खेळों जाणे द्यूतकर्मातें। हारी जैत नाठवे चित्तें। निजस्वभावें तें खेळतु॥ ५४॥ वोडवल्या ब्राह्मणपूजा। करूं जाणे अतिवोजा। पूज्यपूजकत्वें भावो दुजा। न मनूनि द्विजां पूजितु॥ ५५॥ धनुषीं काढूं जाणे वोढी। अनुसंधानें बाण सोडी। अलक्ष्य लक्षूनि भेदी निरवडी। परी न धरी गोडी श्लाघेची॥ ५६॥ कैसें कर्म निपजे करीं। जैशा समुद्रामाजीं लहरी। तैसा निजस्वरूपामाझारीं। नाना व्यापारीं निश्चळु॥ ५७॥ सूर्य मृगजळातें भरी। तैसा व्यापारु निजनिर्विकारीं। परी केलेंपण शरीरीं। तिळभरी असेना॥ ५८॥ सूर्यकांतीं अग्नि खवळे। तें कर्म म्हणती सूर्यें केलें। तैसें हस्तव्यापारें जें जें जाहलें। नाहीं केलें तें त्याणें॥ ५९॥ सूर्यकांतीं पाडावा अग्नी। हें नाहीं सूर्याचे मनीं। तेवीं मुक्त निरभिमानी। क्रियाकरणीं विचरतु॥ ३६०॥ त्यासी चालवूं जातां 'पायें'। तळीं पृथ्वी नाहीं होये। आपण आपणियावरी पाहे। चालतु जाये स्वानंदें॥ ६१॥ जळींचा जळावरी तरंग। अभिन्नपणें चाले चांग। तैसा तो निजरूपीं साङ्ग। चालवी अंग चिद्रूपें॥ ६२॥ तयासी असतांही चरण। आवडीं चाले चरणेंविण। करी सर्वांगें गमन। सर्वत्र जाण झालासे॥ ६३॥ जेवीं अखंडदंडायमान। पायेंवीण चाले जीवन। तेवीं चरणेंवीण गमन। नित्य सावधान मुक्ताचें॥ ६४॥ सर्वथा पायेंविण। वायूचें सर्वत्र गमन। तैसेंच मुक्ताचें लक्षण। स्वरूपीं जाण सर्वत्र॥ ६५॥ यापरी न हालतां जाण। त्याचें सर्वत्र 'गमन'। नाठवे चालतेंपण। ऐसेंच लक्षण मुक्ताचें॥ ६६॥ मूळीं आत्मा आत्मी नाहीं जाणा। यालागीं स्त्रीपुरुषभावना। त्यासी सर्वथा आठवेना। दैवें 'अंगना' तो भोगी॥ ६७॥ नटु नाटकु अवगमला। पुरुष स्त्रीवेषें दिसों आला। स्त्रीपुरुषभावो संपादिला। तेवीं हा जाहला गृहस्थु॥ ६८॥ कां अर्धनारीनटेश्वरीं। जो पुरुष तोचि नारी। मुक्तासी जाण तैशापरी। स्त्रीपुरुषाकारीं निजबोधु॥ ६९॥ जेवीं कां आपुली साउली। आवडीं आपण आलिंगिली। तेवीं मुक्तें स्त्री भोगिली। द्वैताची भुली सांडोनी॥ ३७०॥ छाया कोठें असे कोठें वसे। सरशी असतां

ज्याची तो न पुसे। मुक्तासी जाण तैसें। लोलुप्य नसे स्त्रियेचें॥ ७१॥ एवं स्त्रीपुरुषविकारप्राप्ती। त्याची न मोडे आत्मस्थिती। दैवें जाहलिया संतती। आत्मप्रतीति तेथेंही॥ ७२॥ 'आत्मा वै पुत्रनामासि'। सत्यत्व आलें ये श्रुतीसी। पुत्रत्वें देखे आपणासी। निजरूपेंसीं सर्वदा॥ ७३॥ स्वयें जनकु स्वयें जननी। स्वयें क्रीडे पुत्रपणीं। आपणावांचूनि जनींवनीं। आणिक कोणी देखेना॥ ७४॥ एवं स्त्रीपुत्रसंतती। जेवीं आकाशी मेघपंक्ती। काळें येती काळें जाती। तैशी स्थिती मुक्ताची॥ ७५॥ स्त्रीसंभोगीं जें होय सुख। तें सुख मुक्तासी सदा देख। यालागी स्त्रीकामअभिलाख। नाही विशेख मुक्तासी॥ ७६॥ जैसे राजहंसापाशीं शेण। तैसें मुक्तापाशीं जाण 'धन'। त्यावरी त्याचें नाहीं मन। उदासीन सर्वदा॥ ७७॥ व्याघ्रासी वाढिलें मिष्टान्न। तें त्यासी जैसें नावडे जाण। तैसें मुक्तासी नावडे धन। धनलोभीपण त्या नाहीं॥ ७८॥ पोतास कापुराचा डला। जेवीं नातळे काउळा। तेवीं अनर्घ्यरत्नमाळा। मुक्तें सांडिल्या थुंकोनि॥ ७९॥ ज्यासी धनलोभाची आस्था। त्यासी कल्पांतीं न घडे मुक्तता। तैसें स्त्रीकामिया सर्वथा। नव्हे परमार्थता निजबोधु॥ ३८०॥ मुक्ताचिये निद्रेपाशीं। समाधि ये विश्रांतीसी। शिणली धांवे माहेरा जैशी। तैसी विसाव्यासी येतसे॥ ८१॥ जागृतिस्वप्नसुषुप्तीसी। नातळोनि तींही अवस्थांसी। निजीं निजे निजत्वेंसीं। अहर्निशीं निजरूपें॥ ८२॥ निजीं निजों जातां निर्धारा। तळीं हरपली धरा। वरी ठावो नाहीं अंबरा। ऐशिया सेजारामाजीं निजे॥ ८३॥ नवल निजती त्याची वोज। चालतां बोलतां न मोडे नीज। खातां जेवितां अखंड नीज। सहजीं सहज निजरूप॥ ८४॥ निजवितें कां उठवितें। दोनी तोचि आहे तेथें। कोण कोणा जागवितें। निजे सुचित्तें निजरूपें॥ ८५॥ जागतां निजेशीं वागे। वागतांही नीज लागे। एवं नीजरूप जाहला अंगें। निद्रेचेनि पागें पांगेना॥ ८६॥ शय्या-शयन सेजार। अवघे तोचि असे साचार। आपुल्या निजाचें आपण घर। नित्य निरंतर निजीं निजे॥ ८७॥ ऐसें जें जें करूं जाय कर्म। तेथ तेथ प्रकटे परब्रह्म। मुक्तासी एकुही नाहीं नेम। हें मुख्य वर्म मुक्ताचें॥ ८८॥ मुक्तासी नेमबंधन। तैं अंगीं लागलें साधन। साधन असतां मुक्तपण। न घडे जाण सर्वथा॥ ८९॥ मुक्तासी तंव आसक्ती। सर्वदा नाहीं सर्वार्थी। शेष प्रारब्धाचे स्थितीं। कर्में निफजतीं निरपेक्ष॥ ३९०॥ ज्याचा निमाला अहंकारु। तो माझें स्वरूप साचारु। ये अर्थीं न लगे विचारु। वेदशास्त्र-संमत॥ ९१॥ जो नित्यमुक्त निर्विकारी। तो वर्ततां वर्ते मजमाझारीं। मी तया आंतुबाहेरीं। जेवीं सागरीं कल्लोळ॥ ९२॥ यापरी झाला जो परब्रह्म। त्यासी स्वप्नप्राय धर्माधर्म। बाधूं न शके इंद्रियकर्म। हें त्याचें वर्म तो जाणे॥ ९३॥

न तथा बद्ध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन् गुणान्। प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः॥ १२॥

जिंहीं इंद्रियीं कर्म करितां। मूर्खासी झाली दृढबद्धता। तिंहीं इंद्रियीं वर्ततां ज्ञाता। नित्यमुक्तता अनिवार॥ ९४॥ मूर्खासी कर्मीं अभिमान। ज्ञाता सर्व कर्मीं निरभिमान। बंधमोक्षाचें कारण। अहंकारु जाण जीवांसी॥ ९५॥ 'अहं कर्ता' 'अहं भोक्ता'। हेचि मूर्खाची दृढबद्धता। तें प्रकृतिकर्म आपुले माथां। नेघे ज्ञाता अभिमानें॥ ९६॥ तेचि ज्ञात्याची निरभिमानता। तुज म्यां सांगितली आतां। इंद्रियां विषयो भोगवितां। आपुली अभोक्तृता तो जाणे॥ ९७॥ आपुली छाया विष्ठेवरी पडे। अथवा पालखीमाजीं चढे। तो भोगु आपणियां न घडे। तैसेंचि देह रोकडें मुक्तासी॥ ९८॥ मज होआवी विषयप्राप्ती। हेंही ज्ञाते न वांछिती। विषय मिथ्यात्वें देखती। जेवीं कां संपत्ती चित्रींची॥ ९९॥ यालागीं असोनियां देहीं। तो नित्यमुक्त विदेही। त्यासी

प्रकृतिगुणांच्या ठायीं। अभिमानु नाहीं सर्वथा॥ ४००॥ म्हणसी 'असोनियां देहीं। कोण्या हेतु तो विदेही'। उद्धवा ऐसें कल्पिशी कांहीं। तो दृष्टांतु पाहीं सांगेन॥ १॥ आकाश सर्वांमाजीं असे। सर्व पदार्थीं लागलें दिसे। परी एकेंही पदार्थदोषें। मलिन कैसें हों नेणे॥ २॥ त्या गगनाचेपरी पाहीं। ज्ञाता असोनियां देहीं। देहकर्माच्या ठायीं। अलिप्त पाहीं सर्वदा॥ ३॥ प्रचंड आणोनि पाषाणीं। आकाश न चेंपे। चेंपणीं। तेवीं क्षोभलियाही प्रकृतिगुणीं। ज्ञाता जडपणीं न बंधवे॥ ४॥ आकाश असोनियां जनीं। कदा रुळेना जनघसणीं। तैसा प्रकृतिकर्मी वर्तोनी। प्रकृतिगुणीं अलिप्त॥ ५॥ गगन जळीं बुडालें दिसे। परी तें जळामाजीं कोरडें असे। तेवीं पुत्रकलत्रीं ज्ञाता वसे। तेणें दोषें अलिप्त॥ ६॥ आकाशा मसी लावूं जातां। मसीं माखे तो लाविता। तेवीं मुक्तासी दोषी म्हणतां। दोष सर्वथा म्हणत्यासी॥ ७॥ शीत उष्ण पर्जन्यधारा। अंगीं न लागती अंबरा। तेवीं नाना द्वंद्वसंभारा। मुक्ताचा उभारा निर्द्वंद्व॥ ८॥ येऊनि नाना मेघपटळें। गडगर्जनें गगन झांकोळे। त्यामाजीं असोनियाँ वेगळें। गगन नातळे मेघातें॥ ९॥ तेवीं मोहममतेच्या कडाडी। मुक्तासी करिती ताडातोडी। ते तंव त्यास न लगे वोढी। परापर थडी अलिप्तु॥ ४१०॥ गगनासी आगी लावूं जातां। अग्नि विझोनि जाय सर्वथा॥ तेवीं त्रिगुणीं मुक्तासी बांधतां। गुणीं सगुणता निमाली॥ ११॥ प्रळयवायूचेनि झडाडें। आकाश निजस्वभावें नुडे। सगळा वायु गगनीं बुडे। पाहतां नातुडे गगनींही॥ १२॥ तेवीं अविद्या निजस्वभावतां। मुक्तासी न करवेचि बद्धता। 'अविद्या' नांवें मिथ्या वार्ता। मुक्त तत्त्वतां देखेना॥ १३॥ गगनाच्या ऐशी अलिप्तता। सर्व कर्मीं वर्ते ज्ञाता। जनीं अलिप्त वर्ते सविता। तेवीं मुक्तता अवधारीं॥ १४॥ घृतमद्यजळां आंतौता। बिंबोनि अलिप्त सविता। तेवीं बाल्य-तारुण्य-वृद्धता। वयसा चाळितां अलिप्त॥ १५॥ नातरी सूर्याचेनि प्रकाशें। शुभाशुभ कर्म वाढलें असे। सविता अलिप्त तेणें दोषें। निजप्रकाशें प्रकाशकु॥ १६॥ तेवीं आश्रमधर्मीं असतां। नित्यादि कर्में आचरितां। मुक्तासी नाहीं कर्मबद्धता। अकर्तात्मता निजबोधें॥ १७॥ सूर्यकांतीं सविता। अग्नि उपजवूनि अकर्ता। तैसा निजतत्त्वाचा ज्ञाता। करोनि अकर्ता कर्मांचा॥ १८॥ जळीं सविता प्रतिबिंबला। परी तो नाहीं वोला झाला। तैसा स्त्रीसंगें प्रजा व्याला। नाही मुकला ब्रह्मचर्या॥ १९॥ सवित्याचें अलिप्तपण। तें निरूपिलें निरूपण। आतां देहीं असोनि अलिप्तपण। तेंही लक्षण अवधारीं॥ ४२०॥ जेवीं देहामाजीं असे प्राण। प्राणास्तव देहचलन। परी देहदोषा नातळे प्राण। अलिप्त जाण सुखदुःखां॥ २१॥ तैसा मुक्त असोनि संसारी। संसारव्यवहार सर्व करी। परी संसारदोषु अंगावरी। तिळहीभरी लागेना॥ २२॥ वायु सर्वांतें स्पर्शतु। परी स्पर्शदोषांसी अलिप्तु। तेवीं अहंममता नातळतु। मुक्त वर्ततु देहगेहीं॥ २३॥ वायूसी जेवीं सर्वत्र गमन। परी कोठेंही आसक्त नव्हे जाण। तेवीं विषयी नहोनि आपण। विषयसेवन मुक्ताचें॥ २४॥ वायूसी एके ठायीं नाहीं वस्ती। मुक्तासी देहगेहीं नाहीं आसक्ती। वायूसी नभामाजीं विश्रांती। मुक्तासी गुणातीतीं विश्राम॥ २५॥ एवढें जें अगाधपण। तें मुक्ताचें मुक्तिकारण। उद्धवासी म्हणे श्रीकृष्ण। प्रथम जाण विवेकु॥ २६॥

वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः। प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद्विनिवर्तते॥ १३॥

विवेकें बुद्धि अतिसंपन्न। तिसी उपजे नित्यानित्यज्ञान। परी तें खिरंगटलें असे जाण। वैराग्येंवीण वाढेना॥ २७॥ विवेकेंवीण वैराग्य गहन। तें केवळ आंधळें जाण। नेणें आपुलें निजात्मपतन। अंधकूपीं जाण तें पडे॥ २८॥ मातलें हातिरूं अंध। सैरा धांवे सुबद्ध। नेणें

निजात्मपतनबाध। तेवीं वैराग्य मंद विवेकेंवीण॥ २९॥ जेथ विवेकवैराग्यसंयोग। तेथ नित्यसंग्रहो अनित्यत्याग। तेंचि 'सद्विद्यालक्षण' खड्ग। झळकत चांग नैराश्यें॥ ४३०॥ तेंचि गुरु वचनसहाणेसी। लावूनि अतितीक्ष्ण केलें त्यासी। घायें छेदिलें संशयासी। संकल्पविकल्पेंसीं समूळ॥ ३१॥ असंभावना विपरीतभावना। निःशेष तुटलिया वासना। निजस्वरूपीं तेव्हां जाणा। जागेपणा तो आला॥ ३२॥ जो अविद्यालक्षण दीर्घ स्वप्न। नानात्वें भोगिता आपण। तो अद्वैतीं जागा झाला जाण। कृपा थापटून गुरुवचनें॥ ३३॥ तेव्हां नानात्वासीं नाहीं ठावो। 'मी माझें' हें झालें वावो। फिटला अविद्याभेदसंदेहो। आत्मानुभवो तो भोगी॥ ३४॥ जागा झाल्या स्वप्न भासे। परी तें मिथ्या झालें अनायासें। मुक्तासी जग तैसें दिसे। यालागीं तेणें दोषें अलिप्त॥ ३५॥ एवं मुक्ताचें जें जें वर्तन। तें अलिप्तपणें ऐसें जाण। 'कथं वर्तेत' हा प्रश्न। प्रसंगें लक्षण सांगितलें॥ ३६॥ 'कथं विहरेत्' या प्रश्नाचें। उत्तर ऐकावया साचें। उदित मन उद्धवाचें। जाणोनि जीवींचें हरि बोले॥ ३७॥

यस्य स्युर्वीतसंकल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम्। वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः॥ १४॥

विद्यमान देहीं असतां। देहस्थ गुण नातळती मुक्ता। पापपुण्यादि हे कथा। सुखदुःखवार्ता तो नेणे॥ ३८॥ सांडिल्या संकल्पविकल्पांसीं। कल्पांतींही नातळे त्यासीं। जेवीं कां ओकिल्या ओकासी। परतोनि कोणासी न घेववे॥ ३९॥ यालागीं मन बुद्धि इंद्रिय प्राण। मुक्ताचीं जाहलीं संकल्पशून्य। याचिलागीं पापपुण्य। न लगे जाण मुक्तासी॥ ४४०॥ इंद्रियीं विषयक्रीडन। करितां संकल्पशून्य। मुक्तासी मनपणें नाहीं मन। वृत्तिशून्य यालागीं॥ ४१॥ बाळक लेणया प्रमाण नेणे। तरी अंगीं शोभे लेइलेपणें। तेवीं कर्में विगुंतलीं करणें। मुक्त अकर्तेपणें अलिप्त॥ ४२॥ संकल्पविरहित विहार। तोचि मुक्त जाण पां साचार। 'कथं विहरति' हें उत्तर। थोडेनि फार सांगितलें॥ ४३॥ म्यां सांगितलीं जीं जीं लक्षणें। तीं तीं मुक्ताचीं मुक्तचि जाणे। आणिकासी व्युत्पत्तिपणें। मुक्त जाणणें हें न घडे॥ ४४॥ सकळ देहशास्त्रसंपन्न। त्यासीही मुक्त न कळे जाण। देहीं असे ज्यासी देहाभिमान। त्यासी मुक्तलक्षण कळेना॥ ४५॥ म्यां बोलिले लक्षणांची पोथी। साक्षेपें घेऊनि हातीं। जरी हिंडिन्नला त्रिजगतीं। तरी मुक्ताची स्थिति कळेना॥ ४६॥ जेणें साचार मुक्त जाणितला। तोही सत्य जाण मुक्त झाला। अनुमानयोग्यतेच्या बोला। मुक्त जाणवला हें मिथ्या॥ ४७॥ जेणें सूर्य देखिला यथार्थता। तो जग देखे तत्प्रकाशता। जेणें मुक्त जाणितला तत्त्वतां। तो नित्यमुक्तता जग देखे॥ ४८॥ तेथ हा मुक्त हा बद्ध। देखणें हें अतिअबद्ध। ऐसें देखती ते महामंद। अज्ञानांध अज्ञानी॥ ४९॥ मुक्त न कळे सर्वथा। ऐसें बोलणें ऐकतां। उद्धवासी हो लागली चिंता। तें कृष्णनाथा कळों सरलें॥ ४५०॥ मागां सांगितलीं मुक्तलक्षणें। तीं मुक्ताचीं मुक्तचि जाणे। लौकिकीं मुक्त कळे जेणें। तींही लक्षणें परियेसीं॥ ५१॥ आश्वासावया उद्धवाचें मन। मुक्ताचें जाणतें लक्षण। सांगेन म्हणे श्रीकृष्ण। येरू सावधान सर्वस्वें॥ ५२॥ कळतीं मुक्ताचीं लक्षणें। उद्धवु ऐकावया उदित मनें। तें जाणोनियां श्रीकृष्णें। विचित्र निरूपणें निरूपी॥ ५३॥

यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किंचिद्यदृच्छया। अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः॥ १५॥

ज्याचिया देहासी जाण। हिंसा करिती हिंसक जन। छेद भेद दंड मुंडण। गर्जन तर्जन जरी केलें॥ ५४॥ तरी ते देहाची व्यथा। मुक्तासी नाहीं सर्वथा। नाना उपचारीं पूजितां। नेघे श्लाघ्यता सन्मानें॥ ५५॥ देहीं वर्तमान असतां। देहबुद्धी नाहीं सर्वथा। त्यासीच बोलिजे जीवन्मुक्तता।

यालागीं देहव्यथा त्या नाहीं॥ ५६॥ जैसी पुरुषांसवें छाया असे। पुरुषयोगें चळती दिसे। ते छायेची अहंममता नसे। निजमानसें पुरुषासी॥ ५७॥ तैसाचि मुक्ताचा देहो। मुक्तासवें वर्ते पहा हो। परी त्यासी नाहीं अहंभावो। हा नित्यस्वभावो मुक्ताचा॥ ५८॥ त्यासी चोरु हेरु कातरु। म्हणौनि दंडु केला थोरु। कां पूजिला ईश्वरु। पुरुष श्रेष्ठतरु म्हणौनि॥ ५९॥ परी पूजितां कां गांजितां। त्याची डंडळीना समता। जेवीं छायेची मानापमानता। न करी व्यथा पुरुषासी॥ ४६०॥ देहो व्याघ्रामुखीं सांपडला। कां दैवें पालखीमाजीं चढला। तो हरुषविषादा नाहीं आला। समत्वें झाला निर्द्वंद्व॥ ६१॥ देहो द्यावया नेतां सुळीं। मी मरतों ऐसें न कळवळी। कां गजस्कंधीं पूजिला सकळीं। तेणें सुखावली वृत्ति नव्हे॥ ६२॥ सुखदुःखादि नाना व्यथा। आगमापायी आविद्यकता। देहाचें मिथ्यात्व जाणता। यालागीं व्यथा पावेना॥ ६३॥ अतिसन्मानु जेथ देखे। तेथ न राहे तेणें सुखें। अपमानाचिये आडके। देखोनि न फडके भयभीतु॥ ६४॥ देहासी नाना विपत्ति होये। तोही त्या देहाचें कौतुक पाहे। देह माझें मज व्यथा आहे। हें ठावें नोहे मुक्तासी॥ ६५॥ येथवर देहातीतता। दृढ बाणली जीवन्मुक्ता। यालागीं देहदुःखाची व्यथा। त्यासी सर्वथा बाधीना॥ ६६॥ नाना जनपदवार्ता। अतिस्तवनें स्तुति करितां। कां पारुष्यवचनें निंदितां॥ मुक्तासी व्यथा उपजेना॥ ६७॥

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा। वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥ १६॥

निंदेच्या तिखट बाणीं। दृढ विंधिल्या दुर्जनीं। हे असाधु हें नुपजे मनीं। न बोले वचनीं ते दोष॥ ६८॥ भाविक सात्त्विक साधु। मिळोनि करिती स्तुतिवादु। तूं ईश्वरी पुरुष शुद्धु। हा गुणानुवादु ऐकोनि॥ ६९॥ मी उत्तम हें नुपजे मनीं। उंच नीच न देखे जनीं। हे साधु लोक भले गुणी। हे मुक्ताची वाणी वदेना॥ ४७०॥ साधु असाधु पाहतां जनीं। तो ब्रह्मरूप देखे दोनी। देखतें देखे तद्रूपपणीं। निजात्मदर्शनीं निजबोधु॥ ७१॥ तेथ कोणाची करावी निंदा। कोणाच्या करावें गुणानुवादा। मीचि विश्व हें आलें बोधा। स्तुतिनिंदा निमाली॥ ७२॥ त्यासी आत्मसाक्षात्कारीं विश्राम। नित्य निजात्मपदीं आराम। साधु असाधु हा फिटला भ्रम। स्वयें आत्माराम तो जाहला॥ ७३॥ असाधुत्वें निंदावे ज्यासी। तंव आत्मस्वरूपें देखे त्यासी। साधु म्हणौनि वर्णितां गुणासी। देखे त्यासी निजरूपें॥ ७४॥ उजव्या वंद्यत्वें शुद्धभावो। डाव्या निंद्यत्वें निजनिर्वाहो। पुरुषासी दोंहीचा समभावो। वंद्य निंद्य पहा हो समत्वें तैसे॥ ७५॥ तेथ साधु असाधु अनुवादा। वर्जिली स्तुति आणि निंदा। समत्वें पावला समपदा। सुखस्वानंदाचेनि बोधें॥ ७६॥ मुक्ताची हे वोळखण। यापरी उद्धवा तूं जाण। आतां आणिकही लक्षण। तुज मी खूण सांगेन॥ ७७॥ प्रकट मुक्ताचें लक्षण। म्यां तुज सांगितलें जाण। तें लौकिकीं मानी कोण। विकल्प गहन जनाचे॥ ७८॥ प्रारब्धवशास्तव जाण। एकादें अवचटे दिसे चिह्न। इतुक्यासाठीं मुक्तपण। मानी कोण जगामाजीं॥ ७९॥ मुक्त मुक्तपणाची पदवी। सर्वथा जगामाजीं लपवी। जो आपुली मुक्तता मिरवी। तो लोभस्वभावी दांभिकु॥ ४८०॥ शुक वामदेव मुक्त म्हणतां। सर्वांसी न म्हणवे सर्वथा। मा इतरांची काय कथा। माझीही मुक्तता न मानिती॥ ८१॥ म्यां गोवर्धनु उचलिला। दावाग्नि प्राशिला। अघ बक विदारिला। प्रत्यक्ष नाशिला काळिया॥ ८२॥ जों जों हा देहाडा। तों तों नीच नवा पवाडा। निजसुखाचा उघडा। केला रोकडा सुकाळु॥ ८३॥ त्या माझें मुक्तपण। न मानिती याज्ञिक ब्राह्मण। इतरांची कथा कोण। विकल्प दारुण लौकिकीं॥ ८४॥ यालागीं मुक्ताचें मुक्तपण। मुक्तचि जाणे आपण।

इतरांसी न कळे तें लक्षण। अतिविचक्षण जरी झाला॥ ८५॥ मुक्त लौकिकीं वर्तत। जड-मूक-पिशाचवत। तींही चिन्हें समस्त। ऐक निश्चित सांगेन॥ ८६॥

न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा। आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥ १७॥

कायिक-वाचिक-मानसिक। उद्देशें कर्म न करी एक। जें निफजे तें स्वाभाविक। 'अहेतुक' त्या नांव॥ ८७॥ हेतु ठेवूनि गुणागुणीं। स्तुतिनिंदेचीं बोलणीं। सांडोनिया झाला मौनी। परी मौनाभिमानीं हेतु नाहीं॥ ८८॥ जरी तो झाला मौनाभिमानी। तरी मुक्त पडला बंधनीं। यालागीं बोलणें न बोलणें दोन्ही। सांडूनि मौनी तो झाला॥ ८९॥ अतद्व्यावृत्तीनें जाण। करावें असंतनिरसन। मग सद्वस्तूचें ध्यान। अखंड जाण करावें॥ ४९०॥ तंव पावली सद्गुरूची खूण। उडालें ध्येय-ध्याता-ध्यान। बुडालें भेदाचें भेदभान। चैतन्यघन कोंदलें॥ ९१॥ मेळवूनि शास्त्रसंभारा। बांधला संतासंतबंधारा। तो चैतन्याच्या महापुरा—। माजीं खरा विराला॥ ९२॥ तेव्हां बुडालें संतासंतभान। निबिड दाटलें चैतन्यघन। मोडलें मनाचें मनपण। वृत्तिशून्य अवस्था॥ ९३॥ मनें ध्यावें चैतन्यघन। तंव चैतन्यचि जाहलें मन। सहजेंचि खुंटलें ध्यान। हें मुख्य लक्षण मुक्ताचें॥ ९४॥ चैतन्यीं हरपलें चित्त। जड-मूक-पिशाचवत। लौकिकीं वर्ततां दिसे मुक्त। जाण निश्चित उद्धवा॥ ९५॥ [ मुक्त लौकिकीं वर्तत। जड-मूक-पिशाचवत। म्हणौनि कळे इत्थंभूत। तेहीं चिन्ह यदर्थ सांगेन॥ ९६॥ ] नैष्कर्म्य ब्रह्म पावला दृढु। अंतरीं निजबोधें अतिगोडु। बाह्य लौकिकीं दिसे जडु। अचेतन दगडु होऊनि असे॥ ९७॥ उठीबैसी करितें मन। तें स्वरूपीं झालें लीन। पडलें ठायींहूनि नुठी जाण। यालागीं 'जडपण' आभासे॥ ९८॥ शब्दब्रह्म गिळोनि वेगें। निःशब्द वस्तु झाला अंगें। निंदास्तुतीचें नांव नेघे। 'मुका' सर्वांगें सर्वदा॥ ९९॥ ब्रह्म सर्वथा न बोलवे कोणा। जरीं सांगे तरी दावी खुणा। यालागीं मुका म्हणती जाणा। अबोलणा स्तुतिनिंदा॥ ५००॥ द्रव्यलोभ नाहीं चित्तीं। कदा द्रव्य नातळती। यालागीं लोक 'पिशाच' म्हणती। जाण निश्चितीं उद्धवा॥ १॥ नवल त्याचें पिसेपण। जगास न करवे जें प्राशन। ते वस्तूचें करी अपेयपान। अभक्ष्य जाण भक्षितु॥ २॥ जेथ जगासी गमन नव्हे जाण। तेथ हा करी अगम्यागमन। जगाचें जेथ न रिघे मन। तेथ सर्वांगें जाण हा वेंधे॥ ३॥ न धरी विधिनिषेधविभाग। न करी कर्माकर्मांचा पांग। स्वानंदें नाचवी सर्वांग। यालागीं जग 'पिसे' म्हणे॥ ४॥ एवं जड-मूक-पिशाच। समूळ लक्षणीं तोचि साच। मिथ्या नव्हे अहाचवहाच। वृथा कचकच तो नेणे॥ ५॥ जाण पां मुक्ताच्या ठायीं। कोणे विषयीं आग्रह नाहीं। जो अतिशयेंसीं आग्रही। तो बद्ध पाहीं निश्चित॥ ६॥ जीं बोलिलीं मुक्ताचीं लक्षणें। तींचि साधकांची साधनें। सिद्धासी असती सहजगुणें। साधकें करणें दृढनिष्ठा॥ ७॥ बोलिलिया लक्षणां। सिद्धचि भोक्ता जाणा। साधकुहि येथ लाहाणा। जो या साधनां साधूं जाणे॥ ८॥ इतर जे पंडिताभिमानी। आम्ही शास्त्रज्ञ ज्ञाते म्हणौनी। ते वाळिले येथूनि। जेवीं सज्जनीं दुर्बुद्धी॥ ९॥ जो न साधी येथींच्या साधना। कोरडा शास्त्राभिमानी जाणा। सदा वांच्छिता धनमाना। तो येथींच्या ज्ञाना अलिप्त॥ ५१०॥ आम्ही कर्मकुशळ याज्ञिक। शास्त्रसंपन्न वेदपाठक। सदा अर्थकामकामुक। त्यांसी हें सुख अप्राप्त॥ ११॥ तिहीं जे कष्ट केले सर्वथा। ते समस्त जाण झाले वृथा। उद्धवा तेहीविखीं तत्त्वतां। ऐक आतां सांगेन॥ १२॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि। श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥ १८॥

शब्दब्रह्म वेदशास्त्रार्थ। पढोनि वाचोनि अति पंडित। चारी वेद मूर्तिमंत। सदा तिष्ठत

वाचेसी॥ १३॥ संहिता पद क्रम स्वरयुक्त। अरण ब्राह्मण सूत्र निरुक्त। जटावळी ध्वज रथ। पढों जाणत वर्णपूर्वक॥ १४॥ आयुर्वेद धनुर्वेद। गांधर्ववेदींचा जाणे भेद। काव्यनाटकीं अतिशुद्ध। वेद उपवेद तो जाणे॥ १५॥ व्याकरणीं अतिनेटक। सांख्य पातंजळ जाणे तर्क। शास्त्र जाणे वैशेषिक। कर्ममीमांसक यज्ञान्त॥ १६॥ विवर्ण वाचस्पति वेदान्त। शास्त्र जाणे वार्तिकान्त। तिन्ही प्रस्थानें मूर्तिमंत। पुढां तिष्ठत योग्यत्वें॥ १७॥ शिल्पशास्त्रीं अतिनिपुण। सुपशास्त्रामाजीं प्रवीण। रत्नपरीक्षालक्षण। जाणे आपण वाजिवाह॥ १८॥ आगमीं नेटका मंत्रतंत्री। शैवी वैष्णवी दीक्षेची परी। सौर शाक्त अभिचारी। नाना मंत्रीं प्रवीण॥ १९॥ कोकशास्त्रींची अधिष्ठात्री। अतिप्रवीण संगीतशास्त्रीं। प्रबंध करूं जाणे कुसरी। राजमंत्रीं राजसु॥ ५२०॥ निघंटु वसे प्रज्ञेपुढां। चमत्कारु जाणे गारुडा। पंचाक्षरी अतिगाढा। वैद्य धडफुडा रसज्ञ॥ २१॥ रसौषधी साधावी तेणें। भूत भविष्य ज्योतिष जाणे। अमरकोश अभिधानें। अठरा पुराणें मुखोद्गत॥ २२॥ प्रश्नावली पाहों जाणे। स्वप्नाध्यावो सांगावा तेणें। इतिहासादि प्रकरणें। जाणे लक्षणें गर्भाचीं॥ २३॥ शब्दज्ञानाची व्युत्पत्ती। जाणे साधक-बाधक युक्ती। समयींची समयीं स्फुरे स्फूर्ती। अपर बृहस्पति बोलावया॥ २४॥ जेवीं तळहातींचा आंवळा। तेवीं ब्रह्मज्ञान बोले प्रांजळा। परी अपरोक्षसाक्षात्कारीं आंधळा। नेणे जिव्हाळा तेथींचा॥ २५॥ मोराअंगीं अतिडोळसें। अंगभरी भरलीं पिसें। एके दृष्टीवीण आंधळे जैसें। जाहलें तैसें विद्वांसा॥ २६॥ जेथूनि क्षीर स्रवती सड। तेथेंचि लागोनि गोचिड। अशुद्ध सेवितांति मूढ। तेवीं विद्वांस दृढ विषयांसी॥ २७॥ गोचिडाचे मुखीं क्षीर रिघे। तो अशुद्धावांचोनि तें नेघे। तेवीं ज्ञान विकूनि अंगें। विद्वांसु मागे विषयांतें॥ २८॥ सांडूनि सुगंधचंदनासी। आवडीं दुर्गंधा धांवे माशी। तेवीं सांडूनि निजात्मज्ञानासी। पंडित विषयांसी झोंबत॥ २९॥ असोनि कमळआमोदापाशीं। दर्दुर सेविती कर्दमासी। तेवीं सांडूनि निजात्मज्ञानासी। पंडित विषयांसी लोलुप॥ ५३०॥ करूनि अद्वैतव्युत्पत्ती। तें ज्ञान विकूं देशांतरा जाती। मूर्ख ज्ञात्यातें उपहासिती। तन्ही वांछिती सन्मानु॥ ३१॥ सांगतां ब्रह्मनिरूपण। सात्त्विकाचें परमार्थी मन। व्याख्याता तो वांछी धन। विपरीत ज्ञान विद्वांसा॥ ३२॥ सांगे आन करी आन। तेथें कैंचें ब्रह्मज्ञान। जेथ वसे धनमान। तेथ आत्मज्ञान असेना॥ ३३॥ दृढ धनमान धरोनि पोटीं। सांगतां ब्रह्मज्ञानगोठी। त्यास आत्मसाक्षात्कारभेटी। नव्हे कल्पकोटी गेलिया॥ ३४॥ नाना पदव्युत्पत्तिविंदान। एके श्लोकीं दशधा व्याख्यान। पोटीं असतां मानाभिमान। ब्रह्मज्ञान त्या कैंचें॥ ३५॥ मी पंडितु अतिज्ञाता। ऐशिया नागवले अहंता। जेवीं आंधळें नोळखे पिता। नित्य असतां एकत्र॥ ३६॥ तैशी गति विद्वांसासी। नित्य असती आत्मसमरसीं। तेंचि वाखाणिती अहर्निशीं। परी त्या स्वरूपासी नेणती॥ ३७॥ करावया विषयभरण। केलें शास्त्रव्युत्पत्तिव्याख्यान। ते वृथा कष्ट गेले जाण। जेवीं वंध्याधेनु पोशिली॥ ३८॥ जे कधीं वोळे ना फळे। सुटली तरी सैरां पळे। नित्य वोढाळी राजमळे। तें दुःख आदळे स्वामीसी॥ ३९॥ तैशी गति पंडितंमन्यासी। व्युत्पत्तीं पोशिलें वाचेंसी। ते वोढाळ झाली विषयांसी। ज्याची त्यासी नावरे॥ ५४०॥ जेवीं का निर्दैवाहातीं। कनक पडलें तें होय माती। तेवीं पंडितंमन्याची व्युत्पत्ती। विषयासक्तीं नाशिली॥ ४१॥ द्विजा दीधला भद्रजाती। त्यासी न पोसवे तो निश्चितीं। मग फुकासाठीं विकिती। तेवीं व्युत्पत्ती विद्वांसा॥ ४२॥ अद्वैतशास्त्राची व्युत्पत्ती। हे त्यासी झाली अलभ्यप्राप्ती। जे विषयालागीं विकिती। ते मूर्ख निश्चितीं

विद्वांस॥ ४३॥ मुखीं ऊंस घालिजे घाणा। तो रस पिळूनि भरे भाणा। फिका चोपटीं करकरी घाणा। ते गति जाणा विद्वांसा॥ ४४॥ विद्वांस करिती ज्ञानकथन। सारांश सात्त्विकीं नेला जाण। शब्दसोपटी करकरी वदन। गोडपण तेथें कैंचें॥ ४५॥ जेवीं का नपुंसकाच्या करीं। वोपिली पद्मिणी सुंदरी। ते अखंड रडे जयापरी। तेवीं विद्वांसाघरीं व्युत्पत्ती॥ ४६॥ पाहे पां ब्रह्मज्ञानेंवीण। शब्दज्ञानें संन्यासग्रहण। केलें तेंही वृथा जाण। जरी धारणाध्यान करीना॥ ४७॥ जैसी जैसी शब्दज्ञानव्युत्पत्ती। तैशी तैशी न करितां स्थिती। वर्तणें जैं विषयासक्ती। तैं निज मुखीं माती घातली॥ ४८॥ वेदशास्त्रसंपन्न झाला। त्यावरी पोट भरूं लागला। तरी तो उदमी थोर झाला। परी थित्या मुकला मुदलासी॥ ४९॥ रत्न देऊनि कोंडा घेतला। कां अमृत देऊनि कांजी प्याला। तैसा परिपाकु पंडितांचा झाला। थित्या नागवला निजज्ञाना॥ ५५०॥ शब्दज्ञान जोडिलें कष्टे। तेणेंचि साधनें परब्रह्म भेटे। इटेसाठीं परीस पालटे। मूर्ख वोखटें मानिती॥ ५१॥ पोट भरावयाचिया युक्ती। आपुली मिरवाया व्युत्पत्ती। पत्रावलंबनें करिती। द्वाराप्रती सधनाच्या॥ ५२॥ जेवीं पोट भरावया भांड। नानापरी वाजवी तोंड। तेवीं नाना व्युत्पत्ती वादवितंड। करिती अखंड उदरार्थ॥ ५३॥ करूनि व्युत्पत्ती शब्दब्रह्म। जरी न साधीचि परब्रह्म। तरी त्या श्रमाचें फळही श्रम। जेवीं रत्नें उत्तम घाणा गाळी॥ ५४॥ तेथें तेल न पेंडी। झाली रत्नांची राखोंडी। तैशीं विद्वांसें झालीं वेडीं। श्रमें श्रमकोडी भोगिती॥ ५५॥ श्रमें श्रमुचि पावती। दुःखें दुःखचि भोगिती। हेंचि कथन बहु दृष्टांतीं। उद्धवाप्रती हरि बोले॥ ५६॥

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां देहं पराधीनमसत्प्रजां च।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी॥ १९॥

दुग्धाचिया लोलुप्यता। 'भाकड गाय' दोहूं जातां। शिंपीभरी दूध न ये हाता। हाणे लाता तत्काळ॥ ५७॥ जे कुडी कुचर डीवरी। विषयमेळवणा अतिखाइरी। अधर्मशीळ लातरी। सर्वांपरी अनाड॥ ५८॥ सुटली राजागारीं भरे। धर्मदंडें मागें न सरे। सद्बुद्धि धरितां न धरे। सैर चरे सुनाट॥ ५९॥ जिचें कधीं नव्हे दुभतें। जे थरूं नेणे गर्भातें। पोषितां ऐशा गायीतें। पावे दुःखातें पोषकु॥ ५६०॥ गृहिणी लागला गृहाचार। ते स्त्री अनुकूल नसतां नर। अतिदुःखे थोर। सदा करकर कपाळीं॥ ६१॥ निंदा अवज्ञा हेळण। भ्ताराचें करी जाण। स्वयें भक्षी मिष्टान्न। हें 'असंतलक्षण स्त्रियांचे'॥ ६२॥ खातां जेवितां द्रव्य देतां। गोड गूळसी बोले सर्वथा। धर्म देखोनि फोडी माथा। तेही सर्वथा असतीचि॥ ६३॥ जे न विचारी पापपुण्य। कामाचारी धर्मशून्य। हें असतीचें लक्षण। उद्धवा जाण निश्चित॥ ६४॥ असतीचिये संगतीं। कैंची होईल सुखप्राप्ती। अति दुःखें दुःखी होती। जाण निश्चितीं ते नर॥ ६५॥ ज्याचें देह 'पराधीन'। तो जीवें जितां सदा दीन। पराधीना समाधान। नव्हे जाण कल्पांतीं॥ ६६॥ सांडोनि आपली निजसत्ता। ज्यासी लागली पराधीनता। तो स्वप्नींही सुखाची वार्ता। न देखे सर्वथा निश्चित॥ ६७॥ 'पर' म्हणिजे माया जाण। जो झाला तिचे आधीन। त्यासी सुखाचें न दिसे स्वप्न। दुःख संपूर्ण सर्वदा॥ ६८॥ पराधीनासी सुख। आहे म्हणे तो केवळ मूर्ख। सोलीव दुःखाचें दुःख। अवश्य देख पराधीना॥ ६९॥ ऐक 'प्रजांचा विवेक'। एक पुत्र एक लेंक। एक ते केवळ मूर्ख। दुःखदायक पितरांसी॥ ५७०॥ जो नरकापासोनि तारी। जो पूर्वजांतें उद्धरी। जो मातापित्यांची भक्ति करी। अव्यभिचारी हरिरूपें॥ ७१॥ जो सांडोनियां मातापिता। जाऊं नेणे

अणिके तीर्थां। त्याचेनि चरणतीर्थें पवित्रता। मानिती सर्वथा अनिवार॥ ७२॥ जैशीं रमा आणि नारायण। तैशीं मातापिता मानी जाण। चढत्या आवडीं करी भजन। नुबगे मन सेवेसी॥ ७३॥ जो अतिसत्त्वें सात्त्विकु। जो पितृवचनपाळकु। जाणे धर्माधर्मविवेकु। हा नैसर्गिकु स्वभावो॥ ७४॥ जो मातापित्यांचे सेवेवरी। आपआपणियातें तारी। सकळ पूर्वजांतें उद्धरी। तो संसारीं सुपुत्र॥ ७५॥ ऐशिया पुत्रासी प्रतिपाळितां। सुख पावे मातापिता। पूर्वजांतें उद्धरिता। स्वयें तरता पितृभक्तीं॥ ७६॥ झालिया सुपुत्रसंतति। एवढी होय सुखप्राप्ती। आतां असत्प्रजांची स्थिती। ऐक तुजप्रती सांगेन॥ ७७॥ मूळींचें पद 'असत्प्रज'। त्यांचे वर्तणुकेची वोज। सांगतां अत्यंत निर्लज्ज। तेही मी तुज सांगेन॥ ७८॥ पोटीं उपजले जे लेंक। त्यांची वर्तणुक ऐशी देख। आवडे कांता आणि कनक। उपेक्षिती नि:शेख माता-पिता॥ ७९॥ जे कुडे कुचर कुलट। जे का अत्यंत शठ नष्ट। जे अनाचारी कर्मभ्रष्ट। अति दुष्ट दुर्जन॥ ५८०॥ त्यांसी भांडवल लटिक। लटकी द्यावी आणभाक। माता-पिता ठकावीं देख। सात्त्विक लोक नाडावे॥ ८१॥ आपण नरका जावें ते जाती। परी पूर्वज नेले अधोगती। ऐशियां प्रजांतें प्रतिपाळिती। ते दु:खी होती अतिदु:खें॥ ८२॥ पोटामाजीं उठिला फोडू। त्यासी करितां न ये फाडू। तैसा असत्प्रजीं संसार कडू। दु:ख दुर्वाडु भोगवी॥ ८३॥ ऐशिया पुत्रांचें जितां दु:ख। मेल्यापाठीं देती नरक। असत्प्रजांचें कवतिक। दुखें दु:ख अनिवार॥ ८४॥ गांठीं असोनियां 'धन'। जो सत्पात्रीं न करी दान। तें सर्व दु:खाचें मूळ जाण। दु:ख दारुण धनलोभ्या॥ ८५॥ धन अर्जावया अनेक। उपाय अपाय करिती लोक। नाना क्लेश भोगोनि दु:ख। द्रव्य देख सांचिलें॥ ८६॥ प्रथम दु:ख द्रव्य संचितां। दूसरें दु:ख द्रव्य रक्षितां। स्त्रीपुत्र प्रवर्ते घाता। इतर कथा ते भिन्न॥ ८७॥ सत्पात्रीं न करितां दान। जेणें रक्षिलें यक्षधन। तेथें दु:खबाहुल्यें उठी विघ्न। धर्मरक्षण तेथ नाहीं॥ ८८॥ ऐसेंही धन गेलियासाठीं। अतिदु:खें भडका उठी। धनवंता जन्मसाटी। दु:खकोटी भोगिती॥ ८९॥ येवोनियां नरदेहासी। अविकळ वाचा असे ज्यासी। जो नुच्चारी हरिनामासी। पाप त्यापाशीं खतेलें॥ ५९०॥ पुरिले लोहा माती खाये। तें उपेगा न ये वायां जाये। तैशी नामेंवीण वाचा पाहें। वृथा जाये सर्वथा॥ ९१॥ आसनध्यानपरिश्रम। न करूनि म्हणे जो राम राम। तेणें कोटि जन्मांचा हरे श्रम। उत्तमोत्तम ते वाणी॥ ९२॥ जो नित्य जपे रामनाम। तो जाणावा मजचिसम। तेणेंचि केले सकळही नेम। पुरुषीं पुरुषोत्तम तो जाण॥ ९३॥ चतुर्वर्णांमाजीं जो कोणी। अविश्रम रामू जपे वाणीं। तोचि पढियंता मजलागुनी। आन त्रिभुवनीं नावडे॥ ९४॥ ऐसें रामनाम नावडे ज्यासी। तैं पापमुखरोग आला मुखासी। तो स्वयें मुकला निजसुखासी। आप आपणासी घातकू॥ ९५॥ रामनामेंवीण जें तोंड। तें जाणावें चर्मकुंड। भीतरी जिव्हा तें चामखंड। असत्यकांड काटली॥ ९६॥ हो कां हरिनामेंवीण जे वाणी। ते गलितकुष्ठे जाली कोढिणी। असत्यकुष्ठाचें गळे पाणी। उठी पोहणी निंदेची॥ ९७॥ ऐशिये वाचेसी रोकडे। पडती अधर्माचे किडे। सुळबुळीत चहूंकडे। मागेंपुढें वळवळित॥ ९८॥ ते वाचा होय ज्यासमोर। देखे तो पाठिमोरा ठाके नर। नाक झांकूनि म्हणे हरहर। लहान थोर थुंकिती॥ ९९॥ ते वाचेची जे दुर्गंधी। मजही न सहावे त्रिशुद्धी। हे वाचा वाहे तो दुर्बुद्धी। अनर्थसिद्धि अतिदु:ख॥ ६००॥ सोलींव दु:खाचें अतिदु:ख। त्या नराची वाचा देख। केवळ निरय तें त्याचें मुख। नामीं विन्मुख जे वाणी॥ १॥ हो कां वेदशास्त्रसंपन्न वाणी। करूनि निंदकू नामकीर्तनीं। तो पापी महापाप्याहूनी। त्याचेनि अवनी

अतिदु:खी॥ २॥ नामकीर्तनें धन्य वाणी। येचि अर्थी सारंगपाणी। प्रवर्तला निरूपणीं। विशद करूनी सांगावया॥ ३॥

यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः॥ २०॥

जगातें पवित्र करिती। महादोषांतें हरिती। माझीं नामकर्में गुणकीर्ती। जड उद्धरती हरिनामें॥ ४॥ म्हणसी तूं बोलिलासी निजवर्म। मी विद्याविद्यातीत ब्रह्म। त्या तुज कैंचे गुण नाम कर्म। कीर्तनधर्म केवीं घडे॥ ५॥ उद्धवा हें मनीं न धरीं। मी स्वलीला स्वमायें करीं। नाना अवतारांतें धरीं। न करूनि करीं स्थित्यंतू॥ ६॥ त्रिगुणगुणी गुणावतार। ब्रह्मा आणि हरिहर। तिहीं रूपीं मीच साचार। चराचर करीं हरीं॥ ७॥ स्रष्टारूपें मी स्रजिता। विष्णुरूपें मी प्रतिपाळिता। रुद्ररूपें मी संहर्ता। जाण तत्त्वतां मी एकू॥ ८॥ बाल्यतारुण्यवार्धक्यांसी। एक पुरुष तिहीं अवस्थांसी। तेवीं उत्पत्तिस्थितिप्रळयांसी। गुणकर्मांसी मी कर्ता॥ ९॥ मी कर्तांचि अकर्ता अकर्तेपणे कर्ता। हें माझें मीचि जाणें तत्त्वतां। आणिकासी सर्वथा कळेना॥ ६१०॥ हींचि माझीं नामकर्में गातां। माझी पदवी लाभे वक्ता। माझे लीलावतार कीर्तितां। कीर्तिमंतां निजलाभू॥ ११॥ अवतारांमाजीं उत्तमोत्तम। श्रीरामकृष्णादिजन्मकर्म। नाना चरित्रें संभ्रम। अविश्रम जे गाती॥ १२॥ सेतु बांधिला अवलीळा। सागरीं तारिल्या शिळा। गोवर्धनु उचलिला हेळा। दावानळा प्राशिलें॥ १३॥ ताटिका वधिली एके बाणीं। पूतना शोखिली तानेपणीं। अहल्या तारिली चरणीं। यमलार्जुन दोन्ही उद्धरिले॥ १४॥ रावणू आदळला धनुष्य वाहतां। तें भंगोनि पर्णिली सीता। मथूनि चैद्यादि समस्तां। भीमकदुहिता आणिली॥ १५॥ मारिला सुबाहु खर दूषणू। अघ बक केशिया मारी श्रीकृष्णू। सुग्रीवू स्थापिला राज्य देऊनू। येरें उग्रसेनू स्थापिला॥ १६॥ मेळवूनि वानरांचा पाळा। वधू केला राक्षसकुळा। मेळवून बाळां गोपाळां। मल्लां सकळां मर्दिलें॥ १७॥ रावणकुंभकर्णां केला मारू। मारिला कंस चाणूरू। रामें ठकिला वाली वानरू। ठकिला महावीरू काळयवनू॥ १८॥ रामें बिभीषण स्थापिला। कृष्णें धर्म संस्थापिला। एक पितृवचनें वना गेला। एक घेऊनि आला गतपुत्र॥ १९॥ हीं अवतारचरित्रें वर्णितां। चोरटा वाल्मीकि झाला तत्त्वतां। व्यास जारपुत्र सर्वथा। केला सरता तिहीं लोकीं॥ ६२०॥ या दोहीं अवतारांची पदवी। वर्णितां दोन्ही झाले महाकवी। व्यास वाल्मीकि वंदिजे देवीं। कीर्तिगौरवीं गौरविले॥ २१॥ त्या महाकवींची कवित्वकथा। शेष नेत्रद्वारें श्रवण करितां। दोन सहस्र नयनीं आइकतां। धणी सर्वथा बाणेना॥ २२॥ हेचि कथा स्वर्गाच्या ठायीं। श्रवण करावया पाहीं। इंद्र लागे बृहस्पतीचे पायीं। कीर्ति लोकत्रयीं वर्णिती॥ २३॥ असो कथेचें महिमान। माझेनि नाममात्रें जाण। तारिला अजामिळ ब्राह्मण। गजेंद्रउद्धरण हरिनामें॥ २४॥ पक्ष्याचे मिषेंकरूनी। रामु या दों अक्षरस्मरणीं। महादोषांची श्रेणी। तत्काळ कुंटिणी तारिली॥ २५॥ माझिया नामासमान। नव्हे वेदशास्त्रशब्दज्ञान। वेदशास्त्रांचा बोधु कठिण। तैसें जाण नाम नव्हे॥ २६॥ पठणमात्रें वेदशास्त्रवक्ता। नव्हे मजमाजीं येणेंचि सरता। स्वभावें माझें नाम घेतां। अतिपढियंता मज होये॥ २७॥ वेदशास्त्रीं अधिकारी ब्राह्मण। नामासी अधिकारी चारी वर्ण। जग उद्धरावया कारण। नाम जाण पैं माझें॥ २८॥ जेथ नित्य नामाचा उच्चार। तेथ मी असें साचार। येथ करणें न लगे विचार। नाम सधर तारावया॥ २९॥ ते माझे जन्म नाम कीर्ति गुण। जे वाचेसी नाहीं पठण। ते वाचा पिशाचिका जाण। वृथालापन

वटवटी॥ ६३०॥ माझे कीर्तीवीण जें वदन। तें केवळ मद्याचें भाजन। त्या उन्मादविटाळाभेण। नाम जाण तेथ न ये॥ ३१॥ जेथ उच्चारू नाहीं नामाचा। ते जाणावी वांझ वाचा। गर्भ न धरी हरिकथेचा। निष्फळ तिचा उद्योगू॥ ३२॥ उद्धवासी म्हणे श्रीरंगू। आइकें बापा उपावो चांगू। माझा नाममार्ग सुगमू सांगू। न पडे पांगू आणिकांचा॥ ३३॥ हरिनामेंवीण वाणी। कदा न राखावी सज्जनीं। हाचि अभिप्रावो चक्रपाणीं। प्रीतिकरोनि सांगीतला॥ ३४॥ करूनियां शब्दज्ञान। अतियोग्यतां पंडितपण। तेणें माझी प्राप्ति नव्हे जाण। वैराग्येंवीण सर्वथा॥ ३५॥ अथवा वैराग्यही जालें। परी तें विवेकहीन उपजलें। जैसें धृतराष्ट्रा ज्येष्ठत्व आलें। नेत्रेंवीण गेलें स्वराज्य॥ ३६॥ तैसें वैराग्य विवेकेंवीण। केवळ आंधळें अनधिकारी जाण। नाहीं सन्मार्गदेखणेपण। वृथा परिभ्रमण तयाचें॥ ३७॥ जो विवेकें पूर्ण भरित। त्यावरी वैराग्य वोसंडत। माझी जिज्ञासा अद्भुत। तेंचि निश्चित सांगतू॥ ३८॥

एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि। उपारमेत विरजं मनोमय्यर्प्य सर्वगे॥ २१॥

नित्यमुक्त अव्ययो। स्वरूप जाणावया पहा हो। ज्याचा लागला दृढ भावो। आन आठवो नाठवे॥ ३९॥ ऐशी मज जाणावयाची अवस्था। त्या नांव बोलिजे जिज्ञासता। माझे प्राप्तीलागीं सर्वथा। पांडित्य मान्यता ते नेघे॥ ६४०॥ देहादि अध्यासू आपुल्या ठायीं। श्रवणें मननें मिथ्या केला पाहीं। दृढ विश्वास गुरूच्या पायीं। पूर्णब्रह्माच्या ठायीं निर्धारू॥ ४१॥ तेथ पुढारीं चालावया वाट। भगवद्भजनीं अतिउद्भट। कां सांडोनि कर्मकचाट। ध्याननिष्ठ तो होय॥ ४२॥ तेथ ध्येय ध्याता ध्यान। न दिसे त्रिपुटीचें भान। कोंदलें चैतन्यघन। वस्तु सनातन तो पावे॥ ४३॥ तेथ कैंचा कर्ता क्रिया कर्म। फिटला नानात्वाचा भ्रम। सबाह्य कोंदलें परब्रह्म। जाला उपरम गुरुकृपा॥ ४४॥ सर्वगत सर्वकाळ। सर्वदेशीं सर्वीं सकळ। वस्तु असे जें केवळ। तेथ निश्चळ निजबोधू॥ ४५॥ ऐशिये वस्तूची धारणा। ज्याचेनि न करवे जाणा। तरी सुगम उपाया आना। एक विचक्षणा सांगेन॥ ४६॥

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्। मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर॥ २२॥

स्वभावतां मन चंचळ। विषयवासना अतिचपळ। निर्गुण ब्रह्मीं केवळ। नाहीं बळ प्रवेशावया॥ ४७॥ तरी सांख्य योग संन्यासू। हा न करावया आयासू। माझिया भक्तीचा विलासू। अतिउल्हासू करावा॥ ४८॥ मागें बद्धमुक्तांचें निरूपण। सांगीतलें मुक्तांचें लक्षण। वृथा शाब्दिकांचें शब्दज्ञान। तेंही व्याख्यान दाविलें॥ ४९॥ आतां आपुली निजभक्ती। सांगावया उद्धवाप्रती। अतिआदरें श्रीपती। भक्तीची स्थिति सांगतु॥ ६५०॥ उद्धवा चढत्या आवडीं मत्कर्म। जे भक्तीसी विकावा मनोधर्म। माझें स्मरावें गुणकीर्तिनाम। नाना संभ्रमविनोदें॥ ५१॥ माझेनि भजनें कृतकृत्यता। दृढ विश्वास धरोनि चित्ता। भजनीं प्रवर्तावें सर्वथा। अविश्रमता अहर्निशीं॥ ५२॥ माझ्या भजनाच्या आवडीं। नुरेचि आराणुकेसी वाडी। वायां जावो नेदी अर्धघडी। भजनपरवडी या नांव॥ ५३॥ माझ्या भजनीं प्रेम अधिक। न सांडावें नित्यनैमित्तिक। वैदिक-लौकिक-दैहिक। भक्तांसी बाधक नव्हे कर्म॥ ५४॥ आचरतां सकळ कर्म। न कल्पावा फळसंभ्रम। हेंचि भक्तीचें गुह्य वर्म। उत्तमोत्तम अधिकारू॥ ५५॥ उबगू न मनूनि अंतरीं। माझ्या प्रीतीं सर्व कर्मांतें करी। जो फळाशेतें कंहीं न धरी। भक्तीचा अधिकारी तो जाणा॥ ५६॥ पिंपुरें खावयाचे चाडें। न लाविती पिंपळाचीं झाडें। तेंवीं कर्मे करितां वाडेंकोडें। फळाशा पुढें

उठेना॥ ५७॥ माझें भजन करितां। न पडे ज्ञानाची पंगिस्तता। माझे भजनें नित्यमुक्तता। जाण मद्भक्तां मद्भावें॥ ५८॥ ज्ञानेंवीण भक्ति न घडे। म्हणती तें शब्दज्ञान धडफुडें। भक्तीस्तव जाण रोकडें। ज्ञान जोडे अपरोक्ष॥ ५९॥ यालागीं माझें भजन करितां। ज्ञानाचा पांग न पडे भक्तां। देहगेहांमाजीं वर्ततां। बंधन मद्भक्तां लागेना॥ ६६०॥ ज्याच्या मुखीं माझें नाम। ज्यासी माझा भजनसंभ्रम। ज्याच्या मनीं मी आत्माराम। त्याचें दासीकाम मुक्ति करी॥ ६१॥ मुक्तीमाजीं विशेष कायी। वृत्ति निर्विषय असे पाहीं। भक्तांसी सर्व कर्माच्या ठायीं। स्फुरण नाहीं विषयांचें॥ ६२॥ भक्तांचें विषयीं नाहीं चित्त। त्यांचा विषय तो मी भगवंत। ते सदा मजमाजीं लोलुप्त। नित्यमुक्त यालागीं॥ ६३॥ भक्त विषयो सेविती। ते ग्रासोग्रासीं मज अर्पिती। तेणेंचि त्यांसी वंदी मुक्ती। सर्व भूतीं मद्भावो॥ ६४॥ यालागीं कर्मबंधन। मद्भक्तांसी न लगे जाण। करितां माझें स्मरण कीर्तन। जगाचें बंधन छेदिती॥ ६५॥ माझ्या भक्तांचें वसतें घर। तें जाण माझें निजमंदिर। मुक्ति तेथें आठौ प्रहर। वोळगे द्वार तयांचे॥ ६६॥ माझें भजन करितां। कोण्या अर्थाची नाहीं दुर्लभता। चहूं पुरुषार्थांचे माथां। भक्ति सर्वथा मज पढियंती॥ ६७॥ ज्ञान नित्यानित्यविवेक। भक्तीमाजीं माझें प्रेम अधिक। तैसें प्रेमळाचे मजलागीं सुख। चढतें देख अहर्निशीं॥ ६८॥ जेवीं एकुलतें बाळक। जननीसी आवडे अधिक। तैसें प्रेमळाचें कौतुक। चढतें सुख मजलागीं॥ ६९॥ यालागीं आपुलिये संवसाटीं। मी प्रेमळ घें उठाउठी। वरी निजसुख दें सदेंठीं। न घे तैं शेवटीं सेवकू होयें॥ ६७०॥ प्रेमाचिया परम प्रीतीं। जेणें मज अर्पिली चित्तवृत्ती। तेव्हांचि त्याचे सेवेची सुती। जाण निश्चितीं म्यां घेतली॥ ७१॥ प्रेमळाचें शेष खातां। मज लाज नाहीं घोडीं धूतां। शेखीं उच्छिष्ट काढितां। लाज सर्वथा मज नाहीं॥ ७२॥ मज सप्रेमाची आस्था। त्याचे मोचे मी वाहें माथां। ऐशी प्रेमळाची सांगतां कथा। प्रेम कृष्णनाथा चालिलें॥ ७३॥ कंठ जाला सद्गदित। अंग झालें रोमांचित। धांवोनि उद्धवासी खेंव देत। प्रेम अद्भुत हरीचें॥ ७४॥ सजल जाहले लोचन। वरुषताती स्वानंदजीवन। भक्तिसाम्राज्यपट्टाभिषिंचन। उद्धवासी जाण हरि करी॥ ७५॥ सहजें प्रेमळाची करितां गोठी। संमुख उद्धव देखिला दृष्टीं। धांवोनियां घातली मिठी। आवडी मोठी भक्तांची॥ ७६॥ आवडीं पडिलें आलिंगन। विसरला कार्यकारण। विसरला स्वधामगमन। मीतूंपण नाठवे॥ ७७॥ नाठवे देवभक्तपण। नाठवे कथानिरूपण। नाठवे उद्धवा उद्धवपण। कृष्णा कृष्णपण नाठवे॥ ७८॥ प्रेमळाचे गोठीसाठीं। परात्पर परतटीं। दोघां ऐक्यें पडली मिठी। आवडी मोठी प्रेमाची॥ ७९॥ आजि भक्तीचें निजसुख। उद्धवासी फावलें देख। भक्तीचें प्रेम अलोलिक। उद्धवें सम्यक विस्तारिलें॥ ६८०॥ श्रीकृष्ण निजधामासी जातां। उद्धव जरी हें न पुसता। तरी ज्ञानवैराग्यभक्तिकथा। कां सांगता श्रीकृष्ण॥ ८१॥ विशेष भक्तिप्रेम अचुंबित। उद्धवें काढिलें निश्चित। उद्धवप्रश्नें श्रीभागवत। झालें सनाथ तिहीं लोकीं॥ ८२॥ यालागीं तनुमनप्राणें। उद्धवू जीवें ओंवाळणें। याहून अधिक वानणें। तें बोलणें न साहे॥ ८३॥ जे बोला बुद्धी न ये सहज। तें भक्तिप्रेम निजगुज। उद्धवा द्यावया गरुडध्वज। केलें व्याज खेंवाचें॥ ८४॥ भक्तीचें शोधित प्रेम। उद्धवासी अतिउत्तम। देता झाला पुरुषोत्तम। मेघश्याम तुष्टला॥ ८५॥ प्रेमळाची गोठी सांगतां। विसरलों मी श्लोकार्था। कृष्णासी आवडली प्रेमकथा। ते आवरितां नावरे॥ ८६॥ प्रेमाची तंव जाती ऐशी। आठवू येऊं नेदी आठवणेशीं। हा भावो जाणवे सज्जनांसी। ते भक्तिप्रेमासी जाणते॥ ८७॥ हो कां ऐसेंही

असतां। माझा अपराधू जी सर्वथा। चुकोनि फांकलों श्लोकार्था। क्षमा श्रोतां करावी॥ ८८॥ तंव श्रोते म्हणती राहें। जेथें निरूपणीं सुख आहे। त्यावरी बोलणें हें न साहे। ऐसें रहस्य आहे अतिगोड॥ ८९॥ आधींच भागवत उत्तम। तेथें हें वाखाणिलें भक्तिप्रेम। तेणें उल्हासलें परब्रह्म। आमुचे मनोधर्म निवाले॥ ६९०॥ श्लोकसंगतीची भंगी। दूर ठेली कथेची मागी। हे प्रार्थना न लगे आम्हांलागीं। आम्ही हरिरंगीं रंगलों॥ ९१॥ ऐकतां भक्तिप्रेमाचा जिव्हाळा। श्रवणसुखाचा पूरू आला। झाडा न सूची उगला। निरूपण वहिला चालवीं॥ ९२॥ सांगतां प्रेमळांची गोठी। कृष्णउद्धवां एक गांठी। प्रेमें पडली होती मिठी। ते कृष्ण जगजेठी सोडवी॥ ९३॥ म्हणे हें अनुचित सर्वथा। आतांचि उद्धवू ऐक्या येता। तरी कथेचा निजभोक्ता। ऐसा श्रोता कैंचा मग॥ ९४॥ माझिया भक्तिज्ञानविस्तारा। उद्धवूचि निजांचा सोयरा। यालागीं ब्रह्मशापाबाहिरा। काढितू खरा निजबोधें॥ ९५॥ जितुकी गुह्यज्ञानगोडी। भक्तिप्रेमाची आवडी। ते उद्धवाचिकडे रोकडी। दिसते गाढी कृष्णाची॥ ९६॥ भक्तिप्रेमाचा कृष्णचि भोक्ता। कृष्णकृपा कळलीसे भक्तां। हे अनिर्वचनीय कथा। न ये बोलतां बोलासी॥ ९७॥ कृष्ण उद्धवासी म्हणे आतां। सावधू होईं गा सर्वथा। पुढारीं परियेसीं कथा। जे भक्तिपथा उपयोगी॥ ९८॥ सर्व कर्में मदर्पण। फळत्यागें न करवे जाण। तरी अतिसोपें निरुपण। प्रेमलक्षण सांगेन॥ ९९॥

श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन्सुभद्रा लोकपावनीः। गायन्ननुस्मरन्कर्म जन्म चाभिनयन्मुहुः॥ २३॥

करितां माझी कथा श्रवण। काळासी रिगमू नाहीं जाण। इतरांचा पाडू कोण। कर्मबंधन तेथें कैंचें॥ ७००॥ जो हरिकथेनें गेला क्षण। तो काळासी नव्हे प्राशन। काळसार्थकता त्या नांव जाण। जैं श्रद्धाश्रवण हरिकथा॥ १॥ परीस कथेचें महिमान। श्रद्धायुक्त करितां श्रवण। तिहीं लोकींचे दोषदहन। अक्षरें जाण होतसे॥ २॥ ऐक श्रद्धेचें लक्षण। करितां हरिकथाश्रवण। ज्याचें अर्थारूढ मन। श्रद्धाश्रवण त्या नांव॥ ३॥ श्रवण ऐकोनि नास्तिक। देवोचि नाहीं म्हणती देख। आहे म्हणती ते पोटवाईक। आम्हांसी निःशेख ठाकेना॥ ४॥ या नास्तिका देवोनि तिळोदक। ज्याचें वाढलें आस्तिक्य देख। श्रद्धा त्या नांव अलोलिक। अगाध सुख तीमाजीं॥ ५॥ श्रवणीं ध्यानीं अंतराय। लय विक्षेप कषाय। कां रसस्वादुही होय। हे चारी अपाय चुकवावे॥ ६॥ ऐकताहीं हरिकथा। विषयचिंतनीं गोडी चित्ता। ते श्रद्धा नव्हे गा सर्वथा। मुख्य विक्षेपता ती नांव॥ ७॥ हावभावकटाक्षगुण। सुरतकामनिरूपण। तेथ ज्याचें श्रद्धाश्रवण। रसस्वादन त्या नांव॥ ८॥ हरिकथेपाशीं बैसला दिसे। परी कथेपाशीं मनही नसे। चित्त भंवे पिसें जैसें। तो मर्कटवेषें विक्षेपु॥ ९॥ नातरी नाना उद्वेगें। ऐकतां कथा मनीं न लगे। कां कथेमाजीं झोंप लागे। तो जाणावा वेगें लयविक्षेपू॥ ७१०॥ श्रवणीं ध्यानीं बैसल्यापाठीं। सगुण निर्गुण कांहीं नुठी। निळें पिंवळें पडे दिठी। गुणक्षोभ त्रिपुटीं कषाय॥ ११॥ श्रवणीं ध्यानीं हे अवगुण। तैसाचि त्रिविध प्रेमा जाण। तो वोळखती विचक्षण। ऐक लक्षण सांगेन॥ १२॥ महावीरांचें शौर्यपण। ऐकोनि युद्ध दारुण। अत्यंत हरिखें उल्हासे मन। तो प्रेमा जाण राजस॥ १३॥ दुःखशोकांची अवस्था। कां गेल्यामेल्यांची वार्ता। अत्यंत विलापाची कथा। ज्यासी ऐकतां न संठे॥ १४॥ नेत्रीं अश्रूंचिया धारा। स्फुंदनें कांपे थरथरां। प्रेमविलाप अवसरां। तो जाण खरा तामसू॥ १५॥ सगुणमूर्तीची संपदा। शंख चक्र पद्म गदा। पीतांबरधारी गोविंदा। ऐकोनि आनंदा जो भरे॥ १६॥ नेत्रीं आनंदजीवन। हृदयीं न संठें स्फुंदन। कृष्णमय जालें

मन। तो प्रेमा जाण सात्त्विक॥ १७॥ यावरी जो प्रेमा चौथा। अतर्क्य तर्केना सर्वथा। उद्धवा तूं मजलागीं पढियंता। तोही आतां सांगेन॥ १८॥ तुझ्या भावार्थाची अवस्था मोठी। ते बोलविते गुह्य गोठी। तुजवेगळा पाहतां दृष्टी। अधिकारी सृष्टी दिसेना॥ १९॥ श्रीकृष्ण म्हणे सावधान। ऐकोनि निर्गुणश्रवण। ज्याचें चिन्मात्रीं बुडे मन। उन्मज्जन होऊं नेणे॥ ७२०॥ जेवीं कां सैंधवाचा खडा। पडला सिंधूमाजिवडा। तो झाला सिंधूचियेवढा। तेवीं तो धडफुडा ब्रह्म होय॥ २१॥ चित्तचैतन्यां पडतां मिठी। सुटतां लिंगदेहाची गांठी। नेत्रीं अश्रूंचा पूर दाटी। रोमांच उठी सर्वांगीं॥ २२॥ जीवभावाची दशा आटे। अनिवार बाष्प कंठीं दाटे। कांहीं केल्या शब्द न फुटे। पुरु लोटे स्वेदाचा॥ २३॥ नेत्र झाले उन्मीलित। पुंजाळले जेथींचे तेथ। विस्मयाचें भरतें येत। वोसंडत स्वानंदें॥ २४॥ हा जाण पां प्रेमा चौथा। उत्तम भागवत अवस्था। तुज म्यां सांगीतली तत्त्वतां। इचा जाणता मी एकू॥ २५॥ निर्गुणीं जो प्रेमा जाण। तें शोधितसत्त्वाचें लक्षण। हे मी जाणें उणखूण। कां ब्रह्मसंपन्न जाणती॥ २६॥ उद्धवा श्रद्धायुक्त श्रवण। तेणें येवढी प्राप्ती आहे जाण। श्रद्धाश्रवणाचें महिमान। अतिगहन तिहीं लोकीं॥ २७॥ सविवेकनैराश्य वक्ता। जोडल्या श्रद्धेनें ऐकावी कथा। कां सज्ञान मौनलिया श्रोता। स्वयें कथा सांगावी॥ २८॥ जैं श्रोता वक्ता दोन्ही नाहीं। तैं रिघावें मनाच्या ठायीं। कां माझीं जन्मकर्में जें कांहीं। एकलाही विचारीं॥ २९॥ सांडूनि विषयांची आस। घांलोनि कळिकाळावरी कांस। माझ्या कीर्तनीं न होनि उदास। अतिउल्हास करावा॥ ७३०॥ त्यजूनियां कामाचें बीज। सांडूनि लौकिकाची लाज। कीर्तनीं नाचावें भोज। गरुडध्वज स्मरोनि॥ ३१॥ रामकृष्ण हरि गोविंद। ऐशिया नामांचे प्रबंध। गातां नाना पदें छंदबंध। करावा विनोद कीर्तनीं॥ ३२॥ जेणें आत्मतत्त्व जोडे जोडी। ऐशिया पदांची घडीमोडी। कीर्तनीं गावी गा आवडी। संतपरवडी बैसवूनी॥ ३३॥ श्रुति मृदंग टाळ घोळ। मेळवूनि वैष्णवांचा मेळ। कीर्तनीं करावा गदारोळ। काळवेळ न म्हणावा॥ ३४॥ दशमीं दिंडी जागरणें। आळस सांडूनि गावें वाणें। हावभावो दाखवणें। कर्मस्मरणें माझेनि॥ ३५॥ ओढूनि धनुष्याची वोढी। त्र्यंबक मोडिलें कडाडी। मी राम म्हणोनि हांक फोडी। जैताची गुढी कीर्तनीं॥ ३६॥ गोवर्धन उचलिला। दावाग्नि प्राशियेला। तो तो विन्यासू दाविला। सेतु बांधिला अनुकारू॥ ३७॥ आळस दवडूनि दूरी। अभिमान घालोनियां बाहेरी। अहर्निशीं कीर्तन करी। गर्व न धरी गाणिवेच्या॥ ३८॥ गाणीव जाणीव शहाणीव। वोंवाळूनि सांडावें सर्व। सप्रेम साबडी कथागौरव। सुख अभिनव तेणें मज॥ ३९॥ गर्जत नामाच्या कल्लोळीं। नामासरसी वाजे टाळी। महापातकां जाली होळी। ते वैष्णवमेळीं मी उभा॥ ७४०॥ जें सुख क्षीरसागरीं नसे। पाहतां वैकुंठींही न दिसे। तें सुख मज कीर्तनीं असे। कीर्तनवशें डुल्लतु॥ ४१॥ मज सप्रेमाची आवडी भारी। भक्तभावाचिया कुसरी। मीही कीर्तनीं नृत्य करीं। छंदतालावरी विनोदें॥ ४२॥ ऐशिया कीर्तनपरिपाटीं। बुडाल्या प्रायश्चित्तांच्या कोटी। खुंटली यमदूतराहाटी। काढिली कांटी पापाची॥ ४३॥ नामस्मरणाच्या आवडीं। लाजल्या मंत्रबीजांच्या कोडी। तपादि साधनें बापुडीं। जालीं वेडीं हरिनामें॥ ४४॥ ऐकोनि हरिनामाचा घोख। योगयागीं लपविलें मुख। धाकें पळालें विषयसुख। विराले देख अधर्म॥ ४५॥ हरिनामाच्या कडकडाटीं। दोष रिघाले दिक्पटीं। तीर्थांची उतरली उटी। कीर्तनकसवटी हरिप्रिय॥ ४६॥ माझेनि प्रेमें उन्मत्त होऊनी। आवडीं कीर्तन अनुदिनीं। मनसा वाचा कर्मे करूनी। मजवांचूनी नेणती॥ ४७॥

मदर्थं धर्मकामार्थानाचरन्मदपाश्रयः। लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने॥ २४॥

माझे भक्त जे उत्तम। त्यांचा धर्म अर्थ मीचि काम। मजवेगळा मनोधर्म। अन्यथा कर्म करूं नेणे॥ ४८॥ माझें भजन उत्तम कर्म। मज अर्पे तो शुद्ध धर्म। मज कामणें हा शुद्धकाम। ज्याचा आराम मजमाजीं॥ ४९॥ वेंचूनियां नाना अर्थ। संग्रहो करिती परमार्थ। नश्वर अर्थ जें वित्त। तें माझे भक्त न संचिती॥ ७५०॥ ज्यांचें धनावरी चित्त। ते केवळ जाण अभक्त। ते जें जें कांही भजन करीत। तें द्रव्यार्थ नटनाट्य॥ ५१॥ मनसा वाचा कर्मे जाण। जेथ नाहीं मदर्पण। तें तें दांभिक भजन। केवळ जाण उदरार्थ॥ ५२॥ भक्तीमाजीं विरुद्धपण। विरुद्ध धर्माचें लक्षण। तेंही करीन निरूपण। सावधान अवधारीं॥ ५३॥ माझें भजन करूनि गौण। जो करूं रिघे धनार्जन। हें भजनविरुद्ध लक्षण। मुख्य जाण भक्ताचें॥ ५४॥ गांठींचें वेंचूं नेणे धन। कोरडें करी माझें भजन। मजसी जेणें केलें वंचन। विरुद्धलक्षण मुख्यत्वें॥ ५५॥ या नांव अर्थविरुद्धता। आतां दुष्टकामीं जो विचरता। मी भजतसें भगवंता। दोष सर्वथा मज न लगे॥ ५६॥ ऐसऐसिया भावना। जो दुष्ट कामीं विचरे जाणा। हे भजनीं विरुद्धलक्षणा। भक्ता अभक्तपणा आणीत॥ ५७॥ मज नार्पितां जें जें श्राद्ध। ते त्याची कल्पना विरुद्ध। श्राद्धसंकल्प अविरुद्ध। मदर्पणें वेद गर्जती॥ ५८॥ श्राद्धीं मुख्य संकल्प जाण। पितरस्वरूपी जनार्दन। ऐसें असोनियां जाण। नैवेद्य मदर्पण न करिती॥ ५९॥ 'अन्न ब्रह्म अहं ब्रह्म'। हें श्राद्धीचें गुह्य वर्म। ऐसें नेणोनि शुद्ध कर्म। वृथा भ्रम वाढविती॥ ७६०॥ मी सकळ जगाचा जनिता। मुख्य पितरांचाही मी पिता। त्या मज कर्म नार्पितां। विरुद्ध सर्वथा तें श्राद्ध॥ ६१॥ मज नार्पितां जें जें करणें। तें तें उपजे अभक्तपणें। विरुद्ध धर्माचीं लक्षणें। दुःख दारुणें अनिवार॥ ६२॥ उत्तम भक्तांचें लक्षण। संकल्पेंवीण जाण। अन्नपानादि मदर्पण। करिती खूण जाणती॥ ६३॥ ध्रुवाच्यापरी अढळ। ते माझ्या ठायीं भजनशीळ। ते माझी भक्ति अचंचळ। अतिनिश्चळ पावती॥ ६४॥ आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी। या तिघांसी जी नव्हेचि प्राप्ती। ते माझी जे चौथी भक्ती। प्रेमें पावती उद्धवा॥ ६५॥ आर्त आर्तिहरणकाजें। जिज्ञासु जाणपणालागीं भजे। तिजेनि वांछिजे। अतिवोजें अर्थसिद्धी॥ ६६॥ यावरी चौथियाचे ठायीं। या कल्पनांचा मागमोस नाहीं। यालागीं चौथी भक्ति पाहीं। त्याच्या ठायीं घर रिघे॥ ६७॥ जया भक्तीमाजीं वाडेंकोडें। मीच मी चहूंकडे। जेथींच्या तेथें सांपडें। हें भजनें जोडे तयासी॥ ६८॥ संकल्प केलियावीण। सहजें होतसे मदर्पण। हें चवथे भक्तीचें लक्षण। अतर्क्यभजन पैं माझे॥ ६९॥ तेथ जें करणें तेचि पूजा। जें बोलणें तो जपू माझा। जें देखणें तें अधोक्षजा। दर्शन वोजा होतसे॥ ७७०॥ तेथ चालणें ते यात्रा माझी। जें भक्षी तें मजचि यजी। त्याची निद्रा ते समाधि माझी। ऐसा मजमाजीं भजतसे॥ ७१॥ यापरी अनायासें जाण। सहजें होतसे मदर्पण। हे चौथी भक्ति सनातन। उद्धवा संपूर्ण तो लाभे॥ ७२॥ उद्धवा ऐसें मानिसी चित्तीं। जे मुळींहूनि चारी भक्ती। पहिली दुजी तिजी चौथी। मिथ्यावदंती कल्पना॥ ७३॥ सहज माझी जे प्रकाशस्थिती। ते भक्ति बोलिजे भागवती। संविती बोलिजे वेदांतीं। शैवीं शक्ती बोलिजे॥ ७४॥ बौद्ध जिनेश नेमिनाथ। जोगी म्हणती आदिनाथ। भैरव खंडेराव गाणपत्य। अव्यक्त म्हणत एक पै॥ ७५॥ एक म्हणती हे आदिमाता। सौर म्हणती तो हा सविता। असो नांवांची बहु कथा। उपासकता विभागें॥ ७६॥ ऐशी जे कां प्रकाशस्थिती। त्या नांव बोलिजे भक्ती। जेणें प्रकाशें त्रिजगतीं। उत्पत्ति स्थिति लय भासे॥ ७७॥ माझ्या नाना

अवतारमाळा। येणें प्रकाशें प्रकाशती सोज्ज्वळा। देवो देवी सकळा। येणें प्रकाशमेळां भासती॥ ७८॥ माझ्या अवतारांची उत्पत्ती। तेणें प्रकाशें असे होती। नाना चरित्रें अंतीं। प्रवेशती ते प्रकाशीं॥ ७९॥ ऐशिया प्रकाशाची जे प्राप्ती। ते जाण सनातन माझी भक्ती। उद्धवा म्यां हे तुजप्रती। यथानिगुती सांगीतली॥ ७८०॥ निश्चळभक्ती सनातन। हें मुळींचें पदव्याख्यान। यालागीं भक्ति सनातन। समूळ जाण बोलिलों॥ ८१॥ सांडूनि पदपदार्था। नाहीं बोलिलों जी वृथा। सावधान व्हावें श्रोतां। पुढील कथा अनुपम॥ ८२॥ उद्धवा हे ऐशी माझी भक्ती। कैसेनि म्हणसी होये प्राप्ती। भावें धरिलिया सत्संगती। माझी भक्ती उद्बोधे॥ ८३॥

सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता। स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम्॥ २५॥

मुख्यत्वें संतांची सेवा। हेंचि साधन आवडे देवा। संतवचने निजभावा। देतुसे तेव्हां निजभक्ती॥ ८४॥ ज्यासी आवडे संतसंगाचा मेळू। जो साधुवचनीं अतिभुकाळू। जो पडिलें वचन नेणें उगळूं। तोचि पायाळू निजभक्ती॥ ८५॥ साधुवचनीं श्रद्धा भारी। देखोनियां निजनिर्धारीं। त्यावरी सद्गुरु कृपा करी। साधु चराचरीं गुरुरावो॥ ८६॥ गुरुवांचोनि तत्त्वतां। नाहीं संसारी तारिता। गुरुवचनें निजभक्तिदाता। मीचि सर्वथा भक्तांसी॥ ८७॥ सद्गुरु जो संसारीं। त्याची आज्ञा मी वाहें शिरीं। तो ज्यावरी कृपा करी। तो मी उद्धरीं तात्काळ॥ ८८॥ त्या सद्गुरुचें भजन। जो मद्रूपें करी जाण। त्याचें मज पढियंतेपण। माझेनिही जाण न बोलवे॥ ८९॥ त्याचा इहलोक परलोक। दोन्ही चालविता मीचि देख। त्याचे मज अत्यंत सुख। हरिखें हरिख वोसंडे॥ ७९०॥ त्यासी गुरूनें जो दाविला मार्ग। चालतां न पडे प्रयासपांग। मी सामोरा धांवें श्रीरंग। आपुलें सर्वांग मी वोडवीं॥ ९१॥ तेणें जावें ज्या पदासी। तें पदचि मी आणीं त्यापासीं। संतभजनीं प्रीति ऐशी। हृषीकेशी सांगतू॥ ९२॥ ऐसें ऐकोनियां वचन। उद्धवाचें कळवळलें मन। कोण कोण ते साधुजन। त्यांचें निजचिन्ह पुसों पां॥ ९३॥ कोण ते भक्तींचें लक्षण। भजती खूण ते कोण कोण। तें समूळ जाणावया आपण। उद्धवें प्रश्न मांडिला॥ ९४॥

उद्धव उवाच—साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः प्रभो।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत कीदृशी सद्भिरादृता॥ २६॥

ज्ञाते वक्ते आहेत बहुत। परी ते रजतमगुणयुक्त। गुणानुसारें निरूपीत। त्यांसी पुसों चित्त मानीना॥ ९५॥ अथवा सात्त्विक केवळ। तो सत्त्वगुणें विव्हळ। बोलणें बोलतां जाये बरळ। नव्हे केवळ निजबोधू॥ ९६॥ तैसा तूं नव्हेसी कृष्णनाथा। तुजआधीन गुण तत्त्वतां। लीलाविग्रहें देहधरिता। निजज्ञानवक्ता तूंचि एक॥ ९७॥ यालागीं जी उत्तमश्लोक। तुज म्हणती तीनी लोक। तुजवेगळा आणिक। आम्हांसी देख मानेना॥ ९८॥ माझिया प्रश्नाचा वक्ता। तूंचि एक कृष्णनाथा। तरी साधु कोण तत्त्वतां। तुज सर्वथा मानला॥ ९९॥ तुज मानले जे साधुजन। त्यांचें संपूर्ण सांग लक्षण। तुज पढियंती भक्ति कोण। तेंही लक्षण सांगावें॥ ८००॥ भक्तीमाजीं भक्ति सधर। जे कां तुझी प्राप्तिकर। अतिउत्तम परात्पर। संतीं निरंतर आदरिली॥ १॥ संतीं आदरिलें जे भक्तीसी। संतासी पुसूं जाय म्हणसी। मज विश्वास तुझिया वचनासी। पुसों आणिकांसी मानेना॥ २॥ जे ज्या देवतांतरा भजती। ते ती उत्तम भक्ति म्हणती। तुज मानली जे श्रीपती। ते मजप्रती सांगावी॥ ३॥ समान कुळशीळसंवादु। तैसियासीच म्हणती साधु। तूं निजमुखें जो

म्हणसी शुद्धु। ती मज वंद्यु सर्वथा॥ ४॥ तीं संबोधनीं सारंगधरू। उद्धव प्रार्थूनि करी सादरू। तीं विशेषणीं निजविचारू। श्रवणाधिकारू सांगतु॥ ५॥

एतन्मे पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो। प्रणतायानुरक्ताय प्रपन्नाय च कथ्यताम्॥ २७॥

पुरुषीं पुरुषोत्तम तूंचि कीं। कर्मधर्मांचा विवेकी। यालागीं बोलिजे पुरुषाध्यक्षी। सर्वसाक्षी गोविंदा॥ ६॥ जैसें कर्म तैसा फळदाता। यालागीं बोलिजे लोकाध्यक्षता। तूंचि ब्रह्मादिकांचा नियंता। प्रतिपाळिता जगाचा॥ ७॥ हो कां मी जगाचा प्रतिपाळिता। त्या जगामाजीं तूंही असतां। तुजचि सांगावी ज्ञानकथा। हे अधिकता कां म्हणसी॥ ८॥ जरी तूं सर्वज्ञ सर्वेश्वरू। अंतर्यामी नियंता ईश्वरू। जरी देखसी माझा अधिकारू। तरी ज्ञाननिर्धारू सांगावा॥ ९॥ हो कां मज अधिकारू नाहीं। तरी शरण आलों तुज पाहीं। शरणागताची तुझ्या ठायीं। उपेक्षा नाहीं सर्वथा॥ ८१०॥ विषयीं देखोनि थोर दुःख। झालों तुझिया चरणासंमुख। अतिदीन मी तुझे रंक। पां आवश्यक तुवां कीजे॥ ११॥ माझ्या दुर्जय वासना। अनिवार मज निवारतीना। त्या तूं निवारीं श्रीकृष्णा। शरण चरणा यालागीं॥ १२॥ मी एक भक्त अनुरक्तु। ऐसें बोलतां बहु गर्व दिसतु। तूं सर्वज्ञ श्रीअनंतु। कृपावंतु दीनाची॥ १३॥ मी एकु श्रवणाधिकारी। हेंही न म्हणवे गा मुरारी। ऐसें बोलोनियां पाय धरी। कृपा करीं कृपानिधि॥ १४॥ आम्ही स्वगोत्र सखे सहज। पाय धरणें न घडें तुज। या म्हणणियाचें निजबीज। कळलें मज गोविंदा॥ १५॥

त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः। अवतीर्णोऽसि भगवन् स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः॥ २८॥

तूं निर्गुण निर्विशेष। चिन्मात्रैक चिदाकाश। पुरुषांमाजीं उत्तम पुरुष। वंद्य सर्वांस तूं एक॥ १६॥ तूं ब्रह्म गा निर्विकार। प्रकृतिपुरुषांहोनि पर। तुझा वेदशास्त्रां न कळे पार। अगोचर इंद्रियां॥ १७॥ ऐक आमुचे भाग्याची कळा। त्या तुज प्रत्यक्ष देखतों डोळां। मुकुटकुंडलें वनमाळा। घनसांवळा शोभतु॥ १८॥ सुंदर राजीवलोचन। पीतांबर परिधान। देखोनि निवताहे तनुमन। तूं जगज्जीवन जगाचा॥ १९॥ त्या तुझें दर्शन अतिगोड। देखतां पुरे जगाचें कोड। त्याही देहाची तुज नाहीं चाड। ऐसा निचाड तूं देवा॥ ८२०॥ तरी भक्तकृपेचा कळवळा। धरिसी नानावतारमाळा। भक्तइच्छा तूं स्वलीळा। देहाचा सोहळा दाविसी॥ २१॥ भक्तकृपेनें तत्त्वतां। तूं अवतरलासी कृष्णनाथा। तरी माझिया प्रश्नाचा वक्ता। न प्रार्थितां जालासी॥ २२॥ जेवीं वत्सहुंकारें गाये। वोरसली धांवताहे। तेवीं उद्धवप्रश्नीं देव पाहें। वोळलाहे निजबोधें॥ २३॥ धन्यासी दुभतें दोनी सांजे। तेंही वत्सयोगें पाविजे। वत्सासी वोळली सदा सहजें। तेवीं अधोक्षजें उद्धवासी॥ २४॥ उद्धव आवडला आवडीं। त्याच्या प्रश्नाची अतिगोडी। बापु भाग्याची परवडी। जोडिल्या जोडी श्रीकृष्णू॥ २५॥ जें जें कांहीं उद्धव पुसतू। त्यासी अंजुळी वोडवीं श्रीकृष्णनाथू। आवडी त्यातें चाटूं पाहतू। भावार्था अनंतू भुलला॥ २६॥ जैशी अजातपक्ष पिलीं। त्यांसी पक्षिणी मुखीं चारा घाली। तैसी निजज्ञानगुह्यबोली। कृष्ण हृदयीं घाली उद्धवाचे॥ २७॥ उद्धवप्रश्नाचें उत्तर। पांच श्लोकीं शार्ङ्गधर। साधुलक्षणें विचित्र। अतिपवित्र सांगेल॥ २८॥ साधुलक्षणें अपार जाण। त्यांत उत्तमोत्तम तीस गुण। निवडोनियां श्रीकृष्ण। उद्धवासी आपण सांगतु॥ २९॥

श्रीभगवानुवाच—कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्। सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥ २९॥

कृपेसी स्वतंत्र जन्म नाहीं। जेथ उपजे तो साधु पाहीं। कृपा वसे संतांच्या देहीं। त्यांचेनि ते पाहीं दाटुगी जगीं॥ ८३०॥ कृपा त्यांचेनि महिमे आली। दया त्यांचेनि जीवें ज्याली।

कठिणत्वाची कांटी काढिली। समूळीं उपटिली निष्ठुरता॥ ३१॥ कृपा भूतमात्राच्या ठायीं। सारिखीच सर्व देहीं। येथतेथ हें त्या नाहीं। अवकृपा ठायीं निमाली॥ ३२॥ नवल कृपाळुत्वाचें चित्त। जीवाचा जीव जीवीं स्यूत। दुःख हरोनि सुख देत। कृपा अद्भुत यापरी॥ ३३॥ जेणें आपणासी होय दुःख। तें परासी न करी निःशेख। जेणें आपणिया होय सुख। तें करी आवश्यक प्राणिमात्रां॥ ३४॥ या नांव कृपाळुता। हे पहिलें लक्षण संतां। दुसरें तें अद्रोहता। ऐक आतां सांगेन॥ ३५॥ लोकीं हिंडतां अद्रोहता। ठावो न लभेचि सर्वथा। मग शरण आली साधुसंतां। सावकाशता वस्तीसी॥ ३६॥ ते दयाळु शरणागता। तिंहीं प्रतिपाळिली अद्रोहता। भूतीं भगवंतू देखतां। द्रोहाची वार्ता निमाली॥ ३७॥ व्याघ्रसर्पादि देहांसी। कदा द्वेष नुपजे त्यासी। जरी देऊं आलें उपद्रवासी। तरी द्वेषासी करीना॥ ३८॥ देहास आलिया आपदा। तेणें झाडिकरी प्रारब्धा। द्वेष येऊं नेदी कदा॥ नातळे क्रोधा निजबोधें॥ ३९॥ हे जाण पां अद्रोहता। दुसरें लक्षण तत्त्वतां। तितिक्षा ते ऐक आतां। सहनशीलता साधूंची॥ ८४०॥ शांति परदेशी झाली होती। जेथें जाये तो दवडी परती। मग अतिदीन येतां काकुळती। निजधामा संतीं आणिली॥ ४१॥ संतीं वाढविली अतिप्रीतीं। ते भगवंताची झाली पढियंती। तेणें आपुली निजसंपत्ती। शांतीच्या हातीं दिधली॥ ४२॥ शांती सकळ वैभवेंसीं। अखंड असे संतांपांशीं। यालागी सहनशीलता तयांसी। अहर्निशीं अनिवार॥ ४३॥ लागतां सकळ भूतांचा झटा। न म्हणे हा भला वोखटा। नाचतू निजशांतीचे चोहटा। संत गोमटा त्या नांव॥ ४४॥ ऐशी जे सहनशीलता। ते तितिक्षा जाण तत्त्वतां। हे तिसरी लक्षणता। सत्याची सत्यता अवधारीं॥ ४५॥ सत्य अल्पायुषी झालें येथें। मरे उपजे जेथींच्या तेथें। कोठेंही नव्हे वाढतें। तेणें संतांतें ठाकिलें॥ ४६॥ सत्यासी संतांसी होतां भेटी। तंव सत्यस्वरूपीं पडली गांठी। सत्य संतत्वे उठी। झालें सृष्टीं चिरायु॥ ४७॥ यापरी सत्य संतदृष्टीं। सत्य सारें आलें पुष्टी। संतबळें वाढलें सृष्टीं। सत्यें भेटी परब्रह्मीं॥ ४८॥ संतांसी होआवया उतरायी। सत्य लागलें त्यांचे पायीं। संतचरणावेगळा पाहीं। थारा नाहीं सत्यासी॥ ४९॥ ऐसे सत्यास आधारभूत। ज्यांचे पाखोवा सत्य जीत। ज्यांचेनि बळें सत्य समर्थ। ते शुद्ध संत जाणावे॥ ८५०॥ ज्यांसी सबाह्य सत्यत्वें तुष्टी। जे सत्यस्वरूपें आले पुष्टी। सत्ये धाली दे ढेंकर दृष्टी। ज्यांची वाचा उठी सत्यत्वें॥ ५१॥ या नांव जाण सत्याचें सार। हें संतांचें वसते घर। हे मज मान्य संत साचार। मी निरंतर त्यांपाशीं॥ ५२॥ जिंहीं असत्याची वाहूनि आण। ज्यांमाजीं सत्य सप्रमाण। जे सदा सत्यत्वें संपन्न। हें मुख्य लक्षण साधूंचें॥ ५३॥ या नांव सत्यसार। संतलक्षण साचार। हा चौथा गुण सधर। अनवद्य अपार तें ऐका॥ ५४॥ निंदा असूयादि दोष समस्त। निजात्मबोधें प्रक्षाळीत। अत्यंत पवित्र केलें चित्त। अनिंदित निजबोधें॥ ५५॥ गुरुआज्ञातीर्थीं न्हाला। न्हावोनि सर्वांगीं निवाला। त्रिविधतापें सांडवला। पवित्र झाला मद्रूपें॥ ५६॥ काय सांगूं त्याची पवित्रता। तीर्थें मागती चरणतीर्था। मीही पदरज वांछिता। इतरांची कथा कायसी॥ ५७॥ कृष्ण म्हणे उद्धवा। हा अनवद्य गुण पांचवा। ऐक आतां सहावा। सम सर्वां समभावें॥ ५८॥ निजरूपें सर्वसमता। समचि देखे सर्वां भूतां। निःशेष निमाली विषमता। जेवीं सैंधवता सागरीं॥ ५९॥ नाना अलंकार पदार्था। सोनेंपणें विकत घेतां। ते ते पदार्थ न मोडितां। स्वभावतां सम सोनें॥ ८६०॥ तैसे नाना आकार नाना नाम। अवघें जग दिसे विषम। साधूचि चिद्रूपें सर्व सम। न देखे विषम निजबोधे॥ ६१॥

ऐशिया समसाम्यावस्थेसी। दैवें आलिया सुखदुःखांसी। तेही मुकली द्वंद्वभावासी। सहजें समरसीं निजसाम्यें॥ ६२॥ सव्यें मिनल्या महानदीसी। अपसव्यें आल्या गांवरसासी। गंगा दोहींतेंही समरसी। गुणदोषांसीं उडवूनी॥ ६३॥ तेथ पवित्रअपवित्रता। बोलूंचि न ये सर्वथा। गोडकडूपणांची वार्ता। निजांगें समता करी गंगा॥ ६४॥ तैसें सुखदुःखांचें भान। साधूंसी समत्वें समान। सदा निजबोधें संपन्न। हें अगाध लक्षण संतांचें॥ ६५॥ नटिया एकचि एकला। गायव्याघ्रांचें सोंग अवगला। भीतरील खेळ्या जैं वोळखिला। तैं फिटला भवभ्रमू॥ ६६॥ तैशी भयाभयवार्ता। द्वैतभावें उठी सर्वथा। साधु उभयसाम्यें पुरता। भयनिर्भयता तो नेणे॥ ६७॥ द्वंद्वसाम्यें परिपूर्ण। साधूचा हा सहावा गुण। ऐक सातवें लक्षण। परोपकारीपण तयाचें॥ ६८॥ पत्र पुष्प छाया फळ। त्वचा काष्ठ समूळ। वृक्ष सर्वांगें सफळ। सर्वांसी केवळ उपकारी॥ ६९॥ जो वृक्षा प्रतिपाळी। कां जो घावो घाली मूळीं। दोनींतें वृक्ष पुष्पीं फळीं। समानमेळीं संतुष्ट॥ ८७०॥ मोडूनि फळें आलिया वृक्षें। वृक्षु एकही स्वयें न चाखे। तेवीं कर्मफळा जो न टेकें। तो यथासुखें परब्रह्म॥ ७१॥ तैसा कायावाचामनें प्राणें। साधु वाढला उपकाराकारणें। आपुलें परावें म्हणों नेणे। उपकारू करणें सर्वांसी॥ ७२॥ हो कां चंद्र उगवोनि अंबरीं। जेवीं जगाचें आंधारें निवारी। विश्वाचा ताप दूर करी। निववी निजकरीं सर्वांतें॥ ७३॥ तेथ चंद्रामृत चकोरीं सेवावें। येरांसी चंद्र न म्हणे न द्यावें। जो जो भजे जेणें भावें। तो तो पावे तें सुख॥ ७४॥ तैसेंचि जाण साधूपाशीं। जो जो श्रद्धा करी जैशी। त्या त्या देतसे सुखासी। होत जगासी उपकारी॥ ७५॥ काउळे चंद्रासी हेळसिती। चकोर चंद्रामृत सेविती। तेवीं दुष्ट साधूतें धिक्कारिती। भावार्थी पावती निजलाभू॥ ७६॥ सातव्या लक्षणाचा उभारा। सांगितलें परोपकारा। पुढील श्लोकीं लक्षणें अकरा। साधुनिर्धारा सांगत॥ ७७॥

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः। अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥ ३०॥

उर्वशी आलिया सेजेसी। कामक्षोभ नुपजे ज्यासी। स्वानंद भोगितां अहर्निशीं। विषयकामासी विसरला॥ ७८॥ रंकू पालखिये बैसला। तो पूर्वील वाहना विसरला। तेवीं हा निजानंदें तृप्त झाला। काम विसरला तुच्छत्वें॥ ७९॥ कांहीं अप्राप्त पावावया कामावें। साधूसी अप्राप्तता न संभवे। प्राप्तपदीं यथागौरवें। निजानुभवें विराजतू॥ ८८०॥ खद्योता सूर्य भेटों जातां। खद्योता न देखे सविता। सूर्यासी न भेटवे खद्योता। तेवीं अप्राप्तता साधूसी॥ ८१॥ एवं उभय परी पाहतां। कामू निमाला सर्वथा। हें आठवें लक्षण तत्त्वतां। अकामता साधूची॥ ८२॥ सावधानें अंतर नेमितां। तेचि बाह्येंद्रियां नियामकता। जेवीं कां लेंकीसी शिकवण देतां। सून सर्वथा चळीं कांपे॥ ८३॥ मुख्य थूर रणीं लागल्या हाता। येर कटक जिंतिलें न जुंझतां। कां मूळ छेदिलें असतां। शाखा समस्ता छेदिल्या॥ ८४॥ एवं अंतरवृत्तीचा जो नेम। तोचि बाह्येंद्रियां उपरम। ऐसेनिही जें निपजे कर्म। तें निर्भ्रम अहेतुक॥ ८५॥ अंतर जडलें आत्मस्थितीं। बाह्य रंगलें मद्भक्तीं। तेथें जीं जीं कर्मे निपजती। तीं तीं होती ब्रह्मरूप॥ ८६॥ बाह्येंद्रियें करितां नेम। अंतरीचें कर्मीं प्रकटे ब्रह्म। हा बाह्येंद्रियांचा नेम। आत्माराम जाणती॥ ८७॥ ऐशी बाह्येंद्रियनियामकता। हे जाणावी साधूची दांतता। हा नववा गुण तत्त्वतां। ऐक आतां दशमातें॥ ८८॥ आकाश सर्वांसीही लागे। परी कठिण नव्हे कोणेही भागें। तेवीं साधु जाण सर्वांगें। मृदु लागे सर्वांसी॥ ८९॥ पिंजल्या कापुसाचा गोळा। फोडूं नेणे कोणाच्या कपाळा। तैसाचि साधूचा जिव्हळा। अतिकोंवळा सर्वांसी॥ ८९०॥ पाहें पां जैसें गंगाजळ। गायीव्याघ्रांसी करी शीतळ। तैसाचि साधुही केवळ। मृदु मंजुळ सर्वांसी॥ ९१॥ साधूची

अतिमृदुता। या नांव जाण सर्वथा। हे दशमलक्षणयोग्यता। ऐक आतां अकरावें॥ ९२॥ साधूंची जे शुचिष्मंतता। ते भगवद्भजनेंचि तत्त्वतां। व्रततपदानादितीर्था। शुचिष्मंतता त्यांचेनी॥ ९३॥ परदारा आणि परधन। सर्वथा नातळे ज्याचें मन। गंगादि तीर्थें त्याचें जाण। चरणस्पर्शन वांछिती॥ ९४॥ स्वदारास्वधन सलोभता। अवश्य जाणें अघःपाता। द्रव्यदारानिरपेक्षता। शुचिष्मंतता साधूची॥ ९५॥ ऐशी असोनि शुचिष्मंतता। तो निंदीना व्रततपादितीर्था। ते ते विधीतें आचरितां। सदाचारता अतिश्रोत्री॥ ९६॥ पडलिया मगरमिठी। ते न सोडी प्राणसंकटी। सांपडे तें सगळेंचि घोटी। तैशी पडली मिठी जीवब्रह्मा॥ ९७॥ हें पुढेंसूनि परब्रह्म। आश्रमधर्मादि स्वकर्म। आचरोनि दावी उत्तमोत्तम। कर्मी ब्रह्मप्रतीती॥ ९८॥ कर्म करितो लोक म्हणती। तो वर्ततांहे ब्रह्मस्थितीं। हें ज्याचें तो जाणे निश्चितीं। लोकां प्रतीती कळेना॥ ९९॥ कुलाल भांडें करूनि उतरी। चक्र भोंवे पूर्विला भंवरीं। तैसा साधू पूर्वसंस्कारी। स्वकर्मे करी वृत्तिशून्य॥ १००॥ हें साधुलक्षण अत्यंत थोर। ऐकतां सुगम करितां दुर्धर। हें अकरावें अतिपवित्र। ऐक विचित्र तें बारावें॥ १॥ साधूची अपरिग्रहता। परिग्रहो नाचळे चित्ता। देहगेहें निःसंगता। अकिंचनता त्यासी नांव॥ २॥ स्फटिकु काजळीं दिसे काळा। आरक्तीं आरक्तीकीळा। नीळवर्णीं भासे निळा। तरी तो वेगळा शुद्धत्वें॥ ३॥ स्फटिक जपाकुसुमीं ठेविला। पाहतां दिसे तांबडा झाला। परी तो अलिप्तपणें संचला। नाहीं माखला तेणें रंगें॥ ४॥ तैसा साधु परिग्रहामाजी वसे। परिग्रही झालाही दिसे। परी जागृतिस्वप्नसुषुप्तिवशें। परिग्रहो न स्पर्शे निजबोधें॥ ५॥ परीस सर्व धातूंसी खेंव देतां। मिळणीं सोनें करी तत्त्वतां। तो सुवर्णावांचूनि सर्वथा। आणिका पदार्था नातळे॥ ६॥ तैसा साधू म्हणे जें जें माझें। तें तें त्यासी नाठवे दुजें। ऐक्यभावाचीं नाचवी भोजें। अधोक्षजें अंकितु॥ ७॥ चिन्मात्री जडलें मन। विश्व जाहलें चैतन्यघन। बुडालें परिग्रहाचें भान। अकिंचनपण या नांव॥ ८॥ सकळ सांडूनि वना गेला। वनीं वनिता चिंतूं लागला। तो त्यागचि बाधकत्वा आला। उलथोन पडिला परिग्रहीं॥ ९॥ उंडणी भिंती चढों लाहे। चढते कष्ट व्यर्थ पाहे। ते पूर्विल्यापरीस तळीं जाये। उलंडूनि ठाये अति-दुःखी॥ ९१०॥ तैशी मुंगी नव्हे पाहें। उंडणी घेऊनि वृक्षावरी जाये। सत्संगती मूर्ख उद्धारों लाहे। परी ते उपाये न करिती॥ ११॥ मुंगी लहान उंडणी थोर। ते तिचा करूं शके उद्धार। तैसे अकिंचन जे नर। ते करिती उद्धार सकळांचा॥ १२॥ असो मूर्खाची जे त्यागिती गती। ते अत्यंतबाधें बाधका होती। जंव धरिली नाहीं सत्संगती। तंव त्यागस्थिती कळेना॥ १३॥ प्रपंच सांडूनि वना गेला। तो देहप्रपंचें दृढ अडकला। देही देहो जेणें मिथ्या केला। तो सत्य झाला अकिंचन॥ १४॥ मूर्खांसी त्याग तो झाला बाधू। परिग्रहीं असोनि मुक्त साधू। सबाह्य त्यागें अतिशुद्धु। शुकनारदू तिहीं लोकीं॥ १५॥ ते दोघेही लागती जनकाच्या पायीं। तो राज्य करितांही विदेही। त्यासी मीही मानीतसें पाहीं। अभिनव नवाई साधूची॥ १६॥ या नांव मुख्य अकिंचनता। तुज म्यां सांगीतली तत्त्वतां। हे बारावी लक्षणता। ऐक आतां अनीहा॥ १७॥ अनीहा झाली बापुडी। जेथ जाय तो दूर दवडी। कोणी राहों नेदी अर्धघडी। अति चरफडी निराश्रयें॥ १८॥ अनीहा हिंडतां लोकीं तिहीं। तिळभरी ठावो बसावया नाहीं। ईहा वैरिणी लागली पाहीं। ठायींच्या ठायीं दंडवी॥ १९॥ कोणी येवों नेदी दाराकडे। अतिदीन जाली बापुडें। धाय मोकलोनि रडे। गाऱ्हाणें संतांपुढें देवों आली॥ ९२०॥ ते कृपाळू दयामेळें। निजकरें पुसोनि डोळे। प्रतिपाळिली स्वहितकाळें। संतबळें वाढली॥ २१॥

त्यापूर्वील वैर स्मरोनियां। ईहा वैरिणी साधावया। संतांसी पुसोनि उपाया। तिच्या अपाया प्रवर्तली॥ २२॥ ईहेसी नाना चेष्टीं चेष्टवितां। अहं आणि जाण ममता। कामें अंगीं घातली तत्त्वतां। कामकांता ते झाली॥ २३॥ ईहा कामबळें वाढली थोर। व्यापूनि राहिली घरोघर। तिसीं साधावया वैर। अनीहा सत्वर चालिली॥ २४॥ असंगशस्त्र मागोनि संतां। ईहेच्या करावया घाता। आधीं मारूं धांवे अहंममता। दोघें धाकतां निमालीं॥ २५॥ अनीहा पाठीं लागल्या जाण। अंहममतेसी म्हातारपण। थरथरां कांपोनि प्राण। घायेंवीण सांडिला॥ २६॥ अनीहा देखोनि दिठीं। काम पळे बारा वाटीं। संकल्पाचे शेवटिले गोटीं। उठाउठी पाडिला॥ २७॥ कामू पडतां रणांगणीं। क्रोधादि शूर पडिले रणीं। ईहेचा कैवारी नुरेच कोणी। एकेक शोधूनी मारिले॥ २८॥ एवं अनीहेसमोर। राही ऐसा नाहीं वीर। मारूनि अवघ्यांचा केला चूर। क्रिया करणार कोणी नाहीं॥ २९॥ काम निमाल्या सर्वथा। ईहा रांडवली वस्तुतां। मुख न दावीच संतां। अधोगमनता पळाली॥ ९३०॥ यालागीं ईहेसवें जो लागला। तो जाणावा अधोगती गेला। अनीहेचा जो अंकित झाला। तो आवडला गोविंदा॥ ३१॥ म्हणसी अनीहा ते कोण। काय ते ईहेचें लक्षण। ऐक सांगेन संपूर्ण। जेणें बाणे खूण जिव्हारीं॥ ३२॥ काम्यकर्मादि क्रियाजाळ। तेचि ईहा जाणावी अतिचपळ। अंतरीं जे सुनिश्चळ। तेचि केवळ अनीहा॥ ३३॥ अंतरीं कामाची वार्ता। नुपजे कर्माची कर्मावस्था। अणुभरी न रिघे उद्वेगता। अनीहा तत्त्वतां ते जाण॥ ३४॥ ऐशी अनीहा असे ज्यासी। देवो आज्ञाधारकू त्यापाशीं। ते अनीहा संतांची दासी। अहर्निशीं जीवेंभावें॥ ३५॥ हे अनीहा अतिगौरवें। साधुलक्षण तेरावें। मितभोजन तें चौदावें। लक्षण वैभवें अवधारीं॥ ३६॥ न कोंडे रसनेचिया चाडा। न पडे क्षुधेच्या पांगडा। आवडीनावडीचा उपाडा। करूनि निधडा भोजनीं॥ ३७॥ प्राणु आकांक्षी अन्नातें। जठराग्नि भक्षी त्यातें। उभयसाक्षी मी येथें। जाणोनि निरुते रस सेवी॥ ३८॥ जें जें आलें भोजनासी। दृष्टीनें त्याचे दोष निरसी। अतिपवित्र करूनि त्यासी। निजसमरसीं सेवितू॥ ३९॥ न देखे भोग्य पदार्था। नाठवे मी एक भोक्ता। ग्रासीं समरसीं अच्युता। भोगूनि अभोक्ता मितभोजी॥ ९४०॥ अग्नि आधीं आपणयाऐसें करी। मग त्या आहारातें अंगीकारी। साधु आधीं द्वैतातें निवारी। मग स्वीकारी आहारातें॥ ४१॥ याचि नांव मितभोजन। साधूचे आहाराचें लक्षण। युक्तीवीण अल्प भोजन। तें पथ्य जाण रोगियाचें॥ ४२॥ ग्रासोग्रासीं ब्रह्मार्पण। त्या नांव परिमित भोजन। हें चौदावें लक्षण। साधूचें जाण उद्धवा॥ ४३॥ समळजळसंभारी। सरितामेळू मिळे सागरीं। तो डहुळेना तिळभरी। निर्विकारी निर्मळू॥ ४४॥ तैशा आलिया नाना ऊर्मी। ज्यांसी गजबजु नाहीं मनोधर्मी। शांति संतांची पराक्रमी। उपक्रमी निजशक्ती॥ ४५॥ जेवीं कां नागवेलीची वेली। आधारवीण न वचे वेंगली। तैसी संतबळें शांती वाढली। मंडपा चढली चिन्मात्र॥ ४६॥ झांकळोनि दश दिशांसी। आभाळ दाटल्या आकाशीं। गगन अविकारी त्या दोषासी। आभाळासी नातळे॥ ४७॥ शीत उष्ण पर्जन्यधारा। अंगीं न लगती अंबरा। तेवीं साधूचा उभारा। द्वंद्वसंभारा निर्द्वंद्व॥ ४८॥ तैशा उंच नीच नाना अवस्था। निबिड दाटल्या मोहममता। क्षोभु नुपजे ज्याच्या चित्ता। त्या नांव तत्त्वतां निजशांती॥ ४९॥ संतांचेनि शांति गहन। शांतीचेनि संत पावन। हें अनन्य निजलक्षण। पंधरावा गुण संतांचा॥ ९५०॥ जैं मीपणें नव्हतें जन्मनाम। तैंच पूर्वजांचें निजधाम। आपुली मिरासी जे उत्तम। तेथ मनोधर्म स्थिरु ज्याचा॥ ५१॥ मज जन्मचि नाहीं झालें। मरण म्यां नाहीं देखिलें।

ऐसें मन मूळीं स्थिरावलें। स्थिरता बोलिलें या नांव॥ ५२॥ चहूं आश्रमांहूनि उत्तम। आपुला जो निजाश्रम। तेथें स्थिरावोनि मनोधर्म। वर्णाश्रम चालवी॥ ५३॥ चहूं वर्णांमाजीं पवित्रता। जेणें ब्राह्मणांची ब्राह्मणता। तेथें स्थिराविलें जेणें चित्ता। जाण स्थिरता ती नांव॥ ५४॥ तिहीं लोकीं स्थिरता। मरों टेंकली सर्वथा। कोणी नाहीं प्रतिपाळिता। हातीं धरिता न देखे॥ ५५॥ दारीं राहों नेदी कोणी। कोण देईल पथ्यपाणी। अवघी टाकिली निरंजनीं। ते सज्जनीं प्रतिपाळिली॥ ५६॥ स्थिरता वाढली संतबळें। जिणोनि वर्णाश्रमादि टवाळें। भेदोनि अकारादिवर्णपटळें। एके वेळे वाढली॥ ५७॥ स्वस्वरूपीं सायुज्यता। पावोनि स्थिरावली स्थिरता। तेथ वाट मोकळी संतां। स्वभावतां त्यां केली॥ ५८॥ तेथ स्वस्वरूपें स्वकर्म। स्वस्वरूपें वर्णाश्रम। स्वस्वरूपें स्वधर्म। स्थिरतासंभ्रम या नांव॥ ५९॥ ऐसी स्वधर्मकर्मीं अवस्था। ती नांव उत्तम स्थिरता। हे सोळावी लक्षणता। मच्छरणता ते ऐक॥ ९६०॥ सरिता सागरा शरण आली। ते समरसोनि सिंधू झाली। तैसी शरण जे वृत्ति मज आली। ते पावली दशा माझी॥ ६१॥ लवण जीवना आलें शरण। तें तत्काळ जाहलें जीवन। तैसा अनन्य मज जो शरण। तो मीचि जाण होऊनि ठाके॥ ६२॥ मज रिघोनियां शरण। जो वांछी महिमा सन्मान। तो गुळांतील पाषाण। केवळ जाण गुळदगडू॥ ६३॥ जो कां गुळें माखिला दगडू। तो पाहतां दिसे वरिवरी गोडू। शेखीं परिपाकीं निवाडू। अतिजडू कठिणत्वें॥ ६४॥ तैसें वरिवरी दावी माझें भजन। हृदयीं विषयअभिलाषण। तो नव्हे माझा अनन्यशरण। अतिदूषण लोभाचें॥ ६५॥ सर्वांगीं सुंदर सुरेख। जिच्या नाकावरी पांढरें टीक। तिसी वरीना साधु लोक। तैसा विषयलोभु देख मद्भजनीं॥ ६६॥ रांडवा केलें काजळकुंकूं। देखोनि जग लागे थुंकूं॥ तैसा विषयांचा अभिलाखू। जेवीं वोकिला वोकू अतिनिंद्य॥ ६७॥ त्रैलोक्यसाम्राज्यवैभव जाण। जो थुंकोनि रिघाला मज शरण। तो समरसें मीचि जाण। मानापमान त्या कैंचा॥ ६८॥ या नांव मच्छरण। हें सतरावें लक्षण। उद्धवा जाण संपूर्ण। मननगुण तो ऐक॥ ६९॥ श्रुतिगुरुवाक्यनिरूपण। ऐकतां अद्वैतश्रवण। युक्तिप्रयुक्तीं पर्यालोचन। मनन गुण त्या नांव॥ ९७०॥ अग्निकापुरां भेटी होतां। तो अग्नीचि होय वस्तुतां। तेवीं माझे स्वरूपीं मन ठेवितां। मन चित्स्वरूपता पावलें॥ ७१॥ मन चिदंशें असे जाण। तें चिन्मात्र जाहलें करितां मनन। जेवीं जीवनीं जन्मलें लवण। तें होय जीवन निजमिळणीं॥ ७२॥ असो मननाचेनि लवलाहें। मन जेथवरी जावों पाहे। तेथवरी तया मीचि आहें। न वचतां राहें तेथही मी॥ ७३॥ दीप जेउता जाउं बैसे। तेउता प्रकाशचि तया असे। कोठेंही न वचोनि ठायीं वसे। तेथेंही वसे प्रकाशू॥ ७४॥ तैसें माझें करितां मनन। मद्रूपचि जाहलें मन। मग करितां गमनागमन। मद्रूपता जाण मोडेना॥ ७५॥ एवं माझें स्वरूप जें केवळ। तेथें मद्रूपें मन निश्चळ। ध्रुवाचे परी अचंचळ। मननशीळ त्या नांव॥ ७६॥ मुनि या पदाचें व्याख्यान। मननशीलता जाण। हें अठरावें लक्षण। तें हें निरूपण सांगितलें॥ ७७॥ अत्यंत गोड निरूपण। पुढिले श्लोकीं दशलक्षण। तें ऐकावया उद्धव सावधान। सर्वांगीं कान होऊनि ठेला॥ ७८॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुण:। अमानी मानद: कल्पो मैत्र: कारुणिक: कवि:॥ ३१॥

जंववरी वृत्तिशून्य नव्हे मन। तंववरी विश्वासेना विचक्षण। वृत्तिरूपें सिंतरील मन। यालागीं सावधान निजबोधें॥ ७९॥ हां हो दुर्वासाऐसा सज्ञान। त्यासी क्षणक्षणा क्षोभवी मन। न विचारितां गुणागुण। शाप दारुण देवों धांवे॥ ९८०॥ दुर्गंधा जन्मली मत्स्याचे पोटीं। पराशर नाडला तीसाठीं।

नारद कौतुक पाहतां दिठीं। केला गंगातटीं नारदी॥ ८१॥ आपुली कन्या देखोनि गोमटी। मनक्षोभें भोगावया उठी। ब्रह्म धांवे सरस्वतीपाठीं। जो कां सृष्टिपितामहो॥ ८२॥ या मनाऐसें नाडक। जगामाजीं नाहीं आणिक। छळछद्में नाडी ज्ञाते लोक। साधु घातक मनाचे॥ ८३॥ म्हणाल मनेंवीण भोग घडे। तरी वृत्तीसी क्षोभु कां पां चढे। हे बोल बोलती ते सज्ञान वेडे। साधूसी नावडे हे गोष्टी॥ ८४॥ अधिष्ठूनि सत्त्वगुण। सूक्ष्मरूपें वृत्ति जाण। ते क्षोभवूनियां मन। मी मुक्त म्हणोन विषयी करी॥ ८५॥ मुक्ताभिमानें विषयासक्ती। हेचि मनक्षोभाची प्राप्ती। वृत्ति असोनियां मुक्ती। साधु न मानिती सर्वथा॥ ८६॥ अतिनाटकी नाटक मन। मुक्तत्वें धरी अभिमान। त्याचें करावया निर्दळण। साधु सावधान निजबोधें॥ ८७॥ मुखीं धरिल्या कृष्णसर्पासी। ढिलें करितां तो तत्काल ग्रासी। मरे तंववरी आंवळावें त्यासी। तेवीं मनासी निर्दाळिती॥ ८८॥ मन निर्दाळावे सावधानता। बोलिली ते हे साधुलक्षणता। हा एकुणिसावा गुण सर्वथा। ऐक आतां विसावा॥ ८९॥ वर्षाकाळीं जळबळें सरिता। आल्या समुद्र नुचंबळे श्लाघ्यता। उष्णकाळीं त्या न येतां। क्षोभोनि सर्वथा आटेना॥ ९९०॥ तैसें जाहलिया समृद्धिधन। साधूचें उल्हासेना मन। सकळ जाऊनि जाल्या निर्धन। दीनवदन हों नेणे॥ ९१॥ दिवसराती येतांजातां। प्रकाशें पालटेना सविता। तेवीं आल्यागेल्या नाना अवस्था। गंभीरता अक्षोभ्य॥ ९२॥ कडकडीत विजेचे कल्लोळ। तेणें गगनासी नव्हे खळबळ। तैसा नाना ऊर्मीमाजीं निश्चळ। गांभीर्य केवळ त्या नांव॥ ९३॥ हे संताची गंभीरता। विसांवा जीवशिवांसी तत्त्वतां। हे विसावी संताची अवस्था। धृतीची व्यवस्था अवधारीं॥ ९४॥ मनबुद्ध्यादि इंद्रियें प्राण। निजधैर्यें धरोनि आपण। नित्य केलिया आत्मप्रवण। परतोनि जाण येवों नेदी॥ ९५॥ स्वयंवरीं जिणोनि अरिरायासी। बळें आणिलें नोवरीसी। तो जाऊं नेदी आणिकापाशीं। तेवीं वृत्तीसी निजधैर्य॥ ९६॥ वागुरें बांधिल्या मृगासी। पारधी जाऊं नेदी त्या वनासी। तेवीं धैर्यें आकळूनि मनासी। देहापाशीं येऊं नेदी॥ ९७॥ देहासी नाना भोगसमृद्धी। वावूनियां गजस्कंधीं। ऐसें सुख होतां त्रिशुद्धी। मनासी देहबुद्धी धरूं नेदी॥ ९८॥ प्रळयकाळाच्या कडकडाटीं। महाभूतां होतां आटाटी। तरी मनासी देहाची भेटी। धैर्यें जगजेठी होंचि नेदी॥ ९९॥ तेथ काळाचेनि हटतटें। वृत्ति परब्रह्माचिये वाटे। लावूनियां नेटेंपाटें। चिन्मात्रपेठे विकिली॥ १०००॥ तेथ स्वानंदाचा ग्राहकु। तत्काळ भेटला नेटकु। त्यासी जीवेंसहित विवेकु। घालूनि आंखू संवसाटी केली॥ १॥ या नांव धृतीचें लक्षण। हा एकविसावा साधूचा गुण। आतां जिंतिले जे षड्गुण। तेंही लक्षण अवधारीं॥ २॥ स्वानंदें तृप्त जाला। यालागीं क्षुधेसी मुकला। जगाचे जीवनीं निवाला। तृषा विसरला निःशेष॥ ३॥ भोगितां निजात्मसुख। विसरला शोकदुःख। चिन्मात्रज्ञानें निष्टंक। त्यासंमुख मोहो न ये॥ ४॥ तिहीं अवस्थांबाहिरा। वसिन्नला निजबोधवोंवरा। तेथें जरा जाली अतिजर्जरा। कांपत थरथरां पळाली॥ ५॥ मिथ्या जाहलें कार्यकारण। देहाचें देहपणें न देखे भान। तंव मरणासीचि आलें मरण। काळाचें प्राशन तेणें केलें॥ ६॥ यापरी गा हे षड्गुण। अनायासें जिंतोन। सुखें वर्तती साधुजन। हें लक्षण बाविसावें॥ ७॥ आपुला स्वामी देखे सर्वां भूतीं। तेथें मान इच्छावा कवणाप्रती। मानाभिमान सांडिले निश्चितीं। अतिनम्र वृत्तीं वर्तणें॥ ८॥ आधीं देहीं धरावा अभिमान। मग इच्छावा अतिसन्मान। तंव देहाचें खुंटलें भान। मानाभिमान बुडाले॥ ९॥ या नांव गा अमानिता। हे तेविसावी लक्षंणता। साधु सन्मानाचा दाता। तेही कथा अवधारीं॥ १०१०॥

ब्रह्मादि मशकवरी। सर्वांतें वंदी शिरीं। एकनिष्ठता चराचरीं। बुद्धि दुसरी जाणेना॥ ११॥ सर्व भूतीं स्वामी देखे। लोटांगणें घाली हरिखें। सुर नर खर हे नोळखे। अतिसंतोखें वंदित॥ १२॥ नाना अलंकार घडिले गुणें। सोनें सोनेपणा नव्हेच उणें। तेवीं नामरूपांचे विंदाणें। पालटु मनें घेऊं नेणे॥ १३॥ साकरेची निंबोळी केली। परी ते कडूपणा नाहीं आली। तेवीं सूकरादि योनी जरी जाली। तरी नाहीं भंगली चित्सत्ता॥ १४॥ सागरीं नाना परींचे विक्राळ। जरी उठिले अनंत कल्लोळ। ते जेवीं गा केवळ जळ। तेवीं वस्तु सकळ भूतमात्रीं॥ १५॥ यापरी सकळ भूतां। साधु सन्मानातें देता। हे चोविसावी लक्षणता। परबोधकता ते ऐक॥ १६॥ जैसा भावो जैशी श्रद्धा। तैसतैशा करूं जाणे बोधा। ज्ञान पावोनि नव्हे मेधा। स्वरूपश्रद्धा प्रबोधी॥ १७॥ एक ज्ञान पावोनि जाहला पिसा। पडिला अव्यवस्थ ठसा। नोळखेचि सच्छिष्याची दशा। योग्य उपदेशा तो नव्हे॥ १८॥ एक ज्ञानआश्चर्यें कोंदला। विस्मयें तटस्थ होऊनि ठेला। काष्ठलोष्टांचेपरी पडला। नाहीं उरला उपदेश॥ १९॥ एक ज्ञान पावोनि अतिकृपण। जीव गेलिया न बोले जाण। भेणेंभेणें धरोनि मौन। न बोले वचन सर्वथा॥ १०२०॥ ज्यासी धनकोडी जोडी जाहली। ते पुरूनि वरी दगड घाली। दान न देतां वृथा गेली। संपत्ति केली भूमिसवती॥ २१॥ तैसें कष्टीं जोडूनि निजज्ञान। सत्पात्रीं न करीच दान। हें ज्ञात्याचें कृपणलक्षण। वंचकपण स्वभावें॥ २२॥ एक ज्ञान पावोनि सांगों जाये। उपदेशीं शिष्या बोधू नोहे। तें ज्ञान अबीज जाहलें पाहें। अंकुरां न लाहे सत्क्षेत्रीं॥ २३॥ सधन शिष्य करावया जाण। स्वयें प्रयत्न करी पूर्ण। आमुची दीक्षा अनुभव गहन। यापरी ज्ञान विकरां घाली॥ २४॥ जैसेनि प्रलोभे त्याचें मन। तैसें निरूपी निरूपण। अर्थस्वार्थें उपदेश पूर्ण। धनलोभें ज्ञान निर्वीर्य होये॥ २५॥ पेंवीं रिघालिया पाणी। त्या धान्याची नव्हे पेरणी। तेवीं धनलोभ रिघालिया ज्ञानीं। उपदेशें कोणी सुखी नव्हे॥ २६॥ शिष्य बोधेंवीण झुरे अंतरीं। गुरु गुरुपणें गुरगुरी। ते बोधकता नव्हे खरी। घरच्या घरीं चुकामुकी॥ २७॥ शब्दज्ञानें पारंगत। जो ब्रह्मानंदें सदा डुल्लत। शिष्यप्रबोधनीं समर्थ। तो मूर्तिमंत स्वरूप माझें॥ २८॥ हो कां मी जैसा अवतारधारी। तैसाचि तोही अवतारी। चिद्रत्नाच्या अलंकारीं। अलंकारी कुसरीं सच्छिष्यां॥ २९॥ तो मी या शब्दकुसरीं। नांवाचीं अंतरें बाहेरीं। आंतुवटें निजनिर्धारीं। एके घरीं नांदत॥ १०३०॥ एकचि बहुतांतें उपदेशी। एकाची प्राप्ती सुटंक कैशी। एकें अज्ञानें जैशीं तेशीं। हा बोलू कोणासी म्हणाल॥ ३१॥ कृषीवल पेरणी करी। भूमिपाडें पिकती घुमरी। अंकुरेना क्षितितळीं उखरीं। तें बीज निर्धारीं अतिशुद्ध॥ ३२॥ भूमिचि सखर-निखर। बीज पावन गा साचार। भाविकीं उपदेशा विस्तर। विकल्पी नर सुनाट॥ ३३॥ जो जैसा देखे अर्थ। तोचि बोधूनि करी परमार्थ। ऐसा परबोधनीं समर्थ। गुण विख्यात पंचविसावा॥ ३४॥ साधुची मैत्री चोखट। वोळखी सर्वांसी जुनाट। सर्वांचा सखा श्रेष्ठ। सर्वांसी सकट सारिखा॥ ३५॥ सुहृद सर्वांचा सोयरा। सर्वांचा जिवलगु खरा। होऊनि सर्वांहीबाहिरा। मित्राचारा चालवी॥ ३६॥ सांगतां आपुली गुह्य गोष्टी। अळोंचावया वेगळा नुठी। आप्तभावें देखे सृष्टी। अवंचक पोटीं सर्वांसी॥ ३७॥ क्षीरनीरांची मैत्री जैशी। भेद नाहीं मिळणीपाशीं। साधू सर्व जीव समरसी। अभेदभावेंसीं मित्रत्वें॥ ३८॥ परम मैत्रीचा भावो देख। दुःख हिरोनि द्यावें सुख। साधू जीवांचें निरसोनि दुःख। परम सुख देतसे॥ ३९॥ नवल मैत्रींचें महिमान। सखा सर्वांचा पुरातन। सर्वांसी नीच नवें सौजन्य। अवंचकपण सर्वदा॥ १०४०॥ बंधूहूनि मित्र अधिकु। पुत्राहूनि विश्वासिकु।

तो मित्र जैं जाहला वंचकु। तैं केवळ ठकु तो जाणावां॥ ४१॥ मनें धनें कर्तव्यता। ज्याची अनन्य अवंचकता। त्या नांव परम मित्रता। हे खूण तत्त्वतां जाणावी॥ ४२॥ समूळ मैत्रीचें निरूपण। विशद सांगितलें जाण। हें सव्विसावें साधुलक्षण। कारुण्यपण तें ऐका॥ ४३॥ प्रत्युपकार न वांछितां। मी कारुणिक हे नाहीं अहंता। ऐसेनि दीनदु:ख निवारितां। कारुण्य सर्वथा त्या नांव॥ ४४॥ रसपूजा धरोनि पोटीं। वैद्य वोखदांच्या सोडी गांठी। कां संभावना सूनि दिठी। सांगे गोठी पुराणिक॥ ४५॥ ऐसी वर्तणूक सर्वथा। ते लागली विषयस्वार्था। साधूची नव्हे तैशी कथा। नैराश्यता दयाळू॥ ४६॥ दयार्णवें द्रवली दृष्टी। तनु मन धन वेंचूनि गांठी। अनाथावरी करुणा मोठी। उद्धरी संकटीं दीनातें॥ ४७॥ जैसा कळवळा निजस्वार्था। त्याहून अधिक अनाथभूतां। तिये नांव परम कारुणिकता। जाण तत्त्वतां उद्धवा॥ ४८॥ हें सत्ताविसावें लक्षण। साधूचें जाण संपूर्ण। कविपदाचें व्याख्यान। सावधान अवधारीं॥ ४८॥ वेदशास्त्रांचा मथितार्थ। जाला करतळामळकवत। तैसाच ब्रह्मानंदें डुल्लत। कवि निश्चित या नांव॥ १०५०॥ उपनिषदांचा मथितार्थ। ज्याच्या मुखाची वास पहात। परोक्षापरोक्ष ज्याचेनि सत्य। कवि विख्यात त्या नांव॥ ५१॥ कवि या पदाचे व्याख्यानें। झालीं अठ्ठावीस लक्षणें। उरलीं दोनी अतिगहनें। तें दों श्लोकीं श्रीकृष्णें आदरिलें सांगों॥ ५२॥

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्। धर्मान् सन्त्यज्य य: सर्वान् मां भजेत स सत्तम:॥ ३२॥

प्रपंचनगरासभोंवतीं। कर्मनदीची महाख्याती। तिचेनि जळें जीव वर्तती। उत्पत्तिस्थिति अरतीरीं॥ ५३॥ ते नदीचेनि जीवनमेळें। कर्मासी येती कर्मफळें। स्वर्गनरकादि सोहळे। तेणें जळबळें भोगिती॥ ५४। प्रपंचनगरींहूनि निघतां। वेगें परमार्थासी येतां। जो तो कर्मनदीआंतौता। बुडे सर्वथा निर्बुजला॥ ५५॥ एक तरलों ऐसें ज्ञाते म्हणती। तेही कर्मीं कर्मगुचकिया खाती। स्वयें बुडोनि आणिकां बुडविती। तरलों म्हणती तोंडाळ॥ ५६॥ ऐसे बुडाले नेणों किती। बुडतां शिकवण तेचि देती। कर्मचि उपावो तरणोपायप्राप्ती। म्हणोनि बुडविती सर्वांतें॥ ५७॥ 'न कर्मणा' हें वेदवचन। कर्मे नव्हे ब्रह्मज्ञान। तें न मानिती कर्मठ जन। त्यांसी कर्माभिमान कर्माचा॥ ५८॥ कर्म देहाचे माथां पूर्ण। तो न सांडितां देहाभिमान। कर्माचा त्याग नव्हे जाण। कर्मबंधन देहबुद्धी॥ ५९॥ एक अरतीरीं असती नष्ट। तरलों म्हणती अकर्मनिष्ठ। स्वकर्मत्यागी कर्मभ्रष्ट। जाण पापिष्ठ पाषांडी॥ १०६०॥ ये कर्मनदीतें तरला। ऐसा न देखों दादुला। बुडाल्या धुराचि मुदला। पाडु केतुला इतरांचा॥ ६१॥ ये कर्मनदीची उत्पत्ती। मजचिपासोनि निश्चितीं। तेही सांगेन तुजप्रती। यथानिगुती निजबोधें॥ ६२॥ 'आज्ञायैवं' हें मुळींचें मूळ। श्लोकींचें प्रथम पद केवळ। येणेंचि कर्मनदी झाली स्थूळ। करूनि विवळ सांगत॥ ६३॥ मदाज्ञा मेघगंभीरा। नि:श्वसितपवनद्वारा। चतुर्वेदविधीच्या धारा। अतिअनिवारा वर्षले॥ ६४॥ तेणें कर्मनदीआंतौतें। अनिवार उलथलें भरतें। पूर दाटला जेथींचा तेथें। उतार कोणातें कळेना॥ ६५॥ तेथ गुणदोषांचा वळसा। विधिनिषेधांचा धारसा। कर्माकर्मांचा आवर्त कैसा। सबाह्य सरिसा भंवतसे॥ ६६॥ संकल्पविकल्पांचे हुडे। नदी दाटली चहूंकडे। तरों जाय तो गुंतोनि बुडे। पाऊल पुढें न घालवे॥ ६७॥ प्रत्यवायाची मगरमिठी। पडल्या सगळेंचि घाली पोटीं। उगळोनि न सोडी संकटी। ने उठाउठीं अधोगती॥ ६८॥ अंगविकळतेचे मासे। तळपताती घ्यावया आविसें। कर्मठतेचे कमठ कैसे। खडक तैसे निबर॥ ६९॥ काळविक्षेपसर्पासी।

एक सांपडले विलासआळशीं। विकल उच्चार चोंडियेसी। एक व्यग्रतेसीं बुडाले॥ १०७०॥ एक तरावयाच्या आशा। पडिले कर्माच्या धारसां। ते विधिनिषेधवळसां। पडिले सहसा नुगंडती॥ ७१॥ एक स्वकर्मधारीं। पडोनि वाहावले दूरी। ते सत्यलोकमगरीं। आपुल्या विवरीं सूदले॥ ७२॥ एकां न वचवेचि परतटीं। माझारींचि फळें गोमटीं। देखोनि धांविन्नले अव्हाटीं। ते स्वर्गसंकटीं गुंतले॥ ७३॥ आम्ही तरों युक्तिबळें। म्हणोनि रिघाले एके वेळे। ते अहंकारखळाळें। महातिमिंगिळें मिळिले॥ ७४॥ एकीं वेदत्रयाची पेटी। दीक्षेची दोरी बांधली पोटीं। ते स्वर्गांगनाकुचकपाटीं। गुंतोनि शेवटीं बुडाले॥ ७५॥ मंत्रतंत्रादिदीक्षितें। गुंतोनि बुडालीं जेथींच्या तेथें। कर्मनदीच्या परपारातें। कोणी पावतें दिसेना॥ ७६॥ विरळा कोणीएक सभाग्य येथें। हे सकळ उपाय सांडूनि परते। जो अनन्य प्रीतीं भजे मातें। कर्मनदी त्यातें कोरडी॥ ७७॥ माझे भक्तीचें तारूं नातुडे। जंव सप्रेमाचें शीड न चढे। तंव तरणोपाय बापुडे। वृथा कां वेडे शिणताती॥ ७८॥ धरूनि अनन्यभक्तीचा मार्गु। करूनि सर्वधर्मकर्मत्यागु। हा तरणोपाय चांगु। येरु तो व्यंगु अधःपाती॥ ७९॥ नेणोनि स्वधर्मकर्मातें। कां नास्तिक्य मानूनि चित्तें। किंवा धरोनियां आळसातें। त्यागी कर्मांतें तैसा नव्हे॥ १०८०॥ अथवा शरीरक्लेशाभेण। किंवा सर्वथा उबगोन। कां धरोनि ज्ञानाभिमान। स्वकर्म जाण सांडीना॥ ८१॥ माझी वेदरूप आज्ञा शुद्ध। ते वेदविवंचना विशद। स्वधर्मकर्मांचे कर्मवाद। अतिअविरुद्ध जाणता॥ ८२॥ स्वधर्माचा उत्तम गुण। प्रत्यवायें अधःपतन। या दोहींतें जाणोन। मद्भक्तीसी प्राण विकिला॥ ८३॥ विसरोनि आन आठवण। अखंडता हरिस्मरण। त्या नांव भक्तीसी विकिला प्राण। इतर भजन आनुमानिक॥ ८४॥ माझेनि भजनप्रेमें जाण। विसरला कर्माची आठवण। कर्म बापुडें रंक कोण। बाधक जाण नव्हे भक्तां॥ ८५॥ सप्रेम करितां भजनविधी। सर्व कर्मांतें विसरली बुद्धी। ते जाणावी भजनसमाधी। तेथ कर्म त्रिशुद्धी बाधेना॥ ८६॥ ज्याची श्रद्धा कर्मावरी। तोचि कर्माचा अधिकारी। ज्याची श्रद्धा श्रीधरीं। तो नव्हे अधिकारी कर्माचा॥ ८७॥ जो जीवेंप्राणें भक्तीसी विकिला। तो तेव्हांचि कर्मावेगळा जाला। त्याच्या भावार्था मी विकिला। तो कर्मीं बांधला केवीं जाये॥ ८८॥ गुणदोषांची जननी। ते निःशेष अविद्या निरसूनी। जो प्रवर्तला माझे भजनीं। तो साधु मी मानीं मस्तकीं॥ ८९॥ निजकल्पना जे देहीं। तेचि मुख्यत्वें अविद्या पाहीं। ते कल्पना निमालिया ठायीं। जगीं अविद्या नाहीं निश्चित॥ १०९०॥ अविद्येच्या त्यागासवें। धर्माधर्मादि आघवें। न त्यजितांचि स्वभावें। त्याग फावे अनायासें॥ ९१॥ शिर तुटलियापाठीं। शरीर निजकर्मासी नुठी। तेवीं अविद्या त्यागितां शेवटीं। त्यजिले उठाउठीं सर्व धर्म॥ ९२॥ दिवसा चंद्रउदयो पाहे। तो झाला तैसा नाहीं होये। तेवीं अविद्येचेनि विलयें। सर्व धर्म लाहे ते दशा॥ ९३॥ खद्योत सूर्योदयापाठीं। शोधूनि पाहतां न ये दिठीं। तेवीं अविद्येच्या शेवटीं। धर्माधर्मकोटी मावळल्या॥ ९४॥ ग्रहगण नक्षत्रमाळा। खद्योततेजउमाळा। रात्रीसकट बोळवण सकळां। तेवीं धर्माधर्मकळा। अविद्येसवें॥ ९५॥ सर्व धर्मत्यागाची खूण। उद्धवा मुख्यत्वें हेचि जाण। याहीवरी माझें भजन। मुख्य भागवतपण या नांव॥ ९६॥ म्हणसी अविद्याचि केवीं नासे। मा अधर्म नासती तीसरिसे। ते अविद्या नाशे अनायासें। भक्तिउल्हासें माझेनि॥ ९७॥ सूर्योदय देखतां दृष्टीं। सचंद्र नक्षत्रांची मावळे सृष्टी। तेवीं माझ्या भक्तिउल्हासापाठीं। अविद्या उठाउठीं निमाली॥ ९८॥ अविद्येच्या नाशासवें। नासती धर्माधर्म आघवे। जेवीं गरोदर मारितां जीवें।

गर्भही तीसवें निमाला॥ ९९॥ जेव्हां माझे भक्तीचा उल्हासू। तेव्हांचि अविद्येचा निरासू। अविद्येसवें होय नाशू। अनायासू सर्व धर्मां॥ ११००॥ ते तूं भक्ति म्हणसी कोण। जिचें मागां केलें निरूपण। ते माझी चौथी भक्ति जाण। अविद्यानिरसन तिचेनि॥ १॥ येर आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी। जे जे भक्तींतें आदरिती। ते अविद्यायुक्त निश्चितीं। चौथी भक्ति मुख्यत्वें माझी॥ २॥ जे भक्तीमाजीं कंहीं। अविद्येचा विटाळू नाहीं। भजन तरी ठायींच्या ठायीं। अनायासें पाहीं होतसे॥ ३॥ ते माझी आवडती भक्ती। उद्धवा जाण निश्चितीं। जिसी अविद्या असे धाकती। सर्व धर्म कांपती सर्वदा॥ ४॥ ते भक्तीची देखोनि गुढी। अविद्या धाकेंचि प्राण सांडी। सर्व धर्मांची आवडी। घायेंवीण बापुडी निमाली॥ ५॥ हा मद्भक्तीचा पर्यावो। आवडीच्या गोडिया सांगे देवो। ऐक भक्ताचा भजनभावो। जेणें निर्वाहो भक्तीचा॥ ६॥ माझेनि अनुसंधानेंवीण। स्नान संध्या जप होम दान। ते अवघेचि अधर्म जाण। मद्भजन तें नव्हे॥ ७॥ गोडी आवडी ते परपुरुषीं। मिथ्या लुडबुडी निजपतीपाशीं। ते पतिव्रता नव्हे जैशी। जाण भक्ति तैशी व्यभिचारी॥ ८॥ नाना विषयीं ठेवूनि मन। जो करी ध्यान अनुष्ठान। ते जारस्त्रियेच्या ऐसें जाण। नव्हे पावन ते भक्ती॥ ९॥ काया वाचा मनसा। माझे भक्तीचा पडला ठसा। भजतां नाठवे दिवसनिशा। भक्तीची दशा या नांव॥ ११९०॥ जपेंवीण नाम वदनीं। धारणेवीण ध्यान मनीं। संकल्पेंवीण मदर्पणीं। सर्व कर्में करूनी सर्वदा॥ ११॥ निरोधेंवीण वायुरोधू। मर्यादेवीण स्वरूपबोधू। विषयेंवीण सदा स्वानंदू। मद्भक्त शुद्धू या नांव॥ १२॥ भक्त म्हणवितां गोड वाटे। परी भजनमार्गीं हृदय फुटे। अकृत्रिम भक्ति जैं उमजे। तैं मी भेटें उद्धवा॥ १३॥ ऐसेनि भजनें जो भजत। तो मजमाजीं मी त्याआंत। भक्तांमाजीं जो उत्तम भक्त। साधु निश्चित या नांव॥ १४॥ तो पुरुषांमाजीं पुरुषोत्तम। साधूमाजीं अतिउत्तम। तो माझें विश्रामधाम। अकृत्रिम उद्धवा॥ १५॥ तयालागीं मी आपण। करीं सर्वांगाचें आंथरुण। जीवें सर्वस्वें निंबलोण। प्रतिपदीं जाण मी करीं॥ १६॥ तो मज आवडे म्हणशी कैसा। जीवासी पढिये प्राण जैसा। सांगतां उत्तमभक्तदशा। प्रेमपिसा देवो जाला॥ १७॥ मग न धरतु न सांवरतु। उद्धवासी कडिये घेतु। भुलला स्वानंदें नाचतु। विस्मयें स्फुंदतु उद्धवू॥ १८॥ मी एकु देवो हा एकु भक्तु। हेंही विसरला श्रीकृष्णनाथु। हा देवो मी एकु भक्तु। तें उद्धवाआंतु नुरेचि॥ १९॥ ऐशा भक्तिसाम्राज्यपटीं। दोघां पडली ऐक्यगांठी। तंव देवोचि कळवळला पोटीं। निजभक्तगोठी सांगावया॥ ११२०॥ ऐशी उत्तम भक्तांची कथा। अतिशयें आवडे कृष्णनाथा। रुचलेपणें तत्त्वतां। मागुतां मागुतां सांगतू॥ २१॥ श्लोकीं प्रमेयें दिसतां अनेगें। तें श्रीकृष्णें सांडूनि मागें। हा ग्रंथार्थु श्रीरंगे। साक्षेपें स्वांगें लिहविला॥ २२॥ हे माझे युक्तीची कथा। नव्हे नव्हे जी सर्वथा। सत्य मानावें श्रोतां। ये अर्थीचा वक्ता श्रीकृष्ण॥ २३॥ श्रोतां व्हावें सावधान। मागील कथा अनुसंधान। दोघां पडिलें होतें आलिंगन। विस्मयें पूर्ण उद्धवू॥ २४॥ चढत प्रेमाचें भरतें। तें आवरोनि कृष्णनाथें। थापटूनि उद्धवातें। सावध त्यातें करी हरी॥ २५॥ उद्धवातें म्हणे तत्त्वतां। तुज आवडली भक्तिकथा। तेचि मी सांगेन आतां। सावधानता अवधारीं॥ २६॥ एक जाणोनि भजती मातें। एक ते केवळ भावार्थें। मी दोहींच्या भुललों भावातें। दोघे मातें पढियंते॥ २७॥

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान् यश्चास्मियादृशः। भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः॥ ३३॥

मी स्वस्वरूपी सच्चिदानंद। जगदांदि आनंदकंद। नित्य सिद्ध परम शुद्ध। माझें स्वरूप विशद जाणती॥ २८॥ देश काळ वर्तमान। सर्वीं सर्वदा अनवच्छिन्न। सर्वात्मा सच्चिदानंदघन। भेदशून्य मी एक॥ २९॥ सत्य ज्ञान अनंत। परब्रह्म मी निश्चित। ऐसें जाणूनि मज भजत। उत्तम भागवत ते जाण॥ ११३०॥ शुद्ध झालिया स्वरूपप्राप्ती। म्हणशी भजन कैशा रीतीं। देवभक्त तेचि ते होती। मी होऊन भजती मजमाजीं॥ ३१॥ वाम सव्य दोनी भाग। दों नांवीं एकचि अंग। तेवीं देवभक्तविभाग। मद्रूपीं सांग भासती॥ ३२॥ पाहें पां लोखंडाचा आरिसा। लोखंडेंचि घडिजे जैसा। लोखंडेंचि उजळे कैसा। स्वप्रकाशा निजतेजें॥ ३३॥ दर्पण उजळलिया पाहीं। शशी सूर्य गगन मही। बिंबलीं धरी आपुल्या ठायीं। अप्रयासें पाहीं स्वलीला॥ ३४॥ तैसें मी होऊनि माझे भक्त। अनन्यभावें मजचि भजत। तैं माझें ऐश्वर्य समस्त। प्रतिबिंबत तयांमाजीं॥ ३५॥ हो कां तरंगु जैसा सागरीं। त्यासी जळचि तळींवरी। तैसा माझा भक्त मजमाझारीं। सबाह्याभ्यंतरीं मद्रूप॥ ३६॥ जैसा सुवर्णाचा नरहरी। सुवर्णहिरण्यकशिपूतें विदारी। सुवर्णप्रल्हाद पोटींसी धरी। तैशी परी मद्भजना॥ ३७॥ तेथें सगुण आणि निर्गुण। उभय रूपें मीचि जाण। जैसें सुवर्ण आणि कंकण। तैसें अभिन्न जाण मद्रूप॥ ३८॥ तेथ जें जें दृश्य देखे दृष्टीं। तेथ मद्रूपें पडे मिठी। दृश्य द्रष्टा लोपूनि त्रिपुटी। उठाउठी मज मिळे॥ ३९॥ ऐसें जाणोनियां मज भजत। ते जाण पां उत्तम भक्त। ऐसें नेणोनियां मज भजत। भोळे भक्त ते माझे॥ ११४०॥ नाहीं श्रुतीचें पठण। नाहीं वेदांतशास्त्रश्रवण। नाहीं विकल्पलक्षण। अनन्य जाण भावार्थी॥ ४१॥ सगुण निर्गुण नेणे कांहीं। परी देवो आहे म्हणे हृदयीं। जडत्व असे देहाच्या ठायीं। तें देवो पाहीं वागवीत॥ ४२॥ यालागीं देहाचें जें चळण। तें हृदयस्थ करवी नारायण। दृष्टीचें जें देखणेपण। त्याचेनि जाण होतसे॥ ४३॥ काढूनि आपुला डोळा। दूरी ठेविला वेगळा। तो हृदयस्थेंवीण आंधळा। देखणी कळा देवाची॥ ४४॥ रसना केवळ चामडी। ते काय जाणे रसगोडी। कापूनि टाकिल्या बापुडी। गोडी अगोडी ते नेणे॥ ४५॥ रसनाद्वारें रसस्वादू। घेता हृदयस्थ परमानंदू। बुद्धीसी करिता उद्बोधू। सत्य गोविंदू हृदयींचा॥ ४६॥ मनाचें गमनागमन। दिसे हृदयस्थाआधीन। यालागीं दूरी जावोनि परते मन। हृदयासी जाण येतसे॥ ४७॥ इंद्रियें प्रेरिता वारिता। हे सत्ता आधीन हृदयस्था। यालागीं नांवें हृषीकेशता। त्यासचि तत्त्वतां म्हणताती॥ ४८॥ एवं विचाराचा निर्वाहो। करितां निजहृदयीं असे देवो। तो पहावया बाहेरी धांवो। तैं मूर्ख पहा हो मी झालों॥ ४९॥ तीर्थीं क्षेत्रीं भेटेल देवो। हा आपुले हृदयींचा भावो। निजभावेंवीण पहा वो। तीर्थीही देवो असेना॥ ११५०॥ एवं देवो तो मजमाजीं आहे। त्याचेनि टवटवती इंद्रियें। क्रियाकर्म जें जें होये। तें त्याचेनि पाहें तत्त्वतां॥ ५१॥ देह तंव बापुडें। केवळ अचेतन मडें। त्याचेनि कर्म नुपजे फुडें। हें तंव कुडें सर्वथा॥ ५२॥ इंद्रियांचेनि चेतविता। कर्म क्रिया कर्तव्यता। देहाचेनि नोहे तत्त्वतां। मुख्यत्वें कर्ता हृदयस्थु॥ ५३॥ यापरी जे कांहीं कर्तव्यता। ते भोळेपणें नेघे माथां। सर्व कर्माचा आत्मा कर्ता। विश्वासें सर्वथा दृढ मानी॥ ५४॥ मग अन्नपानादि सेवितां। मानी आत्मारामु भोक्ता। सर्वकर्मकर्तव्यता। अहं कर्ता हें म्हणों नेणे॥ ५५॥ ऐसे भोळिवेचेनि समजें। माझें भजन निपजे वोजें। तें म्या आवडीं सेविजे। जाण तें माझें खाजुकें॥ ५६॥ सर्वभावें सर्वथा। बाळकांसी जेवीं माता। तेवीं माझिया भोळ्या भक्तां। मी सर्वथा सर्वस्वें॥ ५७॥ धांवोनि मिठी घालावयासी। हितगुज आलोचासी। खाणें जेवणें

विश्रांतीसी। जेवीं बाळकासी निजजननी॥ ५८॥ तेवीं माझिया भोळ्या भक्तां। मीचि जाण जिवलग माता। अर्थ स्वार्थ परमार्थता। जाण तत्त्वतां मी त्यांसी॥ ५९॥ तोंडींचें पोटींचें गांठींचें। माता बाळकालागीं वेंचे। तेवीं भाविकांलागीं आमुचें। सर्वस्व साचें मी वेंची॥ ११६०॥ बाळक न मागतां धांवोनी। कळवळोनि माता लावी स्तनीं। तेवी भोळ्या भक्तांलागुनी। मी अनुसंधानी लाविता॥ ६१॥ ज्येष्ठ कनिष्ठ पुत्रातें पिता। एकचि जाण प्रतिपाळिता। ज्येष्ठातें निग्रहो करिता। लळे पुरविता बाळकांचे॥ ६२॥ ज्येष्ठ वांकुडें बोलतां। तोंडावरी हाणे पिता। बाळक बोबडें बोलतां। संतोषे सर्वथा सर्वस्वें॥ ६३॥ सज्ञानासी अबद्ध पडतां। दोष वाजती त्याचे माथां। भोळ्या भक्तांची अबद्ध कथा। तेणें देवो तत्त्वतां संतोषे॥ ६४॥ कर्माकर्मप्रत्यवायता। हे सज्ञानासीच सर्वथा। भोळ्या भक्तांसी कर्मबाधकता। मी सर्वथा येऊं नेदीं॥ ६५॥ भोजनीं बैसतां बापासी। दूरी बैसवी ज्येष्ठ पुत्रासी। अंकी वाऊनि बाळकासी। तृप्ति निजग्रासीं देतुसे॥ ६६॥ तेथें जें जें गोड आपणासी। तें तें दे बाळकासी। न घेतां प्रार्थूनि त्यासी। तृप्तीच्या ग्रासीं जेववी॥ ६७॥ तेवीं साधनीं शिणतां सज्ञानासी। प्राप्ती होय अतिप्रयासीं। माझिया भोळ्या भक्तांसी। मीच अनायासीं उद्धरीं॥ ६८॥ वाट चुकल्या भुयाळासी। फेरा पडे चालों जाणत्यासी। बाळक बापाचे कडियेसी। श्रमू तयासी येवों न शके॥ ६९॥ तेवीं 'साधनी' अंगविकळता। ते वाजे सज्ञानाचे माथां। भोळ्या भक्तातें मी उद्धरिता। प्रयास सर्वथा त्या नाहीं॥ ११७०॥ त्यासी वाऊनि आपुल्या खांदीं। मी पाववीं सायुज्यसिद्धी। नवल त्याची भोळी बुद्धि। तेथही भजनविधी न सांडी॥ ७१॥ हृदयीं कपटाचा थारा। तोचि भजनासी आडवारा। करितां युक्तिप्रयुक्ती विचारा। विचाराबाहिरा मी त्यासी॥ ७२॥ नेणे आचारा विचारा। केवळ भावार्थी भोळा खरा। न धरत न सांवरत एकसरां। मजभीतरां तो पावे॥ ७३॥ देखोन भोळिवेच्या भक्तासी। मीचि सामोरा धांवें त्यासी। त्यापाशीं मी अहर्निशीं। भुललों भावासी सर्वथा॥ ७४॥ केवळ जे भोळे भक्त। ते भगवंतासी आवडत। सांगतां कृष्ण मिटकिया देत। लाळ घोटीत उद्धवू॥ ७५॥ मज भोळ्या भक्तांची आवडी। काय सांगों त्यांची गोडी। त्यावेगळी अर्धघडी। कोडी परवडी नावडती॥ ७६॥ यापरीचे जे भोळे भक्त। ते मी मानीं उत्तम भागवत। त्यांच्या पायां मी लागें भगवंत। उत्तम निश्चित ते जाण॥ ७७॥ त्यांलागीं मी आर्तभूत। त्यांलागीं सदा सावचित्त। त्यांलागीं मी दशदिशा धांवत। भोळा भक्त दुर्लभ॥ ७८॥ उद्धवा काय सांगों गोठी। भोळा भक्त देखोनि दिठीं। मीही आपुलिये सवसाटी। उठाउठी घेतुसें॥ ७९॥ येऱ्हवीं मोल करितां जाण। मजहूनि माझे भक्त गहन। यालागीं मी त्यांअधीन। भक्तवचन नुल्लघीं॥ ११८०॥ भोळ्या भक्तांचें वचन। माझेनि नुल्लंघवे जाण। देवकीवसुदेवाचीं आण। भावो प्रमाण भजनासी॥ ८१॥ वृथा घृतेंवीण भोजन। वृथा वंध्येचें मैथुन। वृथा भावेंवीण भजन। सत्य जाण उद्धवा॥ ८२॥ भावो तेथ भाग्य पहा हो। भावो तेथ मी निःसंदेहो। भावो तेथें प्रकटे देवो। निजस्वभावो स्वानंदें॥ ८३॥ भावो तेथ विरक्ती। भावो तेथ प्रकटे शांती। भावो तेथ माझी भक्ती। उल्हासती निजबोधें॥ ८४॥ एवं भाविकांमाजीं माझी भक्ति। मजसहित स्वानंदें नाचती। यालागीं भोळे जे भावार्थी। ते उत्तम होती भागवत॥ ८५॥ नेणते भक्त जे मातें भजती। ते मज पावले या रीतीं। सांगीतली ते म्यां व्युत्पत्ती। आतां उत्तम भक्ती अवधारीं॥ ८६॥

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् । परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम्॥ ३४॥

नाना अवतारअनुक्रमा। शैवी वैष्णवी अतिउत्तमा। शास्त्रोक्त माझ्या प्रतिमा। तीर्थक्षेत्रीं महिमा विशेष ज्यांचा॥ ८७॥ ज्या प्रतिमा देवीं प्रतिष्ठिलिया। ज्या नरकिन्नरीं संस्थापिलिया। ज्या स्वयें स्वयंभ प्रकटलिया। शास्त्रीं बोलिलिया गंडकी॥ ८८॥ एकी भक्तअनुग्रहें आल्या। आसुरी निशाचरीं ज्या केल्या। आपुलाल्या घरीं पूजिल्या। भक्तीं करविल्या त्रैवर्णिकीं॥ ८९॥ ऐशा माझ्या प्रतिमांची भेटी। पाहों धांवे उठाउठी। पूजा करावया पोटीं। आवडी मोठी उल्हासे॥ ११९०॥ माझें स्वरूप ते माझे भक्त। मी तेचि ते माझे संत। त्यांचे भेटीलागीं आर्तभूत। जैसें कृपणाचें चित्त धनालागीं॥ ९१॥ माझ्या प्रतिमांहूनि अधिक। संतभजनीं अत्यंत हरिख। साधुसंगतीचें अतिसुख। सांडूनि देख घरदारां॥ ९२॥ चिंतामणीसी कीजे जतन। तैसी मर्यादा राखे सज्जन। नीच नवें अधिक भजन। न धाये मन पूजितां॥ ९३॥ सिद्ध करूनि पूजासंभार। माझे पूजेचा अत्यादर। पूजा करितां एकाग्र। जैं साधु नर घरा येती॥ ९४॥ त्या सांधूची पूजा न करितां। जो माझी पूजा करी सर्वथा। तेणें मज हाणितल्या लाता। कीं तो माझ्या घाता प्रवर्तला॥ ९५॥ बाळक एक एकुलता। त्यासी माथां हणितल्या लाता। मग पाटोळाही नेसवितां। क्षोभली माता समजेना॥ ९६॥ तेवीं अवगणुनी माझिया संतां। मीचि क्षोभें मज पूजितां। ते सेवा नव्हे सर्वथा। अतिक्षोभकता मज केली॥ ९७॥ संत माझे लळेवाड। त्यांची पूजा मज लागे गोड। संतसेवकांचें मी पुरवीं कोड। मज निचाडा चाड संतांची॥ ९८॥ सांडूनि माझें पूजाध्यान। जो संतांसी घाली लोटांगण। कोटि यज्ञांचें फळ जाण। मदर्पण तेणें केलें॥ ९९॥ सकळ तीर्थीं तोचि न्हाला। जपतपादिफळें तोचि लाहिला। सर्व पूजांचें सार तो पावला। जेणें साधू वंदिला सन्मानें॥ १२००॥ प्रतिमा माझ्या अचेतन व्यक्ती। संत सचेतन माझ्या मूर्ती। दृढ भावें केल्या त्यांची भक्ती। ते मज निश्चितीं पावली॥ १॥ प्रतिमा निजकल्पना उत्तम। संत प्रत्यक्ष पुरुषोत्तम। चालतेंबोलतें परब्रह्म। अतिउत्तम साधुसेवा॥ २॥ माझ्या प्रतिमा आणि साधुनर। तेथें या रीतीं भजती तत्पर। हा तंव सांगीतला निर्धार। भजनप्रकार तो ऐक॥ ३॥ प्रतिमा आणि साधु सोज्ज्वळे। आवडीं न पाहती ज्यांचे डोळे। दृष्टि असोनि ते आंधळे। जाण केवळें मोरपिसें॥ ४॥ जेवीं कां प्रिया पुत्र धन। देखोनियां सुखावती नयन। तैसें संतप्रतिमांचें दर्शन। आवडीं जाण जो करी॥ ५॥ अतिउल्हासें जें दर्शन। या नांव गा देखणेपण। तेणें सार्थक नयन जाण। दृष्टीचें भजन या रीतीं॥ ६॥ देखोनि संत माझीं रूपडीं। जो धांवोनियां लवडसवडी। खेंव देऊनियां आवडीं। मिठी न सोडी विस्मयें॥ ७॥ ऐसें संतांचें आलिंगन। तेणें सर्वांग होय पावन। कां मूर्तिस्पर्शें जाण। शरीर पावन होतसे॥ ८॥ तीर्थयात्रे न चालतां। संतांसमीप न वचतां। हरिरंगणीं न नाचतां। चरण सर्वथा निरर्थक॥ ९॥ जो कां नाना विषयस्वार्था। न लाजे नीचापुढें पिलंगतां। तो हरिरंगणीं नाच म्हणतां। आला सर्वथा उठवण्या॥ १२१०॥ तीर्थयात्रा क्षेत्रगमनता। हरिकीर्तना जागरणा जातां। संतसमागमें चालतां। कां नृत्य करितां हरिरंगीं॥ ११॥ या नांव गा सार्थक चरण। इतर संचार अधोगमन। चरणाचें पावनपण। या नांव जाण उद्धवा॥ १२॥ सर्वभावें अवंचन। कवडी धरूनि कोटी धन। जेणें केलें मदर्पण। माझें अर्चन या नांव॥ १३॥ धनधान्य वंचूनि गांठीं। माझी पूजा आहाच दृष्टीं। ते नव्हे अर्चनहातवटी। तो जाण कपटी मसजी पैं॥ १४॥ लोभें खावया आपण। ठेवी प्रतिमेपुढें पक्कान्न। अतीत आलिया न घाली अन्न। मदर्चन तें नव्हे॥ १५॥ कर पवित्र करितां

पूजा। ते आवडती अधोक्षजा। जे न पूजिती गरुडध्वजा। त्या जाण भुजा प्रेताच्या॥ १६॥ न करितां हरिपूजनें। न देतां सत्पात्रीं दानें। जडित मुद्रा बाहुभूषणें। तें प्रेतासी लेणें लेवविलें॥ १७॥ वाचा सार्थक हरिकीर्तनें। कां अनिवार नामस्मरणें। जयजयकाराचेनि गर्जनें। केलीं त्रिभुवनें पावन॥ १८॥ रामनामाच्या गजरीं। सदा गर्जे ज्याची वैखरी। तेथ कळिकाळाची नुरे उरी। दुरितें दूरी पळाली॥ १९॥ हरिनाम सांडूनि करंटीं। मिथ्या करिताती चावटी। जेवीं हागवणी पिटपिटी। तैशा गोठी जल्पती॥ १२२०॥ हरिनामाचा सुखसुरवाड। ज्याचे मुखीं लागला गोड। त्याचें मजपाशीं सरतें तोंड। मी अखंड त्याजवळी॥ २१॥ गद्यपद्यें स्तवनमाळा। नाना पदबंधाची कळा। छंदें कुसरीं विचित्र लीळा। स्तुति गोपाळा अर्पावी॥ २२॥ धैर्य स्थैर्य औदार्य। घनश्याम अतिसौंदर्य। शौर्य वीर्य अतिमाधुर्य। गुणगांभीर्य गोविंदू॥ २३॥ त्रिविक्रम उभा बळीच्या द्वारीं। द्वार न सांडूनि द्वारकरी। तेणें द्वारें द्वारकेभीतरीं। येऊनि उद्धरी कुशातें॥ २४॥ तो अद्यपि श्रीहरि। स्वयें उभा समुद्रतीरीं। शोभा विराजमान साजिरी। असुरसुरनरीं वंदिजे॥ २५॥ मत्स्य झाला तो सागरीं। वराह झाला नासिकद्वारीं। उपजला खांबा माझारीं। यशोदेघरीं पोसणा॥ २६॥ जरठपाठी झाला कमठू। बळिच्छळणीं तो खुजटू। वेदवादें अतिवाजटू। फुरफुराटू निःश्वासें॥ २७॥ बाईल चोरीं नेली परदेशीं। तीलागीं रडे पडे वनवासीं। एकही गुण नाहीं त्यापाशीं। शेखीं दासी कुब्जेसीं रातला॥ २८॥ 'स्तुतिगुणकर्मानुकीर्तन'। तें या नांव गा तूं जाण। 'प्रह्व' म्हणिजे तें नमन। तेंही व्याख्यान अवधारीं॥ २९॥ माझे प्रतिमांचें दर्शन। कां देखोनि संतजन। जो भावें घाली लोटांगण। देहाभिमान सांडूनि॥ १२३०॥ साधुजनांसी वंदितां। धणी न मनी जो चित्ता। पुनःपुन्हा चरणीं माथा। विनीततां अतिनम्र॥ ३१॥ भागवताचें रजःकण। जो मस्तकीं वंदीना आपण। तो जीवें जीतां प्रेत जाण। अपवित्रपण तैसें तया॥ ३२॥ सांडूनि लौकिकाच्या लाजा। जो वैष्णवांच्या चरणरजा। गडबडां लोळे वोजा। हा भक्तीचा माझा उल्हास॥ ३३॥ या आवडीं करितां नमन। सहजें जाती मानाभिमान। हें मुख्य भक्तीचें लक्षण। जे मानाभिमान सांडावे॥ ३४॥ त्यजावया मानाभिमान। करावें मत्कीर्तनश्रवण। श्रवणादि भक्तीचें लक्षण। ऐक संपूर्ण उद्धवा॥ ३५॥

मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव। सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम्॥ ३५॥

दृढ आस्तिक्यें समाधान। शुद्ध श्रद्धा त्या नांव जाण। भावार्थें न डंडळी मन। कथाश्रवण सादरें॥ ३६॥ वक्त्याच्या वचनापाशीं। जडूनि घाली कानामनासी। श्रवणार्थ वाढवी बुद्धीसी। विकिला कथेसी भावार्थें॥ ३७॥ जेवीं दुधालागीं मांजर। संधी पहावया सादर। तेवीं सेवावया कथासार। निरंतर उल्हासु॥ ३८॥ जडित कुंडलेंमंडित कान। तें श्रवणासी नोहे मंडण। श्रवणासी श्रवण भूषण। श्रवणें श्रवण सार्थक॥ ३९॥ जरी स्वयें झाला व्याख्याता। पुराणपठणें पुरता। तरी साधुमुखें हरिकथा। ऐके सादरता अतिप्रीतीं॥ १२४०॥ श्रवणें श्रवणार्थी सावधान। तोचि अर्थ करी मनन। संपल्या कथाव्याख्यान। मनीं मनन संपेना॥ ४१॥ ऐसें ठसावल्या मनन। सहजेंचि लागे माझें ध्यान। सगुण अथवा निर्गुण। आवडी प्रमाण ध्यानासी॥ ४२॥ तेथ ध्येय ध्यान ध्याता। तिहींसी एकी गांठी नसतां। तंवचिवरी ध्यानावस्था। जाण तत्त्वतां उद्धवा॥ ४३॥ ज्याच्या जीवीं ध्यानाची आवडी। ज्याच्या मनासी माझी गोडी। उद्धवा हे तैंचि जोडे जोडी। जैं जन्मकोडी निजभाग्यें॥ ४४॥ निष्काम करोनियां मन। जन्मजन्मांतरीं साधन। केलें असले तैं

माझे ध्यान। विश्वासें जाण दृढ लागे॥ ४५॥ दृढ लागल्या माझें ध्यान। अनन्यभावें माझें भजन। सर्व पदार्थेंसीं जाण। आत्मसमर्पण मज करी॥ ४६॥ वैदिक लौकिक दैहिक। या क्रियांचे लाभ देख। जरी झाल्या अलोकिक। भक्त भाविक तैं नेघे॥ ४७॥ वैदिक लाभ दिव्य सामग्री। स्वर्गादि सत्यलोकवरी। भक्त तेंही हातीं न धरी। भजन सुखें करी संतुष्ट॥ ४८॥ लौकिक लाभाची श्रेणी। कल्पतरु कामधेनु चिंतामणी। भक्त अर्पी कृष्णार्पणीं। हरिभजनीं संतुष्ट॥ ४९॥ दैहिक लाभाची थोरी। गजान्तलक्ष्मी आल्या घरीं। भक्त कृष्णार्पण करी। भजन सुखें करी संतुष्ट॥ १२५०॥ आविरिंच्यादि लाभ जाण। सर्वही मानोनियां गौण। माझे भक्तीसी विकिला प्राण। सर्व समर्पण मज करी॥ ५१॥ जेणें सेवेसी विकिला प्राण। तो वृथा जावों नेदी अर्ध क्षण। माझी कथा माझें ध्यान। महोत्साहो जाण माझाचि॥ ५२॥

मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम्। गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥ ३६॥

ध्यानावस्थें करी ध्यान। नातरी कथानिरूपण। अनुसंधानीं सावधान। रितें मन राहूं नेदी॥ ५३॥ माझीं जन्मकर्में निरूपितां। आवडी उल्हास थोर चित्ता। स्वेद रोमांच द्रवतां। सप्रेम कथा उल्हासे॥ ५४॥ ऐकूनि रहस्य हरिकथा। द्रव नुपजे ज्याचिया चित्ता। तो पाषाण जाण सर्वथा। जळीं असतां कोरडा॥ ५५॥ ऐक माझे भक्तीचें चिन्ह। माझ्या पर्वांचें अनुमोदन। करी करवी आपण। दीनोद्धरणउपावो॥ ५६॥ पर्वविशेष भागवतधर्मीं। नृसिंहजयंती रामनवमी। वामनजयंती जन्माष्टमी। उत्तमोत्तमीं शिवरात्र॥ ५७॥ वैष्णवांसी शिवरात्री विरुद्ध। हें बोलणें अतिअबद्ध। सकळ पुराणीं अविरुद्ध। व्यास विशुद्ध बोलिला॥ ५८॥ शिव श्याम तमोगुणी। तो शुद्ध झाला विष्णूच्या ध्यानीं। विष्णु श्याम शिवचिंतनीं। विनटले गुणीं येरयेरां॥ ५९॥ शिव धवळधाम गोक्षीरू। विष्णु घनश्याम अतिसुंदरू। बाप ध्यानाचा बडिवारू। येरें येरू व्यापिला॥ १२६०॥ मुदला दोहींसी ऐक्य शुद्ध। मा उपासकांसी का विरुद्ध। शिवरात्री वैष्णवांसी अविरुद्ध। व्रत विशुद्ध सर्वांसी॥ ६१॥ जे पर्वणी प्रिय चक्रपाणी। जे सकळ कल्याणाची श्रेणी। उभय पक्षां तारिणी। वैष्णवजननी एकादशी॥ ६२॥ जे शुक्लकृष्णपक्षविधी। भक्त वाऊनियां खांदी। नेऊनियां सायुज्यसिद्धी। मोक्षपदीं बैसवी॥ ६३॥ करावी शुक्ल एकादशी। त्यजावें कृष्णपक्षासी। उपडलिया एका पक्षासी। सायुज्यासी केवीं पावे॥ ६४॥ दों पांखीं उड्डाण पक्ष्यासी। एकु उपडिल्या नुडवे त्यासी। तेवीं पां त्यजितां कृष्णपक्षासी। सायुज्यासी न पविजे॥ ६५॥ तेवीं एकादशी पाहीं। जो जो उत्सवो जे जे समयीं। तो तो उपतिष्ठे माझ्या ठायीं। संदेहो नाहीं सर्वथा॥ ६६॥ जो एकादशीचा व्रतधारी। मी नित्य नांदें त्याच्या घरीं। सर्व पर्वकाळांच्या शिरीं। एकादशी खरी पैं माझी॥ ६७॥ जो एकादशीचा व्रती माझा। तो व्रततपतीर्थांचा राजा। मज आवडे तो गरुडध्वजा। परिग्रहो माझा तो एकु॥ ६८॥ जैं माझे भक्त आले घरा। तैं सर्व पर्वकाळ येती दारा। वैष्णवां तो दिवाळी दसरा। तीर्थें घरा तैं येती॥ ६९॥ चंद्रसूर्यग्रहणांसी। वोवाळूनि सांडी ते दिवसीं। कपिलाषष्ठी ते याची दासी। मा अर्धोदयासी कोण पुसे॥ १२७०॥ ऐसें मद्भक्तांचें आगमन। तेणें उल्हासें न संटे मन। सर्वस्व वेंचितां धनधान्य। हरिखें जाण नाचतु॥ ७१॥ ऐशीं माझ्या भक्तांची आवडी। त्यांचे संगतीची अतिगोडी। त्या नांव भक्तीची कुळवाडी। पर्वकोडी ते दिवसीं॥ ७२॥ पर्वविशेष आदरें। संत आलेनि अवसरें। शृंगारी हरिमंदिरें।

गुढिया मखरें महोत्साह॥ ७३॥ संत बैसवूनि परवडीं। कीर्तन मांडिती निरवडी। हरिखें नाचती आवडी। धरिती बागडी विन्यासें॥ ७४॥ टाळ घोळ मृदंग कुसरीं। नाना चरित्रें गाती गजरीं। गर्जती स्वानंद अवसरी। जयजयकारी हरिनामें॥ ७५॥

यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु। वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम्॥ ३७॥

ऐक दीक्षेचें लक्षण। वैदिकी तांत्रिकी दोन्ही जाण। वैदिकी वेदोक्तग्रहण। तांत्रिक जाण। आगमोक्त॥ ७६॥ वैष्णवी दीक्षा व्रतग्रहण। पांचरात्रिक मंत्रानुष्ठान। हें आगमोक्त शुद्ध लक्षण। व्रतधारण तें माझें॥ ७७॥ वैष्णवव्रतधर्मासी। पर्वें करावीं वार्षिकेंसी। जे बोलिलीं चातुर्मासीं। एकादश्यादि जयंत्या॥ ७८॥ शयनी कटिनी प्रबोधिनी। पवित्रारोपणी नीराजनी। वसंतदमनकारोपणी। जन्मदिनीं जयंत्या॥ ७९॥ इत्यादि नाना पर्वकाळीं। महामहोत्साहो पूजावळी। नीराजनें दीपावळी। मृदंगटाळीं गर्जत॥ १२८०॥ उचंबळोनि अतिसुखें। यात्रे निघावें येणें हरिखें। दिंडी पताका गरुडटके। नामघोषें गर्जत॥ ८१॥ यात्रे जावें ज्या देवासी। तो देवो आणी निजगृहासी। आपली आवडी जे मूर्तीसी। ते प्रतिमेसी प्रतिष्ठी॥ ८२॥

ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः। उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥ ३८॥

मूर्ति निपजवावी वरिष्ठ। नेटुगी देटुगी चोखट। साधुमुखें अतिनिर्दुष्ट। घवघवीत साजिरी॥ ८३॥ मूर्ति करावी अतिसुरेख। कृश न करावी अधोमुख। स्थूल न करावी ऊर्ध्वमुख। रडकी दुर्मुख न करावी॥ ८४॥ अंग स्थूल वदन हीन। मूर्ति न करावी अतिदीन। खेचरी भूचरी जिचे नयन। विक्राळ वदन न करावी॥ ८५॥ अंग साजिरें नाक हीन। वरदळ चांग चरण क्षीण। मोदळी बुदगुली ठेंगणें ठाण। अतिदीर्घ जाण न करावी॥ ८६॥ मूर्ति साजिरी सुनयन। सम सपोष सुप्रसन्न। अंगीं प्रत्यंगीं नव्हे न्यून। सुचिन्ह सुलक्षण सायुध॥ ८७॥ पाहतां निवे तनमन। देखतां जाय भूकतहान। घवघवीत प्रसन्नवदन। कृपालक्षण सुकुमार॥ ८८॥ जे देखतांचि जीवीं जडे। अतिशयें सर्वांसी आवडे। पाहों जातां निजनिवाडें। पूरु चढे प्रेमाचा॥ ८९॥ ईषत् दिसे हास्यवदन। अतिशयेंसीं सुप्रसन्न। जिचेनि घवघवाटें निवे मन। प्रतिमा संपूर्ण ती नांव॥ १२९०॥ तेथें मेळवूनि साधुश्रेष्ठां। अग्न्युत्तारण करावें निष्ठा। चक्षून्मीलन प्राणप्रतिष्ठा। करावी वरिष्ठाचेनि हातें॥ ९१॥ देवालय करावें गहन। वन उद्यान उपवन। खेंडकुलिया विश्रामस्थान। आराम जाण करावे॥ ९२॥ नाना जातींचे वृक्ष तें वन। फळभक्षी वृक्ष तें उपवन। पुष्पवाटिका तें उद्यान। कृष्णार्पण पूजेसी॥ ९३॥ हाट हाटवटिया चौपासी। नगर वसवावें देवापाशीं। वेदाध्ययन शास्त्रश्रवणेंसी। अहर्निशीं कीर्तनें॥ ९४॥ इतुकें करावया असमर्थ। श्रद्धा आहे परी नसे वित्त। तरी साह्य मेळवून समर्थ। मद्भावयुक्त करावें॥ ९५॥ कां मेळवूनि भगवद्भक्त। त्यांत श्रद्धाळू जे वित्तवंत। भावपूर्वक दिधल्या वित्त। तेणें हें समस्त करावें॥ ९६॥ देउळीं करूनि मूर्तिप्रतिष्ठा। परतोनि न वचे जो त्या वाटा। तो आळशी जाण पां करंटा। नव्हेचि चोखटा भावाचा॥ ९७॥ जो करूं जाणे मूर्तिप्रतिष्ठा। धन वेंचून भावार्थी मोठा। नीचसेवा तो माझा वांटा। झाडितां खरांटा न संडी॥ ९८॥

संमार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः। गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया॥ ३९॥

असतां शिष्य सेवकजन। ते प्रतिष्ठा सांडूनि सन्मान। स्वयें करी सडासंमार्जन। देवालयीं जाण निर्दंभ॥ ९९॥ रंगमाळा घाली कुसरीं। नाना यंत्रें नानाकारीं। नाना परीचे रंग भरी। आवडी

भारी मद्भजनीं॥ १३००॥ जैसे कां नीच रंक। तैसी सेवा करी देख। नीच सेवेचें अतिसुख। निर्मायिक मद्भजनीं॥ १॥

अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम्। अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्॥ ४०॥

अपार वेंचूनि नाना अर्थ। प्रासादप्रतिष्ठा म्यां केली येथ। मी एक देवाचा मोठा भक्त। न धरी पोटांत अभिमान॥ २॥ शुद्ध भावो नाहीं चित्तीं। खटाटोपें अहाच भक्ती। ऐशी जे दांभिक स्थिती। भक्त नातळती भाविक॥ ३॥ भक्तें न धरावा अभिमान। नापेक्षावा मानसन्मान। न करावें दांभिक भजन। अभिलाष जाण न धरावा॥ ४॥ अनुभव जाला तो आपण। कां देवालयीं वेंचिलें धन। अथवा जें दिधलें दान। तें वाच्य जाण न करावें॥ ५॥ यजमान जैं केलें बोले। तैं जें केलें तें निर्वीर्य जालें। प्राणेंवीण प्रेत उरलें। तैसे झाले ते धर्म॥ ६॥ कृषीवळू पेरूनियां धान्य। सवेंचि आच्छादी आपण। तैं पीक लगडूनि ये जाण। तैसें सफळ दान न बोलतां॥ ७॥ देवासी समर्पिलें आपण। कां आणिकीं केलें निवेदन। तें घेऊं नये आपण। देवलकपण तो दोषु॥ ८॥ देवाचा प्रसाद घेतां। लोभें न घ्यावा सर्वथा। आधीं वांटावा समस्ता। अल्पमात्रतां स्वयें घ्यावा॥ ९॥ दीपु समर्पिला श्रीहरि। तेणें न वर्तावें गृहव्यापारीं। हें बोलिलें आगमशास्त्री। स्मृतिकारीं सज्ञानीं॥ १३१०॥ हे तंव अवघी साधारण बाह्य पूजा। परी दृढविश्वासें भावो माझा। ते भक्ति आवडे अधोक्षजा। भाविकांची पूजा भावार्थें॥ ११॥ ऐक मां भक्तीचा ईत्यर्थु। जेणें भजनें म्हणिजे भक्तु। तरी जें जें उत्तम या लोकांतु। आवडता पदार्थु मज अर्पी॥ १२॥

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः। तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते॥ ४१॥

हो कां चंद्रामृत तत्त्वतां। अवचटें आलें भक्ताचे हातां। तें अवघेंचि अर्पी भगवंता। देहलोभता न सेवी॥ १३॥ देहासी यावया अमरता। तेणें लोभें सेवावें अमृता। अमर अमृतपान करितां। मरती सर्वथा सकाळें॥ १४॥ नश्वर देहाचिया ममता। भक्त सेवीना अमृता। तेंचि भगवंतासी अर्पितां। अक्षयता अनश्वर॥ १५॥ परिस चिंतामणि न प्रार्थितां। दैवें आलिया भक्ताच्या हातां। तो लोभें न ठेवी सर्वथा। अर्पी भगवंता तत्काळ॥ १६॥ लोभें कल्पतरु राखतां। कल्पना वाढे अकल्पिता। तोचि भगवंती अर्पितां। निर्विकल्पता स्वयें लाभे॥ १७॥ स्वार्थें चिंतामणि राखितां। अत्यंत हृदयीं वाढवी चिंता। तोचि भगवंती अर्पितां। निश्चिंतता चित्तासी॥ १८॥ कामधेनु राखतां आपण। अनिवार कामना वाढवी जाण। तेचि करितां कृष्णार्पण। निरपेक्षता पूर्ण अंगीं बाणे॥ १९॥ लोभें स्पर्शमणि राखतां। तो वाढवी धनलोभता। तोचि भगवंतीं अर्पितां। अर्थस्वार्थतानिर्मुक्त॥ १३२०॥ हो कां देशकाळऋतुमेळें। उत्तम पदार्थ अथवा फळें। नवधान्यादिकें सकळें। अर्पी भावबळें मजलागीं॥ २१॥ पोटांतूनि आवडता। प्राप्त झालिया पदार्था। मजचि अर्पिती सर्वथा। लोलिंगता सांडूनी॥ २२॥ आपुले हृदयींची आवडी। हरिचरणीं फुडी। आतां नाना पदार्थांची जे गोडी। ते मजचि रोकडी अर्पिती॥ २३॥ मज अनंताच्या हातीं। आवडीं अर्पिलें मद्भक्ती। त्याचीं फळें सांगतां श्रुती। मुक्त्या होती सर्वथा॥ २४॥ मी वेदांचा वेदवक्ता। मजही न बोलवे सर्वथा। त्याचें फळ तें मीचि आतां। जाण तत्त्वतां उद्धवा॥ २५॥ जीवाहिहोनि वरौती। माझ्या ठायीं अत्यंत प्रीती। तिये नांव गा माझी भक्ती। जाण निश्चितीं उद्धवा॥ २६॥ तत्काळ मज पाविजे जेणें। ते माझे पूजेचीं स्थाने। अतिपवित्र जें कल्याणें। तुजकारणें सांगेन॥ २७॥

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम्। भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे॥ ४२॥

**एकादशीं एकादशाध्यायीं। एकादश पूजास्थानें पाहीं। एका जनार्दनु तेंही। एकरूप सर्वही वर्णील॥ २८॥ सूर्य अग्नि आणि ब्राह्मण। गायी वैष्णव आणि गगन। अनिळ जळ मही जाणं। पूज्य आपण आपणासी॥ २९॥ अकरावें पूजा स्थान। सर्व भूतें पूज्य जाण। ऐक पूजेचें विधान। यथायोग्य लक्षण अवधारीं॥ १३३०॥**

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम्। आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना॥ ४३॥

**सविता माझें अधिष्ठान। माझेनि तेजें विराजमान। जेणें तेजें जगाचे नयन। देखणे जाण होताती॥ ३१॥ दीपु लाविल्या गृहाभीतरीं। तो प्रकाशु दिसे गवाक्षद्वारीं। तैसें माझें निजतेज अंतरीं। तें सूर्यद्वारीं प्रकाशे॥ ३२॥ तो सविता मंडळमध्यवर्ती। जाण नारायण मी निश्चितीं। त्या मज सूर्याची उपास्ती। सौर सूक्ति त्रैविद्या॥ ३३॥ ऋग्वेदादि वेद तीनी। साङ्ग सौरमंत्र जाणोनी। सूर्यसूक्तें संमुख पठणीं। पूजा सज्ञानीं करावी॥ ३४॥ हे वैदिकी उपासकता। वेदज्ञांसीचि तत्त्वतां। नेणत्या योग्य नव्हे सविता। ऐसें सर्वथा न म्हणावें॥ ३५॥ तत्काल प्रसन्न होय सविता। ऐसी सुगम उपासकता। तुज सांगेन आतां। सावधानता अवधारीं॥ ३६॥ सकळ वेदांची जननी। सकळ मंत्रांचा मुकुटमणी। ते गायत्री उत्तमवर्णीं। सकळ ब्राह्मणीं जाणिजे॥ ३७॥ तिचा अर्थ विचारितां। तीअधीन असे सविता। त्रिपदा त्रिकाळीं अर्घ्य देतां। त्रैविद्या तत्त्वतां त्या नांव॥ ३८॥ अर्धमात्रा अर्धबिंबध्यान। त्रिपदा त्रिकाळीं अर्घ्यदान। तेणें संतोषे चिद्घन। आपणासमान भक्त करी॥ ३९॥ हें प्रथम माझें अधिष्ठान। सूर्यपूजा याचि नांव जाण। आतां अग्निपूजेचें लक्षण। साङ्ग संपूर्ण तें ऐक॥ १३४०॥ सर्वांगां मुख प्रधान। तें माझें मुख अग्नि जाण। ये अर्थीं वेदशास्त्रपुराण। साक्षी संपूर्ण गर्जती॥ ४१॥ ब्राह्मण माझे आवडते। माझे मुखीं होआवया सरते। म्यां लाविले अग्निसेवेतें। तेही तेथें चूकले॥ ४२॥ घालूनि मजमुखीं अवदान। 'इंद्राय स्वाहा' म्हणती जाण। कर्मकांडें ठकिले ब्राह्मण। शुद्ध मदर्पण चूकले॥ ४३॥ केवळ मजमुखीं अर्पितां। आड आली त्यांची योग्यता। इंद्र यम वरुण सविता। नाना विकल्पता अवदानीं॥ ४४॥ देवो देवी मीचि आहें। हेंही सत्य न मानिती पाहें। मजवेगळा विनियोग होये। नवल काये सांगावें॥ ४५॥ जें जें सेविजे तिहीं लोकीं। तें तें अर्पे माझ्या मुखीं। हें न मनिजे याज्ञिकीं। कर्माविखीं। विकल्पू॥ ४६॥ विकल्पबुद्धि ब्राह्मण। अद्यापि संशयीं पडिले जाण। करूनि वेदशास्त्रपठण। शुद्ध मदर्पण न बोलती॥ ४७॥ माझें मुख वैश्वानर। येणें भावें विनटले नर। सांडूनि भेद देवतांतर। मजचि साचार अर्पिती॥ ४८॥ त्याचें समिधेनीं मन तृप्त झालें। तेथही जरी हविर्द्रव्य आलें। तरी माझें निजमुख सुखावलें। सर्वस्व आपुलें त्यांसी मी दें॥ ४९॥ मज नैराश्यतेची आस। त्यांच्या हाताची मी पाहें वास। त्यांलागीं सदा सावकाश। अल्पही ग्रास जैं देती॥ १३५०॥ त्यांचेनि हातें निर्विकल्पें। मद्भावें जें अग्नीस अर्पे। तृण काष्ठ तिळ तुपें। तें म्यां चिद्रूपें सेविजे॥ ५१॥ यापरी अग्नीची उपास्ती। जे दुजे स्थानींची पूजास्थिती। सांगीतली म्यां तुजप्रती। ब्राह्मणभक्ती अवधारीं॥ ५२॥ पूजेमाजीं अतिश्रेष्ठ जाण। शीघ्र मत्प्राप्तीचें कारण। ब्राह्मण माझें पूजास्थान। अतिगहन उद्धवा॥ ५३॥ त्यांचिया भजनाची नवलपरी। आड पडावें देखोनि दूरी। मस्तक ठेवावा चरणावरी। चरणरज शिरीं वंदावे॥ ५४॥ आवाहनविसर्जनेंवीण। शालिग्रामीं माझें अधिष्ठान। परी तें केवळ अचेतन।

ब्राह्मण सचेतन मद्रूपें॥ ५५॥ मी अव्यक्तरूप जनार्दन। तो मी व्यक्त ब्राह्मणरूपें जाण। धरातळीं असें मी नारायण। धरामर ब्राह्मण यालागीं॥ ५६॥ ब्राह्मणमुखें वेदांसी महिमा। ब्राह्मणें यज्ञदानतपतीर्थगरिमा। ब्राह्मणें देवासी परम प्रेमा। ब्रह्मत्व ब्रह्मा ब्राह्मणमुखें॥ ५७॥ त्या ब्राह्मणांसी अपमानितां। अपमानिल्या यज्ञदेवता। वेदादि तपदानतीर्था। परब्रह्म तत्त्वतां अपमानिलें॥ ५८॥ मज त्रिलोकीं नाहीं सांठवण। मजहूनि अधिक माझे ब्राह्मण। त्यामाजीं मी वेदरूप नारायण। सगळा जाण सांठवलों॥ ५९॥ ब्राह्मणपद हृदयीं धरितां। मज आली परम पवित्रता। लक्ष्मी पायां लागे उपेक्षितां। चरणतीर्थ माथां शिवू धरी॥ १३६०॥ यालागीं ब्राह्मण पूज्य जाण। अंगें मी करीं चरणक्षालन। त्यांचें उच्छिष्ट मी काढीं आपण। पाडू कोण इतरांचा॥ ६१॥ मुख्य माझें अधिष्ठान। सर्वोपचारपूजास्थान। दान मान मिष्टान्न। विधिपूजन विप्रांचें॥ ६२॥ एका नेमू शालिग्रामाचा। एका स्थावर लिंगाचा। एका नेमू गणेशाचा। एका सूर्याचा दर्शननेमू॥ ६३॥ एका नेमू तुळशीचा। एका बांधल्या अनंताचा। नित्य नेम ब्राह्मणाचा। सभाग्य तो भाग्याचा दुर्लभ॥ ६४॥ नित्य नेमस्त द्विजपूजा। षोडशोपचार करी वोजा। माझे भक्तीचा तो राजा। आत्मा माझा तो एकू॥ ६५॥ जो देवतांतरा नुपासित। जीवेंभावें ब्राह्मणभक्त। त्याचा चुकवूनियां अनर्थ। निजस्वार्थ मी कर्ता॥ ६६॥ ऐसे जे ब्राह्मणभक्त। त्यांच्या पायीं पृथ्वी पुनीत। गंगा चरणतीर्थ वांछित। शिरीं वंदीत मी त्यांसी॥ ६७॥ त्यांचे सेवेचा सेवक। मोलेंवीण मी झालों देख। ब्राह्मणसेवेचें मज सुख। अलोकिक अनिवार॥ ६८॥ नित्यनेम द्विजपूजा। करी तो आवडे अधोक्षजा। त्यालागीं पसरूनि चारी भुजा। आलिंगनीं माझा जीवू निवे॥ ६९॥ ब्राह्मणांच्या स्नानप्रवाहतळीं। जेणें भावार्थें केली आंघोळी। कोटि अवभृथें पायांतळीं। तेणें तत्काळीं घातलीं॥ १३७०॥ ब्राह्मणचरणतीर्थ देखतां। पळ सुटे दोषदुरिता। तें भावार्थें तीर्थ घेतां। दोष सर्वथा निमाले॥ ७१॥ जो कोणी नित्य नेमस्त। सेवी ब्राह्मणाचें चरणीर्थ। तो स्वयें झाला तीर्थभूत। त्याचेनि पुनीत जड जीव॥ ७२॥ त्या ब्राह्मणाचे ठायीं जाण। अभ्यंगादि सुमन चंदन। आसन भोजन धन धान्य। शक्तिप्रमाण पूजेसी॥ ७३॥ ब्राह्मणासी प्रिय भोजन। दानीं श्रेष्ठ अन्नदान। निपजवूनियां मिष्टान्न। द्यावें भोजन मद्भावें॥ ७४॥ एक हेळसूनि देती अन्न। एक उबगल्यासाठीं जाण। एक देती निर्भर्त्सून। एक वसवसोन घालिती॥ ७५॥ तैसें न करावें आपण। ब्राह्मण माझें स्वरूप जाण। त्यांसी देऊनियां सन्मान। द्यावें भोजन यथाशक्ति॥ ७६॥ अज्ञान अतिथि आल्या समयीं। खोडी काढूं नये त्याच्या ठायीं। तोही माझें स्वरूप पाहीं। अन्न ते समयीं अर्पावें॥ ७७॥ अतिथि जातां पराङ्मुख। त्यासवें जाय पुण्य निःशेख। अन्न द्यावें समयीं आवश्यक। नातरी उदक तरी द्यावें॥ ७८॥ ब्राह्मण बैसवूनि पंक्ती। जे कोणी पंक्तिभेद करिती। ते मोलें पाप विकत घेती। त्यांसी अधोगती निश्चितीं॥ ७९॥ ब्राह्मणसेवेलागीं जाण। काया वाचा मन धन। यथासामर्थ्यें अवंचन। अतिथिपूजन त्या नांव॥ १३८०॥ त्रिपदाजपें पवित्र पूर्ण। यालागीं वेदांचें निवासस्थान। ब्राह्मण माझें स्वरूप जाण। श्रेष्ठ अधिष्ठान पूजेचें॥ ८१॥ ब्राह्मणआज्ञेलागीं जाण। अतिसादर ज्याचें मन। देणें देववणें दान। श्रद्धा संपूर्ण या नांव॥ ८२॥ ब्राह्मणसेवा धनेंवीण। सर्वथा न घडे ऐसें न म्हण। सेवेसी श्रद्धा प्रमाण। उल्हास पूर्ण भजनाचा॥ ८३॥ एकाची शरीरसेवा जाण। एकाचे वाचिक पूजन।

एकाचें मानसिक भजन। दया पूर्ण द्विजाची॥ ८४॥ ब्राह्मणभक्तिलागीं जाण। हर्षनिर्भर अंत:करण। श्रद्धायुक्त उल्हासपूर्ण। आतिथ्य जाण या नांव॥ ८५॥ यापरी ब्राह्मणभजन। तिसरे पूजेचें अधिष्ठान। हें सांगितलें जाण। गोशुश्रूषण तें ऐक॥ ८६॥ जे गायीच्या कैवारा। घायें सहस्त्रबाहो केला पुरा। तीन सप्तकें वसुंधरा। मुख्य धुरा म्यां मारिल्या॥ ८७॥ रामावतारीं अतिमहिमान। तैं न घडेचि गोशुश्रूषण। यालागीं गोकुळीं जाण। गायींचें सेवन म्यां केलें॥ ८८॥ गायीचे सेवें झाली पुष्टी। बाळपणीं मारिले जेठी। कंस चाणूर मारिले हटी। बैसविला राज्यपटीं उग्रसेन॥ ८९॥ गायीचे सेवेची अतिगोडी। तेणें माझी कीर्ति झाली चोखडी। फोडिली कंसाची बांदवडी। तोडिली बेडी पितरांची॥ १३९०॥ यालागीं गायीं आणि ब्राह्मण। माझा जाण जीवप्राण। माझे पूजेचें अधिष्ठान। सुलभ जाण इयें दोन्ही॥ ९१॥ आपत्काळीं गोरक्षण। करी तो पढियंता मज जाण। त्यासवें मी आपण। गोरक्षण करीतसें॥ ९२॥ गायीचे सेवेचें विधान। गोग्रास द्यावा जे तृण। करावें अंगकुरवाळण। इतुकेनि प्रसन्न मी होयें॥ ९३॥ निर्लोभ गायीची सेवा। करितां माझी प्राप्ति उद्धवा। ऐक वैष्णवाची सेवा। पूजा सद्भावा विभागू॥ ९४॥

वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया। वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतै:॥ ४४॥

वैष्णवसेवा अत्यंत कठिण। तेथें जाती नाहीं गा प्रमाण। न म्हणावा शूद्र ब्राह्मण। भक्तिप्राधान्यभावार्थें॥ ९५॥ विदुर दासीपुत्र प्रसिद्धु। त्यासी आवडला गोविंदु। झाला वैष्णवांमाजीं अतिशुद्धु। कैसेनि निंद्यु म्हणावा॥ ९६॥ योनि जन्मला मर्कट। तो वैष्णवांमाजीं अतिश्रेष्ठ। हनुमंत म्हणावया कनिष्ठ। ऐसा पापिष्ठ कोण आहे॥ ९७॥ राक्षसांमाजीं बिभीषण। दैत्यांमाजीं प्रल्हाद जाण। भगवंतासी अनन्यशरण। वैष्णवपण तेणें त्यांसी॥ ९८॥ जाती उत्तम भक्तिहीन। तो वैष्णव नव्हे जाण। अथवा करी दांभिक भजन। वैष्णवपण त्या नाहीं॥ ९९॥ वैष्णवीं मानी जातिप्रमाण। शालिग्राम मानी पाषाण। गुरूसी मानी माणुसपण। तो पापिष्ठ जाण सर्वथा॥ १४००॥ जाणीव शाहणीव ज्ञातेपण। सांडूनि जातीचा अभिमान। जो मज होय अनन्यशरण। वैष्णव जाण तो माझा॥ १॥ त्या वैष्णवाचें पूजन। बाह्य उपचारें नव्हें जाण। बंधस्नेहें कळवळी मन। साचार पूजन त्या नांव॥ २॥ ऐक सख्या बंधूचा स्नेहो। बंधूसी रणीं लागतां घावो। घायाआड स्वयें रिघोनि पहा हो। शत्रुसमुदावो विभांडी॥ ३॥ तैसा पोटाआंतुला कळवळा। तोचि वैष्णवपूजेचा सोहळा। स्नेहेंवीण टिळे माळा। सुख गोपाळा तेणें नव्हे॥ ४॥ एका पितयाचे पुत्र साधू। अकृत्रिम होती बंधू। माजीं सापत्नविरोधू। स्नेह शुद्धु तो नव्हे॥ ५॥ भक्ताअभक्तांची उत्पत्ती। मजपासूनि गा निश्चिती। भावाभावसापत्नप्राप्ती। विरुद्ध स्थिती परस्परें॥ ६॥ वैष्णव विष्णूचे उदरीं जाण। ते उदरीं उदरस्थ व्हावें आपण। तैं सहजें झालें सखेपण। अकृत्रिम जाण कळवळा॥ ७॥ ऐसा बंधुस्नेहें जो कळवळा। तेचि पूजा वैष्णवकुळा। वैष्णवपूजकाजवळा। भावें भुलला मी तिष्ठें॥ ८॥ वैष्णवपूजेचें लक्षण। तें पांचवें माझें पूजास्थान। ऐक आकाशाचें पूजन। केवळ माझें ध्यान ते ठायीं॥ ९॥ आकाश निर्लेप निर्विकार। अतिसूक्ष्म निराकार। तैसें माझें ध्यान निरंतर। हृदयीं साचार करावें॥ १४१०॥ ध्यानीं बैसोनि सावकाश। सगळें सर्व महदाकाश। जो आपुलें करी हृदयाकाश। तेणें मी परेश पूजिला॥ ११॥ अतिसूक्ष्म निर्विकार। हृदयीं माझें ध्यान सधर। तेचि पूजा गा साचार। अपरंपार मी पूजिलों॥ १२॥ आकाशा लेप लावूं जातां। लावितां न लागे सर्वथा। तेवीं

सर्व कर्मीं वर्ततां। आपुली मुक्तता जो देखे॥ १३॥ आकाश सर्व पदार्थीं व्याप्त। व्याप्त असोनि अतिअलिप्त। तेवीं सर्व कर्मीं वर्तत। कर्मातीत नभनिष्ठा॥ १४॥ आकाश माझें पूजास्थान। तेथील पूजेचें हें विधान। हें सहावें पूजाअधिष्ठान। वायूचें अर्चन तें ऐक॥ १५॥ वायूच्या ठायीं भगवद्बुद्धी। ज्याची ढळों नेणें कधीं। वायूचेनि भूतां चेतनसिद्धी। जगातें त्रिशुद्धी धरिता तो॥ १६॥ वायुरूपें मीचि जाण। जालों सर्व भूतांचा प्राण। प्राणाचा मी मुख्य प्राण। मद्रूपें पवन या हेतु॥ १७॥ वायू व्योमीं जन्म पावें। जन्मोनि व्योमावेगळा नव्हे। सर्व कर्मीं तेथेंचि संभवे। अंती स्थिरावे निजव्योमीं॥ १८॥ तेवीं जन्मकर्मनिदान। पावोनि न सांडी अधिष्ठान। प्राणाचा जो होय प्राण। हेंचि पूजन वायूचें॥ १९॥ प्राणाचें गमनागमन। तेथ सोहंहंसाचें नित्य ध्यान। तेंचि करितां नित्य सावधान। हेंचि पूजन वायूचें॥ १४२०॥ मद्रूपें दृढभावन। वायूचें जो करी आपण। तें पवनाचें पूजन। पूजास्थान सातवें॥ २१॥ जीवनें जीवनाची पूजा। जीवनेंचि निपजे वोजा। ते पूजा पावे अधोक्षजा। तो भक्त माझा पढियंता॥ २२॥ 'आपो नारायणः साक्षात्'। या मंत्राचा जो मंत्रार्थ। देवें देवोचि पूजिजेत। जाण निश्चित उद्धवा॥ २३॥ क्षीरें पूजिला क्षीरसागरू। तेवीं द्रव्यें द्रव्योपचारू। हा जीवनपूजाप्रकारू। जाण निर्धारू उद्धवा॥ २४॥ जीवा जीववी जीवन। त्या जीवना मी निजजीवन। जीवनें पूजिजे जीवन। जेवीं समुद्रपूजन तरंगीं॥ २५॥ 'नद्यस्तृप्यंतु समुद्रास्तृप्यंतु'। हें जळेंचि जळ पूजिजेतू। पूज्यपूजकां एकत्व येथू। हेचि वेदोक्तू विधिपूजा॥ २६॥ जीवनें पूजिजे जीवन। हें आठवें पूजास्थान। ऐक पृथ्वीचें पूजन। श्लोकार्धें संपूर्ण सांगेन॥ २७॥

स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि। क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम्॥ ४५॥

जळामाजीं धरा अधर। विरोनि हों पाहे तें नीर। तीमाजीं मी प्रवेशलों धराधर। अधर ते सधर तेणें झाली॥ २८॥ यालागीं पृथ्वी माझें पूजास्थान। ऐक पूजेचें विधान। गोसदृश स्थंडिलीं जाण। आवाहन पैं माझें॥ २९॥ गोसदृश स्थंडिलीं कां म्हणसी। पृथ्वी आहे गायीच्या ऐशी। जैं पूजा करावी पडे तिसी। तैं तदाकारेंसीं स्थंडिल॥ १४३०॥ ते स्थंडिलीं पूजावया धरा। आवाहन करावें धराधरा। तल्लिंग हृदयमंत्रा। मंत्रद्वारा पूजावी॥ ३१॥ हृदय कवच शिखा नेत्र। शक्तिबीज मंत्रास्त्र। स्थंडिलीं रेखूनियां यंत्र। धराधरमहापूजा॥ ३२॥ यापरी पृथ्वीपूजन। साङ्ग सांगीतलें जाण। आपुलें आपण पूजास्थान। दहावें लक्षण तें ऐक॥ ३३॥ आधीं एक पुढें पूर्ण। त्या नांव दहावें लक्षण। आपलें आपण पूजास्थान। विचित्र विंदान पूजेचें॥ ३४॥ पूज्यापुढें पूज्यकोटी। केल्या गणितासी पडे तुटी। पहिल्या पूज्यासी जैं फांटा उठी। तैं गणितसृष्टि असंख्य॥ ३५॥ पूर्णासी फांटा काढिजे। त्या नांव एक म्हणिजे। एकपणेंही पूर्ण असिजे। सहज निजें परिपूर्ण॥ ३६॥ पूर्णापुढें पूर्ण पडे। तैं गणित काय आतुडे। जैं निचाडा चाड वाढे। तैं निजनिवाडें निजपूजा॥ ३७॥ एकासी एक मेळविजे। तैं दोनीपणें होय दुजें। जैं एकें एक भोगिजे। तैं देखिजे निजपूज्यत्व॥ ३८॥ आपणचि आपला देवो। आपुला पूजक आपण पहा हो। आपुला आपणचि भावो। नवल नवलावो पूजेचा॥ ३९॥ हृदयीं भावूनि चैतन्यघन। स्वयें तद्रूप होऊनि जाण। मग जे जे भोग भोगी आपण। ब्रह्मार्पण सहजेंचि॥ १४४०॥ तो ग्रास घाली स्वमुखीं। तेणें मुखें मी होय सुखी। तृप्ति उपजे परमपुरुखीं। पूजा नेटकी हे माझी॥ ४१॥ तो जे जे कांहीं भोग भोगी। ते अर्पती मजचिलागीं। मी रंगलों त्याचे रंगीं। पावे श्रीरंगीं ते

पूजा॥४२॥ मुख्य पूजेमाजीं हे माझी पूजा। तेणेंचि पूजिलें मज अतिवोजा। पूजामिसें गरुडध्वजा। वश अधोक्षजा तेणें केलें॥४३॥ हे आवडती माझी पूजा। अत्यंत प्रिय अधोक्षजा। हे भक्ति पढिये गरुडध्वजा। जाण तो माझा प्रिय भक्त॥४४॥ हो कां सगुण अथवा निर्गुण। दोहीं रूपें मीचि जाण। तेथ जो करी निजभोग अर्पण। शुद्ध पूजन तें माझें॥४५॥ निजात्मभोगीं अधोक्षजा। पूजिजे ते हे जाण पूजा। सर्व भूतांतें पूजिजे वोजा। समसाम्य समजा समभावें॥४६॥ अकरावे पूजेचा विवेक। मागां पुढां एकएक। अकरा इंद्रियां पडे आंख। तोचि पूजक सर्व भूतां॥४७॥ मागां पुढां एकएक कीजे। त्या नांव एकादश म्हणिजे। हाचि विवेक जेणें जाणिजे। तेणें पूजिजे सर्व भूतां॥४८॥ आत्मभोगसमर्पणें पाहीं। वस्तू जाणितली स्वदेहीं। तेचि सर्व भूतांच्या ठायीं। देहींविदेहीं समसाम्यें॥४९॥ सर्व क्षेत्रांतें वागविता। मी क्षेत्रज्ञु जाण तत्त्वतां। देखतांही विषम भूतां। ज्यासी माझी ममता मोडेना॥१४५०॥ उंच नीच विषमता भूतां। वस्तूसी न देखे विषमता। समसाम्यें समान समता। सर्व भूतां समत्वें॥५१॥ माझिया साम्यें सर्वसमता। तेचि पूजा सर्व भूतां। तोचि पूजक तत्त्वतां। ज्यासी विषमता बाधीना॥५२॥ जो भावार्थें मजमाजीं आला। तैं सर्व भूतें तोचि झाला। सहजे समत्व पावला। पूजूं लागला आत्मत्वें॥५३॥ पूजूं जावो रंक रावो। परी पालटेना समभावो। न खंडितां समतेचा ठावो। यथायोग्य पहा हो पूजित॥५४॥ ऐक यदुवंशध्वजा। सर्व भूतीं माझी पूजा। माझेनि समत्वें निपजे वोजा। या अकराही पूजा समत्वें॥५५॥ इयें अकराही अधिष्ठानें। मत्प्राप्तिकरें अतिपावनें। म्यां सांगीतलेनि अनुसंधानें। पूजा करणें यथाविधि॥५६॥ म्यां सांगीतलें ज्या निगुतीं। पूजा करावी त्याचि स्थिती। न कळे तरी माझी मूर्ती। सर्वांहीप्रती चिंतावी॥५७॥

धिष्ण्येष्वेष्विति मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः। युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत्समाहितः॥४६॥

निर्गुणाहूनि सगुण न्यून। म्हणे तो केवळ मूर्ख जाण। सगुण निर्गुण दोनी समान। न्यून पूर्ण असेना॥५८॥ विघुरलें तें तूप होये। थिजलें त्यापरीस गोड आहे। निर्गुणापरिस सगुणीं पाहें। अतिलवलाहें स्वानंदू॥५९॥ निर्गुणाचा बोध कठिण। मनबुद्धिवाचे अगम्य जाण। शास्त्रांसी न कळे उणखूण। वेदीं मौन धरियेलें॥१४६०॥ वारा उमाणावा वावें। आकाश आकळावें खेंवें। भावना भांबावली धांवे। काय करावें स्फुरेना॥६१॥ तैशी सगुण मूर्ति नव्हे जाण। सुलभ आणि सुलक्षण। देखतां जाय भूकतहान। निवताहे मन सप्रेमें॥६२॥ जो नित्यसिद्ध सच्चिदानंदू। प्रकृतिपरू परमानंदू। सगुण जाला जी गोविंदू। स्वानंदकंदू स्वलीळा॥६३॥ साखरेची गोडी वाखाणिली। तिची नाबदेची भेली केली। गोडिये अधिक शोभा आली। तैशी मूर्ति झाली साकार॥६४॥ लावूनियां कसवटी। उत्तम सुवर्णाची खोटी। बांधल्या नववधूच्या कंठीं। तेणें ते गोमटी दिसे काय॥६५॥ त्याचींच करूनियां भूषणें। अंगीं प्रत्यंगीं लेवितां लेणें। नववधू अत्यंत शोभली तेणें। निंबलोणें उतरिती॥६६॥ तैसें जें निर्गुण निर्विकार। त्याची सगुणमूर्ति सुकुमार। चिन्मात्रैक अतिसुंदर। मनोहर स्वलीला॥६७॥ घवघवित घनसांवळा। मुकुट कुंडलें मेखळा। कंठीं कौस्तुभ वनमाळा। सोनसळा झळकत॥६८॥ आधींच तो अतिसांवळा। वरी टिळक रेखिला पिंवळा। आरक्तप्रांत दोहीं डोळां। कमळदळां लाजवी॥६९॥ चिन्मात्रींचें देखणेपण। त्या डोळ्यां आलें शरण। सैराट हिंडतां शिणला पवन। हरीचें घ्राण ठाकिलें॥१४७०॥ जैशा ओंकारामाजीं श्रुती। तैशा मुखामाजीं दंतपंक्ती।

चौकीचे चारी झळकती। सच्चिद्दीप्तीं सोलींव॥७१॥ जेवीं जीव शिव भिन्नपणीं। तेवीं अध ऊर्ध्व अधर दोन्ही। हरिअंगीं मिनले मिळणीं। समानपणीं समत्वें॥७२॥ देखोनियां कृष्णवदन। चंद्रमा कृष्णपक्षीं क्षीण। तो तंव पूर्णिमेसी पूर्ण। हा सदा संपूर्ण वदनेंदू॥७३॥ दिवसा चंद्राची क्षीण प्रभा। वदनेंदूची नवलशोभा। लोपोनि चंद्रसूर्यप्रभा। स्वयें स्वयंभा प्रकाश॥७४॥ तो आर्तचकोरा अमृतपान। मुमुक्षुचातका स्वानंदघन। सगुणपणें नारायण। भूषणां भूषण तो झाला॥७५॥ चहूं खाणींच्या क्रिया विविधा। तैशा चहूं भुजींच्या चारी आयुधां। सगुण देखोनि गोविंदा। वेद निजबोधा आयुधें झाले॥७६॥ देवो न कळे श्रुतींसी। लाज आली होती वेदांसी। जगीं मिरवावया प्रतापासी। आयुधें हरीपासीं ते झाले॥७७॥ सामवेद झाला शंख। यजुर्वेद चक्र देख। अथर्वण गदा तिख। कमळ साजुक ऋग्वेदू॥७८॥ साकारपणें सच्चिदानंदा। शंख चक्र पद्म गदा। चहूं करीं चहूं वेदां। निववी सदा निजांगें॥७९॥ जगीं मिरवावया उपनिषदें। झालीं बाहुभूषणें अंगदें। करीं कंकणें अतिशुद्धें। सोहं शब्दें रुणझुणती॥१४८०॥ नख केश अंगुलिका। कराग्रीं जडित मुद्रिका। त्रिकोण षट्कोणिया देखा। उपासकां विधिपीठ॥८१॥ अगम्य तेज हृदयींच्या पदका। गुणत्रिवळी उदरीं देखा। मध्यें कळसू नेटका। क्षुद्रघंटिका मेखळे॥८२॥ कांतीव मरकतस्तंभ जाण। तैसे शोभताती दोन्ही चरण। ते केवळ अचेतन। हे सचेतन हरिअंगीं॥८३॥ ध्वज वज्र अंकुश ऊर्ध्वरेखा। दोन्ही पायीं पद्में देखा। यवांकित सामुद्रिका। अतिनेटका पदबंधू॥८४॥ आरक्त रंग चरणतळां। वरील घनसांवळी कळा। नभीं इंद्रधनुष्यमेळा। तैसी लीळा हरिचरणीं॥८५॥ सगुण देखोनियां जगन्नायका। दशदिशांसी चरणीं आवांका। पावावया निजसुखा। दशांगुलिका होऊनि ठेल्या॥८६॥ चंद्र कृष्णपक्षीं क्षीण। तेणें ठाकिले हरिचरण। नखीं चंद्र जडोनियां जाण। परम पावन तो झाला॥८७॥ हें जाणोनि त्रिनयनें। चंद्रमा मस्तकीं धरणें। पायवणी माथां वाहणें। जग उद्धरणें तेणें जळें॥८८॥ सगुण देवो देखोनि पाहीं। चारी मुक्ति लागल्या पायीं। यालागीं संत चरणांच्या ठायीं। तत्पर पाहीं सर्वदा॥८९॥ सलोकता समीपता। दोहीं पायीं वांकी गर्जतां। अंदू झाली स्वरूपता। सायुज्यता तोडरू॥१४९०॥ ज्या तोडराचा धाक पाहीं। अहंगर्वित असुर वाहती देहीं। सर्व सुख तें हरीच्या ठायीं। त्यांच्या पायीं समाधी॥९१॥ धैर्य वीर्य उदारकीर्ती। गुणगांभीर्य शौर्य ख्याती। यांसी कारण माझी सगुण मूर्ती। जाण निश्चितीं उद्धवा॥९२॥ माझे ये मुर्तीचेनि दर्शनें। होत डोळ्यां पारणें। जन्ममरणांचें उठवी धरणें। खत फाडणें विषयांचे॥९३॥ माझी मूर्ति देखिल्यापाठीं। न लगे योगयाग आटाआटी। न लगे रिघावें गिरिकपाटीं। नाना संकटीं न पडावें॥९४॥ न लगे आसन भोजन। न लगे समाधिसाधन। माझिये प्राप्तीसी कारण। माझी भक्ति जाण उद्धवा॥९५॥ एकादश पूजाअधिष्ठान। तेथें माझें करोनि आव्हान। म्यां सांगीतलें मूर्तीचें ध्यान। सावधान करावें॥९६॥ माझें अर्चन माझें ध्यान। माझें करावें कीर्तन। माझ्या नामाचे स्मरण। माझे गुण वर्णावे॥९७॥ अहर्निशीं माझी कथा। अहर्निशीं माझी वार्ता। अहर्निशीं मातें ध्यातां। भक्ति तत्त्वतां ती नांव॥९८॥ दीपकळिका हातीं चढे। तैं घरभरी प्रकाशू सांपडे। माझी मूर्ती जैं ध्यानी जडे। तैं चैतन्य आतुडे अवघेंचि॥९९॥ या उपपत्ति उद्धवा देख। सगुण निर्गुण दोन्ही एक। जाण पां निश्चयो निष्टंक। सच्चिदानंदसुख समत्वें॥१५००॥ जो कसू सुवर्णाचिये खोटीं। तोचि वाला एका कसवटीं। सगुणनिर्गुणपरिपाटीं। नाहीं तुटी चित्सुखा॥१॥ तेवीं सगुण निर्गुण निःशेष। जाण निश्चयें दोन्ही

एक। सगळें साखरेचें टेंक। ना नवटांक सम गोडी॥ २॥ हें अंतरंग माझें ध्यान। तेथें मन करोनि सावधान। अतिहर्षें मदर्चन। मद्भक्तीं जाण करावें॥ ३॥ उद्धवा ऐसें म्हणसी मनीं। हे भक्ति पाविजे कैसेनि। हें साध्य होय जिंहीं साधनीं। तें तुजलागोनी सांगेन॥ ४॥

इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहित:। लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृति: साधुसेवया॥ ४७॥

करितां नाना योगयाग। वापी कूप वन तडाग। श्रौतस्मार्त कर्में चांग। मदर्पणें साङ्ग जिंहीं केलीं॥ ५॥ श्रौत अग्निहोत्र सोमयाग। स्मार्त वापी कूप तडाग। मज नार्पितां दोन्ही व्यंग। सत्कर्म साङ्ग मदर्पणें॥ ६॥ कर्म करितां मदर्पण। अवचटें फळ वांच्छी मन। इतुकियासाठी भक्तासी विघ्न। सर्वथा मी जाण येवों नेदीं॥ ७॥ सकाम कर्मकर्त्यासी। जे प्राप्ति नव्हे अतिप्रयासीं। त्या उत्तमलोकगतिभोगांसी। मद्भक्तांसी मी देता॥ ८॥ पोटांतूनि माझा भक्तू। दिव्य भोगांसी विरक्तू। ते भोग भोगितां मातें स्मरतू॥ भोगासक्तू तो नव्हे॥ ९॥ साधु देवालया जातां। पर्जन्यें पीडिला धारावर्तां। वेश्यागृहासी नेणतां। आला अवचितां वोसरिया॥ १५१०॥ तो बसोनि वेश्येसी नातळे। तेवीं भक्त दिव्य भोगांसी कांटाळे। ठकलों म्हणे अनुतापबळें। पिटूनि कपाळें हरि स्मरे॥ ११॥ ऐशिया अनुतापस्थितीं। तत्काळ भोग क्षया जाती। तो जन्म पावे महामती। माझी भक्ती जिये गृहीं॥ १२॥ त्यासी पूर्वसंस्कारस्थितीं। सकळ विषयांची विरक्ती। उपजतचि लागे भक्तिपंथीं। भक्त आवडती जीवेंप्राणें॥ १३॥ तो मुक्तीतें हाणोनि लातें। निजसर्वस्वें भजे मातें। यापरी मी निजभक्तातें। नेदीं विघ्नातें आतळूं॥ १४॥ यापरी ज्यांस विषयविरक्ती। तेही इष्टापूर्त जैं करिती। योग याग त्याग जैं साधिती। माझी भक्ती तैं उपजे॥ १५॥ समाहित करोनि मन। श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठान। योग याग त्याग साधन। निष्ठेनें जाण जैं करिती॥ १६॥ तेणें शोधित होय चितवृत्ती। झालिया चित्तशुद्धीची प्राप्ती। तैं उपजे माझी सद्भक्ती। जाण निश्चितीं उद्धवा॥ १७॥ इतुकी न करितां आटाटी। माझे सद्भक्तीची होय भेटी। हें अतिगुह्य आहे माझे पोटीं। ते तुज मी गोठी सांगेन॥ १८॥ सांडोनि सकळ साधन। जो करी साधुभजन। तेव्हांचि त्याचें शुद्ध मन। सत्य जाण उद्धवा॥ १९॥ म्हणसी साधु तो कैसा कोण। मागां सांगीतलें लक्षण। बहु बोलावया नाहीं कारण। साधु तो जाण सद्गुरु॥ १५२०॥ त्या सद्गुरूचें भजन। जो भावार्थें करी आपण। सर्व शुद्धीचें कारण। सद्गुरु जाण सर्वांशीं॥ २१॥ ज्याचे मुखींचें वचन। ब्रह्मसाक्षात्कारा पाववी जाण। त्याचे सेवितां श्रीचरण। शुद्ध कोण होईना॥ २०॥ गुरुनाम घेतां मुखें। कळिकाळ पाहूं न शके। त्याची सेवा करितां हरिखें। पायां मोक्षसुखें लागती॥ २३॥ ज्यासी सद्गुरूची आवडी चित्तीं। ज्याची सद्गुरुभजनीं अतिप्रीती। त्यासी भाळली माझी सद्भक्ती। पाठीं लागे निश्चितीं वरावया॥ २४॥ जो गुरुभजनीं भावार्थी। जगामाजीं तोचि स्वार्थी। त्यापाशीं माझी सद्भक्ती। असे तिष्ठती आंखिली॥ २५॥ सद्भक्ति बापुडी कायसी। अंगें मीही अहर्निशीं। तिष्ठतसें स्वानंदेंसीं। गुरुप्रेमासी भूललों॥ २६॥ मज माझ्या भक्तांची थोडी गोडी। परी गुरु भक्तांची अतिआवडी। सत्संगेंवीण रोकडी। सद्भक्ति चोखडी न पविजे॥ २७॥

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव। नोपायो विद्यते सम्यङ् प्रायणं हि सतामहम्॥ ४८॥

माझिये प्राप्तीलागुनी। भक्ति-ज्ञानमार्ग दोन्ही। ज्ञान अत्यंत कठिणपणीं। भक्ति निर्विघ्नीं पाववी मज॥ २८॥ संसार तरावयालागीं। अनेक साधनें अनेगीं। बोलिलीं तीं जाण वाउगीं। उत्तम प्रयोगीं मद्भक्ती॥ २९॥ उपायांमाजीं अतिप्रांजळ। निर्विघ्न आणि नित्य निर्मळ। माझा भक्तिमार्ग

केवळ। ज्ञान तें विकळ मध्यपाती॥ १५३०॥ मळा शिंपावयालागुनी। मोट पाट उपाय दोन्ही। मोटां काढिजे विहीरवणी। बहुत कष्टोनी अतिअल्प॥ ३१॥ मोट नाडा बैलजोडी। अखंड झोडितां आसुडीं। येतां जातां वोढावोढी। भोय भिजे थोडी भाग एक॥ ३२॥ तेथही मोट फुटे कां नाडा तुटे। वोडव पडे बैल अवचटे। तरी हातां येतां पीक आटे। वोल तुटे तत्काळ॥ ३३॥ तैसा नव्हे सरितेचा पाट। एक वेळ केल्या वाट। अहर्निशीं घडघडाट। चालती लोट जीवनाचे॥ ३४॥ मोटेचें पाणी तैसें ज्ञान। करूनि वेदशास्त्रपठण। नित्यानित्य विवेकासी जाण। पंडित विचक्षण बैसती॥ ३५॥ एक कर्माकडे वोढी। एक संन्यासाकडे बोडी। एक म्हणती हे गोष्टी कुडी। देहो वोढावोढीं न घालावा॥ ३६॥ एक म्हणती प्रारब्ध प्रमाण। एक म्हणती सत्य शब्दज्ञान। एक म्हणती धरावें मौन। अतिजल्पन न करावें॥ ३७॥ एक म्हणती सांडावी व्युत्पत्ती। ज्याची चढे अधिक युक्ती। तोचि ज्ञाता निश्चितीं। सांगों किती मूर्खांसी॥ ३८॥ एक म्हणती तप प्रमाण। एक म्हणती पुरश्चरण। एक म्हणती वेदाध्ययन। द्यावें दान एक म्हणती॥ ३९॥ एक तो हें अवघेंचि मोडी। घाली योगाचिये कडाडीं। लावी आसनमुद्रेची वोढी। बैसवी रोकडी वारयावरी॥ १५४०॥ ऐसे नाना वाद करितां। एक निश्चयो नव्हे सर्वथा। ज्ञानाभिमान अतिपंडितां। ज्ञान तत्त्वतां कळेना॥ ४१॥ ऐसी ज्ञानमार्गींची गती। नाना परींचीं विघ्नें येती। विकल्पें नासल्या व्युत्पत्ती। माझी निजप्राप्ती तेथें नाहीं॥ ४२॥ तैसी नव्हे माझी भक्ती। नाममात्रें मज पावती। नामें उद्धरले नेणों किती। हेंचि भागवतीं बोलिलें॥ ४३॥ माझें करितां गुणवर्णन। कां हरिकथा नामसंकीर्तन। तेथें रिघों न शके विघ्न। गडगर्जन हरिनामें॥ ४४॥ जेथें हरिनामाचे पवाडे। तेथें विघ्न कैंचें बापुडे। विघ्न पळे मद्भक्तांपुढें। उघडती कवाडें मोक्षाचीं॥ ४५॥ माझे भक्त अतिनिराश। न धरिती मोक्षाची आस। यालागीं मी हृषीकेश। त्यांच्या भावार्थास भूललों॥ ४६॥ एवं निर्विघ्न मजमाजीं सरता। मार्ग नाहीं भक्तिपरता। त्रिसत्य सत्य गा सर्वथा। भक्ति तत्त्वतां मज पढिये॥ ४७॥ ऐशी निजभक्ति सुलभ फुडी। देवो सांगे अतिआवडीं। उद्धवासी हरिभक्तीची गोडी। हर्षाची गुढी उभारिली तेणें॥ ४८॥ जें उद्धवाच्या जीवीं होतें। तेंचि निरूपिलें श्रीअनंतें। हरिखें नाचों लागला तेथें। जीवें श्रीकृष्णातें वोवाळी॥ ४९॥ ऐशी तुझी सुलभ भक्ति। तरी अवघेचि भक्ति कां न करिती। देवो म्हणे भाग्येंवीण माझी भक्ति। न घडे निश्चितीं उद्धवा॥ १५५०॥ कोटि जन्मांची पुण्यसंपत्ती। जरी गांठीं असेल आइती। तैं जोडे माझ्या संतांची संगती। सत्संगें भक्ती उल्हासे॥ ५१॥ सत्संगें भक्तीची प्राप्ती। उद्धवा जाण तू निश्चितीं। संतांपाशीं माझी भक्ती। वास पाहती उभी असे॥ ५२॥ हो कां तूं संत माझे म्हणसी। येर लोक सांडिले कोणापाशीं। तुझी भक्ति अहर्निशीं। संतांपाशीं कां असे॥ ५३॥ उद्धवा ऐसा विकल्पभावो। येथें धरावया नाहीं ठावो। संतभजनीं माझा सद्भावो। केवा कोण पाहावो भक्तीचा॥ ५४॥ संतसेवा करावयासी। कोण कारण तूं मज म्हणसी। अनावरा मज अनंतासी। तिंहीं निजभावेंसी आकळिलें॥ ५५॥ मज आकळिलें ज्या हेतू। तेही सांगेन तुज मातू। मजवांचूनि जगाआंतू। दुसरा अर्थू नेणती॥ ५६॥ आपुलें जें स्वकर्म। मज अर्पिले सर्व धर्म। देह गेह रूप नाम। आश्रमधर्म मदर्पण॥ ५७॥ कल्पांतींचेनि कडकडाटें। जैं धाके धाके विराट आटे। ऐसीं वोढवल्या अचाटें। मजवेगळे नेटें न ढळती॥ ५८॥ तुटोनि पडतां आकाश। आणिकाची ते न पाहती वास। यालागीं मी हृषीकेश। त्यांचा दास झालों असें॥ ५९॥ नवल

भावार्थाचा महिमा। मज विश्वात्म्याचे झाले ते आत्मा। ऐसें लाहाणें तयां आम्हां। मज पुरुषोत्तमा वश केलें॥ १५६०॥ संतांसीं मज भिन्नपण। कल्पांतींही नाहीं जाण। तुज जिव्हारींची उणखूण। तुज संपूर्ण सांगीतली॥ ६१॥ संत माझे झाले माझ्या भक्तीं। येर लोक मज न भजती। ते म्यां दिधले काळाच्या हातीं। अदृष्टगतीं बांधोनी॥ ६२॥ माझिया संतांपाशीं। यावया प्राप्ती नाहीं काळासी। मी सदा संरक्षिता त्यांसी। ते कळिकाळासी नागवती॥ ६३॥ यापरी संतांचें सर्व काज। करितां मज नाहीं लाज। उद्धवा माझें अत्यंत निजगुज। तें मी तुज सांगेन॥ ६४॥

अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन। सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखा॥ ४९॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

ऐकें यदुवंशकुळटिळका। तूं स्वगोत्र भृत्य सुहृद सखा। तुज न सांगिजे हा आवांका। सर्वथा देखा न धरवे॥ ६५॥ मज गुप्ताचें गुप्त सार। साराचें गुप्त भांडार। ते भांडारींचें निज सार। तुज मी साचार सांगेन॥ ६६॥ ऐसें गुह्याचें गुह्य निश्चितीं। नाहीं सांगीतलें कोणाप्रती। तूं सखा जिवलग सांगाती। अनन्य प्रीती मजलागीं॥ ६७॥ केवळ कोरडी नव्हे प्रीती। तैसीच माझी अनन्यभक्ती। भक्तीसारिखी विरक्ती। अवंचक स्थिती तुजपाशीं॥ ६८॥ यादववंशीं पाहतां देख। मजसमान तूंचि एक। समान सगोत्र आणि सेवक। हें अलोकिक उद्धवा॥ ६९॥ नव्हेसी कार्यार्थी सेवक। सर्वभावें विश्वासुक। किती वाणूं गुण एकएक। परम हरिख मज झाला॥ १५७०॥ यालागीं गुह्य तेंही तुझ्या ठायीं। वंचावया मज धीरु नाहीं। हृदय आलिंगिलें हृदयीं। चिदानंदू पाहीं तुष्टला॥ ७१॥ मग म्हणे सावधान। सादर आइक माझें वचन। तुज फावल्या माझें गुह्य ज्ञान। वंशउद्धरण तुझेनि॥ ७२॥ जे वंशीं होय ब्रह्मज्ञानी। तो वंश पवित्र त्याचेनी। हे सत्य जाण माझी वाणी। विकल्प मनीं न धरावा॥ ७३। म्हणसी स्वयें तूं ब्रह्म पूर्ण। वंशीं अवतरलासी नारायण। तेणें वंश उद्धरला जाण। माझें ज्ञान तें किती॥ ७४॥ तरी नाम रूप जाति गोत। या अवघ्यांसी मी अलिप्त। सकळ कुळेंसीं मी कुळवंत। गोत समस्त जग माझें॥ ७५॥ ऐसें म्हणोनि निजगुह्यसार। तुज मी सांगेन साचार। तेणें होईल जगाचा उद्धार। ऐसें शार्ङ्गधर बोलिला॥ ७६॥ तें ऐकावया गुह्य ज्ञान। उद्धवें मनाचे उघडिले कान। सावध पाहतां हरीचें वदन। नयनीं नयन विगुंतले॥ ७७॥ यापरी उद्धव सावधान। त्यासी कृष्ण सांगेल गुह्य ज्ञान। पुढीले अध्यायीं अतिगहन। रसाळ निरूपण हरीचें॥ ७८॥ एका विनवी जनार्दन। संतीं मज द्यावें अवधान। श्रोतीं व्हावें सावधान। मस्तकीं चरण वंदिले॥ ७९॥ तुमचेनि पदप्रसादें। श्रीभागवतींचीं श्लोकपदें। वाखाणीन अर्थावबोधें। संत स्वानंदें तुष्टलिया॥ १५८०॥ यालागीं एका शरण जनार्दनीं। तंव जनार्दनचि एकपणीं। जेवीं कां सागरींचें पाणी। तरंगपणीं विराजे॥ १५८१॥

*इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कंधे एकाकारटीकायां श्रीकृष्णोद्धवसंवादे एकादशपूजाविधानयोगो नाम एकादशोऽध्यायः॥ ११॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु॥ मूळश्लोक॥ ४९॥ ओव्या १५८१॥*

॥ श्रीः ॥

॥ ॐ तत्सत्-श्रीकृष्ण प्रसन्न ॥

# श्रीएकनाथी भागवत

## अध्याय बारावा

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ ॐ नमो सद्गुरु वसंतू। ऐक्यकाळीं तुझा ऋतू। तया ऋतुकाळींचा मारुतू। ज्ञानवनांतू जैं रिघे ॥ १ ॥ तैं अविद्येचीं जुनीं पानें। गळूनि जाती तत्क्षणें। नवपल्लवीं विराजमानें। विरक्तपणें आरक्त ॥ २ ॥ अत्यंत वैराग्याची हांव। खांकर झाले वृक्ष सर्व। त्यांसी निघाले नवपल्लव। अतिलवलव कोंवळिक ॥ ३ ॥ जाहल्या वसंताचें रिगवणें। वृक्ष आडवे फुटले तेणें। सोहंभावाचीं सुमनें। तेणें गुणें विकासलीं ॥ ४ ॥ कृष्णसारूप्यें कृष्णभ्रमर। तेथें झेपावले अतिसत्वर। आमोद सेविती अरुवार। कैसेनि केसर कुचंबे ॥ ५ ॥ सद्भावाच्या आमोदधारा। सेवितां सुख झालें भ्रमरां। हृदयकमळीं केला थारा। मध्यमद्वारा चालिले ॥ ६ ॥ भेदोनियां साही कमळें। द्विदळादि षोडशदळें। झेपावले मळयानिळें। सहस्त्रदळीं मिसळले ॥ ७ ॥ तेथ सेवूनि पराग धवळ। उन्मत्त मातलें अळिकुळ। करिती आनंदाचा गोंधळ। सुखकल्लोळ स्वानंदें ॥ ८ ॥ लागला अनुहताचा ध्वनी। रुणझुणिती दशलक्षणीं। त्याही नादातें प्राशुनी। निःशब्दपणीं निवांत ॥ ९ ॥ तेथें मोक्षसुखाचे घड। डोलतां दिसे अतिगोड। तेणें जीवाचें पुरत कोड। करिती धुमाड सोहंशब्दें ॥ १० ॥ मुमुक्षुमयूर अतिप्रीतीं। पिच्छें पसरूनि नाचती। येऊन वसंतवनाप्रती। टाहो फोडिती गुरुनामें ॥ ११ ॥ नेमस्त कोकिळां होतें मौन। वसंतऋतुराज देखोन। तिंहीं करोनि विसर्जन। मधुरस्तवनें गर्जती ॥ १२ ॥ भक्तिसरोवरीं निर्मळ पाणी। विकासल्या नवविध कमळिणी। भक्त सुस्नात तिये स्थानीं। निमज्जनीं निश्चळ ॥ १३ ॥ ते सरोवरींचें सेवितां पाणी। जीवशिव चक्रवाकें दोनी। सद्गुरुचिद्भानु वसंतवनीं। देखोनि मिळणीं मिळालीं ॥ १४ ॥ वसंतें उल्हास तरुवरां। उलोनि लागल्या स्वानंदधारा। पारंब्या भेदूनियां धरा। धराधरा विगुंतल्या ॥ १५ ॥ बोधमलयानिळ झळकत। तेणें वनश्री मघमघित। मोक्षमार्गीचे पांथिक तेथ। निजीं निजत निजरूपें ॥ १६ ॥ ऐसा सद्गुरु वसंतरावो। निजभक्तवना दे उत्सावो। तो भागवतभजनअध्यावो। उद्धवासी देवो सांगत ॥ १७ ॥ बारावे अध्यायीं निरूपण। सत्संगाचा महिमा गहन। कर्माचा कर्ता तेथ कोण। त्यागितें लक्षण कर्माचें ॥ १८ ॥ संपतां अकरावा अध्यावो। गुह्य सांगेन म्हणे देवो। तें परिसावया उद्धवो। न्याहाळी पहा हो हरिवदन ॥ १९ ॥ काय सांगेल गुह्य गोष्टी। कोण अक्षरें निघती ओंठीं। त्या वचनार्था घालावया मिठी। उल्हास पोटीं उद्धवा ॥ २० ॥ जैसें मेघमुखींचें उदक। वरच्यावरी झेली चातक। तैसें कृष्णवचनालागीं देख। पसरिलें मुख उद्धवें ॥ २१ ॥ स्नान संध्या भोजन। आवडे या एकें काळें जाण। तैसें ज्ञेय ज्ञाता ज्ञान। घ्यावया सावधान उद्धव ॥ २२ ॥ ऐसा उद्धवाचा आदरू। देखोनि हरि झाला सादरू। भक्तकृपाळू अतिउदारू। निजगुह्यसारू सांगत ॥ २३ ॥

श्रीभगवानुवाच— न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥ १॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः। यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गपहो हि माम्॥ २॥

मज वश करावयालागीं। सामर्थ्य नाहीं अष्टांगयोगीं। नित्यानित्यविवेक जगीं। आंगोवांगी मज न पवे॥ २४॥ प्रकृतिपुरुषविवंचना। अखंड आलोडितां मना। पावावया माझिया स्थाना। सामर्थ्य जाणा त्या नाहीं॥ २५॥ धर्म अहिंसादिसहित। सत्य त्यांचेनि मी नव्हें प्राप्त। मुख्य वेदाध्ययनेंही मी अप्राप्त। साङ्ग समस्त जरी पढिले॥ २६॥ तेथ तपें कायसीं बापुडीं। पंचाग्नि असार परवडी। कृच्छ्रचांद्रायणें झालीं वेडीं। त्यांचे जोडी मी न जोडें॥ २७॥ देहगेह सांडूनि उदास। विरजाहोमीं हवी सर्वस्व। साधनीं अतिश्रेष्ठ संन्यास। त्यासी मी परेश नातुडें॥ २८॥ करितां श्रौतस्मार्तकर्मांसी। कर्मठें झालीं पानपिसीं। तरी मी नाकळें त्यांसी। क्लेश होमेंसीं कष्टतां॥ २९॥ गोदान भूदान तिलदान। दान देतां धनधान्य। त्यांसीं मी नाटोपें जाण। दानाभिमान न वचतां॥ ३०॥ संकटचतुर्थी ऋषिपंचमी। विष्णुपंचक बुधाष्टमी। अनेक व्रतें करितां नेमीं। ते मी कर्मीं नातुडें॥ ३१॥ अश्वमेध राजसूययाग। सर्वस्व वेंचूनि करितां साङ्ग। माझे प्राप्तीसी नव्हतीचि चांग। तेणें मी श्रीरंग नाटोपें॥ ३२॥ हो कां वापी कूप आराम। वृक्षारोपण वनविश्राम। आचरतां स्मार्तकर्म। मी आत्माराम न भेटें॥ ३३॥ नाना छंद रहस्यमंत्र। विधिविधान अतिविचित्र। सामर्थ्यें अतिविशेष पवित्र। नव्हती स्वतंत्र मत्प्राप्ती॥ ३४॥ पुष्करादि नाना तीर्थें। पापनिर्दळणीं अतिसमर्थें। शीघ्र पावावया मातें। सामर्थ्य त्यांतें असेना॥ ३५॥ यमनियम अहर्निशीं। जे सदा शिणती साधनेंसीं। ते यावया माझ्या द्वारासी। सामर्थ्य त्यांसी असेना॥ ३६॥ उद्धवा यमनियमनिर्धार। एकुणिसावे अध्यायीं सविस्तर। तुज मी सांगेन साचार। संक्षेपाकार बारावा॥ ३७॥ ते यमनियम बारा बारा। आणि सकळ साधनसंभारा। यावया माझिया नगरा। मार्गु पुढारा चालेना॥ ३८॥ ते गेलिया संतांच्या दारा। धरूनि साधूच्या आधारा। अवघी आलीं माझ्या घरा। एवं परंपरा मत्प्राप्ती॥ ३९॥ तैशी नव्हे सत्संगती। संगें सकळ संगांतें छेदिती। ठाकठोक माझी प्राप्ती। पंगिस्त नव्हती आणिकांचे॥ ४०॥ किडी भिंगुरटीच्या संगतीं। पालटली स्वदेहस्थिती। तेवीं धरिलिया संतांची संगती। भक्त पालटती मद्रूपें॥ ४१॥ केवळ पाहें पां जडमूढें। चंदनासभोंवतीं झाडें। तीं सुगंध होऊनि लांकडें। मोल गाढें पावलीं॥ ४२॥ तीं अचेतन काष्ठें सर्वथा। चढलीं देवब्राह्मणांचे माथां। त्यांचा पांग पडे श्रीमंता। राजे तत्त्वतां वंदिती॥ ४३॥ तैशी धरिल्या सत्संगती। भक्त माझी पदवी पावती। शेखीं मजही पूज्य होती। सांगों किती महिमान॥ ४४॥ संतसंगतीवेगळें जाण। तत्काळ पावावया माझें स्थान। आणिक नाहींच साधन। सत्य जाण उद्धवा॥ ४५॥ मागां बोलिलीं जीं साधनें। तीं अवघींही मलिन अभिमानें। ऐक तयांचीं लक्षणें। तुजकारणें सांगेन॥ ४६॥ अष्टांगयोगीं दुर्जयो पवन। सर्वथा साधेना जाण। साधला तरी नागवण। अनिवार जाण सिद्धींची॥ ४७॥ नित्यानित्यविवेकज्ञान। तेथ बाधी पांडित्यअभिमान। प्रबळ वांछी धनमान। ज्ञानचि विघ्न ज्ञान्यासी॥ ४८॥ अहिंसाधर्म करितां जनीं। धर्मिष्ठपणीं गाळिती पाणी। गाळितां निमाल्या जीवश्रेणी। अधर्मपणीं तो धर्म॥ ४९॥ करितां वेदाध्ययन। मुख्य वेदें धरिलें मौन। पठणमात्रें मी नातुडें जाण। याजनदान वांछिती॥ ५०॥ तप करूं जातां देहीं। क्रोध तापसांच्या ठायीं। परता जावों नेदी कंहीं। वाढला पाहीं नीच

नवा॥५१॥ सर्वस्वत्यागें संन्यासग्रहण। तेथही न जळे देहाभिमान। व्यर्थ विरजाहोम गेला जाण। मानाभिमान बाधिती॥५२॥ श्रौत स्मार्त कर्म साङ्ग। इष्टापूर्त जे कां याग। तेथ आडवा ठाके स्वर्गभोग। कर्म क्षयरोग साधकां॥५३॥ नाना दानें देतां सकळ। वासना वांछी दानफळ। कां दातेपणें गर्व प्रबळ। लागला अढळ ढळेना॥५४॥ अनंतव्रतें व्रती झाला। चौदा गांठीं देवो बांधला। शेखीं अनंतातें विसरला। देवो हरविला हातींचा॥५५॥ नाना यज्ञ करितां विधी। मंत्र तंत्र पात्रशुद्धी। सहसा पावों न शके सिद्धी। पावल्या बाधी फळभोगू॥५६॥ नाना छंदें रहस्यमंत्र। विकळ हों नये उच्चार। मंत्रीं मंत्र रचिले साचार। चळले अपार मंत्रवादी॥५७॥ भगवीं करूनि तांबडीं। तीर्थाभिमानें जाले कापडी। भिके लागलीं बापुडीं। नाहीं अर्धघडीं विश्रांती॥५८॥ यमनियम बारा बारा। करितां अखंड बोरबारा। चोविसांमाजीं यांचा उभारा। नेणती सोयरा पंचविसावा॥५९॥ एवं सांगीतल्या साधनांसी। आपमतीं करितां त्यांसी। बाधकता आहे सर्वांसी। म्यां तुजपासीं सांगीतली॥६०॥ करितां साधनें आपमतीसी। तेणें विघ्नें उपजती ऐशीं। तींच साधनें साधुउपदेशीं। सर्वही सिद्धीसी पावती॥६१॥ साधु न सांगतां निर्धारीं। नाना साधनें हा काय करी। कोण विधान कैशी परी। निजनिर्धारीं कळेना॥६२॥ न करितां साधनव्युत्पत्ती। केवळ जाण सत्संगती। मज पावले नेणों किती। तें मी तुजप्रती सांगेन॥६३॥

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः। गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः॥३॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः। रजस्तमः प्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन्युगेऽनघ॥४॥

पाहतां केवळ जडमूढ। रजतमयोनीं जन्मले गूढ। सत्संगती लागोनि दृढ। मातें सुदृढ पावले॥६४॥ दैत्य दानव निशाचर। खग मृग गंधर्व अप्सर। सिद्ध चारण विद्याधर। नाग विखार गुह्यक॥६५॥ खग मृग सर्प पावले मातें। मानव तंव सहजें सरते। वैश्य शूद्र स्त्रियादि समस्तें। पावलीं मातें सत्संगें॥६६॥ जे सकळवर्णधर्मांवेगळे। ज्यांच्या नामास कोणी नातळे। छाया देखूनि जग पळे। अत्यंत मैळे अंत्यज॥६७॥ तिंहीं धरोनि सत्संगती। आले माझिया पदाप्रती। देव द्विज तयांतें वंदिती। अभिनव कीर्ति संतांची॥६८॥ धरिलिया सत्संगती। निंद्य तेही वंद्य होती। उद्धवा तूं निष्पाप निश्चितीं। तरी सत्संगती करावी॥६९॥ सोनें साडेपंधरें चोखडें। त्यासी रत्नाची संगती जोडे। तैं अधिकाधिक मोल चढे। मुकुटीं चढे महेशा॥७०॥ तैंशीं पुण्य पुरुषा सत्संगती। जाहल्या अनंत सुख पावती। सुरवर त्यांतें वंदिती। शिवादि येती भेटीसी॥७१॥ यमधर्म पायां लागती। तीर्थें पायवणी मागती। भावें धरिल्या सत्संगती। एवढी प्राप्ती पुरुषासी॥७२॥ दैत्य राक्षस स्त्री शूद्र पाहीं। अंत्यज तरले म्हणसी कायी। त्या त्या युगाच्या ते ते ठायीं। बहुसाल पाहीं उद्धरिले॥७३॥

बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः। वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः॥५॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः। व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे॥६॥

वृत्रासुर गाइजे वेदीं। जो इंद्रासी मिसळला युद्धीं। युद्धींही अविरुद्ध बुद्धी। माझे निजपदीं पावला॥७४॥ ऐकतां नारदाच्या गोठी। गर्भींच मजसी घातली मिठी। जो जन्मला कयाधूच्या पोटीं। भक्तजगजेठी प्रल्हादु॥७५॥ वृषपर्वा दैत्य उद्भटू। माझे पदीं झाला प्रविष्टू। बळीच्या द्वारी मी खुजटू। झालों बटू भिकेसी॥७६॥ छळें करितां बळिबंधन। छळितां मी छळिलों जाण। अंगा आलें द्वारपाळपण। बळीआधीन मी झालों॥७७॥ त्या बळीचा पुत्र बाणासुर। शिववरें

मातला थोर। माझे पुत्राचा चोरिला पुत्र। दोहींचा हेर नारदू॥७८॥ तो म्यां साधूनि धरिला चोरू। बाणीं केला अतिजर्जरू। छेदिला सहस्त्र भुजांचा भारू। शिव जीवें मारूं नेदीच॥७९॥ तो म्हणे हा भक्तपुत्र झणीं मारीं। मजही बळीची भीड भारी। अखंड मी असें त्याच्या द्वारी। यालागीं उद्धरीं बाणातें॥८०॥ मग संबोखावया शिवातें। बाण आपुले निजहस्तें। ऐक्यें शिवपदीं स्थापिलें त्यातें। कल्याणातें पावला॥८१॥ खांडववन अग्नीसी। अर्जुनें दीधलें खाववयासी। तेथें जळतां मयासुरासी। म्यांचि तयासी उद्धरिलें॥८२॥ राक्षसकुळीं जन्मला जाण। शत्रूचा बंधू बिभीषण। माझ्या ठायीं अनन्यशरण। जीवप्राण तो माझा॥८३॥ सुग्रीव हनुमंत जांबवंतू। यांचा पवाडा विख्यातू। जटायु उद्धरिला वनांतू। जो रावणें खस्तू केला होता॥८४॥ गज सरोवरीं ग्रहग्रस्त। स्त्रियांपुत्रीं सांडिलाजीत। तो अंतकाळीं मातें स्मरत। आर्तभूत अतिस्तवनें।८५॥ सांडूनि समस्तांची आस। पाहोनि वैकुंठाची वास। राजीव उचलूनि राजस। पाव परेश म्हणे वेगीं॥८६॥ त्या गजेंद्राचे तांतडी। वैकुंठींहूनि लवडसवडी। म्यां गरुडापुढें घालोनि उडी। बंधन तोडीं गजाचे॥८७॥ त्यासी पशुयोनीं जन्म होतें। परी तो अंतीं स्मरला मातें। पावला माझ्या निजधामातें। गाइजे त्यातें पुराणीं॥८८॥ वैश्य तुळाधार वाणी। सत्य वाचा सत्य जोखणी। सत्यें पावला मजलागुनी। सत्यतोलणी त्याचें नांव॥८९॥ अंत्यजांमाजीं धर्मव्याध। माझें पावला निजपद। जराव्याध गा प्रसिद्ध। करोनि अपराध उद्धरिला॥९०॥ चरणीं विंधोनियां बाण। घायें घेतला कृष्णाचा प्राण। तो परीक्षिति जराव्याध जाण। कृष्णें आपण तारिला॥९१॥ कौलिकांमाजीं गुहक देख। आला श्रीरामासंमुख। कर्म निरसलें नि:शेख। निजधाम देख पावला॥९२॥ कुब्जा तीं ठायीं वांकुडी। नीट निजभावें चोखडी। तिच्या चंदनाची शुद्ध गोडी। अति आवडी मजलागीं॥९३॥ तिणें चर्चूनियां चंदन। मन केलें मदर्पण। मी झालों तिजआधीन। निजधाम ते जाण पावली॥९४॥ गोकुळींचिया गोपिका। संसारासी होऊनि विमुखा। तनमनप्राणें मजलागीं देखा। भाळोनि निजसुखा पावल्या॥९५॥ माझी गोपिकांसी परम आवडी। कीं मजचि गोपिकांची गोडी। पाहतां यांचे समान पाडीं। जाहलीं बापुडीं साधनें॥९६॥ सांडूनि संसाराची चाड। न धरूनि पतिपुत्रांची भीड। यज्ञपत्न्यांसी माझें कोड। भावार्थें दृढ भाविकां॥९७॥ तिंहीं मज अर्पोनियां अन्न। माझें निजधाम पावल्या जाण। मज न पावतीच ते ब्राह्मण। जयांसी कर्माभिमान कर्माचा॥९८॥ एक ब्राह्मण अतिशास्त्रबळें। पत्नीसी येवूं नेदी मजजवळें। तुम्ही वेदशास्त्रांसी वेगळे। गोरक्ष गोंवळे केवीं पूजा॥९९॥ येरी समस्तां जातां देखोन। तिचें मजलागीं तळमळी मन। अतिकर्मठ तो ब्राह्मण कठिण। अवरोधून राखिली॥१००॥ पित्यानें लाविलीसी माझ्या हातीं। तेव्हांच मी तुझ्या देहाचा पती। मज सांडूनि केउती। गोवळाप्रती जातेसी॥१॥ येरी म्हणे तूं या देहाचा पती। तो देह ठेवूनियां तयाप्रती। जीवित्वे मीनलिया मजप्रती। सायुज्य मुक्ति पावली॥२॥ ज्या माझिया प्राप्तीसी। साधक शिणती नाना सायासीं। तीं साधनें न करितां त्यांसी। अनायासीं मज पावल्या॥३॥

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमा:। अव्रतातप्ततपस: सत्सङ्गान्मामुपागता:॥७॥

तिंहीं नाहीं केलें वेदपठण। नाहीं गुरु केले केवळ शास्त्रज्ञ। व्रततपादि नाना साधन। नाहीं जाण तिंहीं केलें॥४॥ केवळ गा सत्संगतीं। मज पावल्या नेणों किती। एकभावें जे भावार्थी। त्यांसी श्रीपती सुलभू॥५॥

कैवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः । येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ ८ ॥

केवळस्वरूप जे संत । त्यां माझी संगती झाली प्राप्त । काय करिसी तप व्रत । भावार्थें प्राप्त मज जाहलिया ॥ ६ ॥ होआवया माझें पद प्राप्त । त्यांसी भांडवल गा भावार्थ । भावबळें गा समस्त । पद निश्चित पावल्या ॥ ७ ॥ ऐकोनि माझें वेणुगीत । गोपिका सांडूनि समस्त । निजदेहातें न सांभाळित । मज गिवसीत पातल्या ॥ ८ ॥ सांडूनि पतिपित्यांची चाड । न धरोनि वेदशास्त्रांची भीड । माझे ठायीं निजभाव दृढ । प्रेम अतिगोड गोपिकां ॥ ९ ॥ पुत्रस्नेह तोडूनि घायें । विधीतें रगडूनि पायें । माझे आवडीचेनि लवलाहें । गोपिका मज पाहें पावल्या ॥ १० ॥ त्याचपरी जाण गायी । वेणुध्वनीं वेधल्या पाहीं । व्याघ्रभय विसरल्या देहीं । माझ्या ठायीं विनटल्या ॥ ११ ॥ माझ्या वेणुध्वनीं वेधलें मन । वत्सें विसरलीं स्तनपान । मुखींचा कवळ मुखीं जाण । माझें ध्यान लागलें ॥ १२ ॥ माझ्या वेणुश्रवणास्तव जिंहीं । निजवैर सांडूनि देहीं । येरयेरांवरी माना पाहीं । व्याघ्रहरिणें तींही विनटलीं ॥ १३ ॥ म्यां उपडिले यमलार्जुन । ते तरले हें नवल कोण । वृंदावनींचे वृक्ष तृण । माझ्या सांनिध्यें जाण उद्धरले ॥ १४ ॥ मयूर तरले मोरपिसीं । गुल्मलतातृणपाषाणांसी । जड मूढ वृंदावनवासी । मत्सांनिध्यें त्यांसी उद्धारू ॥ १५ ॥ माझे संगतीं अनन्य प्रीती । तेचि त्यांस शुद्ध भक्ती । तेणें कृतकृत्य होऊनि निश्चितीं । माझी निजप्राप्ती पावले ॥ १६ ॥ माझेनि चरणघातें साचार । कालिया तरला दुराचार । नागनागिणी सपरिवार । माझेनि विखार उद्धरले ॥ १७ ॥ आपुली जे निजपदप्राप्ती । ते सत्संगेंवीण निश्चितीं । दुर्लभ हें उद्धवाप्रती । स्वयें श्रीपती सांगत ॥ १८ ॥

यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः । व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि ॥ ९ ॥

योग याग व्रत दान । वेदाध्ययन व्याख्यान । तप तीर्थ ज्ञान ध्यान । संन्यासग्रहण सादरें ॥ १९ ॥ इत्यादि नाना साधनें । निष्ठा करितां निर्बंधनें । माझी प्राप्ति दुरासतेनें । जीवेंप्राणें न पविजे ॥ १२० ॥ यापरी शिणतां साधनेंसीं । माझी प्राप्ति नव्हे अतिप्रयासीं । ते गोपी पावल्या अप्रयासीं । सत्संगासी लाहोनी ॥ २१ ॥ त्या गोपिकांसी माझी प्रीती । मीचि त्यांची सत्संगती । सत्संगें निजपदप्राप्ती । जाण निश्चितीं उद्धवा ॥ २२ ॥ गोपिकांची सप्रेम स्थिती । ते तुज गोकुळीं झाली प्रतीती । तुजही न तर्केंच त्यांची प्रीती । ते मी तुजप्रती सांगेन ॥ २३ ॥ गोपिकांचें अत्यंत प्रेम । स्वमुखें सांगे पुरुषोत्तम । उद्धवाचें भाग्य उत्तम । आवडीचें वर्म देवो सांगे ॥ २४ ॥

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ।
विगाढभावेन न मे वियोगतीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय ॥ १० ॥

बळिभद्रासमवेत तत्त्वतां । अक्रूरें मज मथुरे नेतां । तैं गोपिकांसी जे झाली व्यथा । ते सांगतां मज न ये ॥ २५ ॥ ते त्यांची अवस्था सांगतां । मज अद्यापि धीर न धरवे चित्ता । ऐसें देवो सांगतसांगतां । कंठीं बाष्पता दाटली ॥ २६ ॥ सांगतां भक्तांचें निजप्रेम । प्रेमें द्रवला पुरुषोत्तम । जो भक्तकामकल्पद्रुम । कृपा निरुपम भक्तांची ॥ २७ ॥ मज मथुरे जातां देखोनी । आंसुवांचा पूर नयनीं । हृदय फुटे मजलागुनी । प्रेम लोळणी घालिती ॥ २८ ॥ पोटांतील परम प्रीती । सारितां मागें न सरती । धरिले चरण न सोडिती । येती काकुळती मजलागीं ॥ २९ ॥ नवल भावार्थ त्यांच्या पोटीं । माझ्या रूपीं घातली मिठी । सोडवितां न सुटे गांठी । श्वास पोटीं परतेना ॥ १३० ॥ लाज विसरल्या सर्वथा । सासुरां पतिपित्यां देखतां । माझे चरणीं ठेवूनि माथा । रडती दीर्घता आक्रंदें ॥ ३१ ॥ मजवीण अवघें देखती वोस । माझीच पुनःपुन्हा पाहती वास । थोर घालोनि

निश्वास। उकसाबुकसीं स्फुंदत॥३२॥ आमुचा जिवलग सांगाती। घेऊनि जातो हा दुष्टमूर्ती। अक्रूरा संमुख क्रूर म्हणती। येती काकुळती मजलागीं॥३३॥ उभ्या ठाकोनि संमुख। माझें पाहती श्रीमुख। आठवे वियोगाचें दुःख। तेणें अधोमुख विलपती॥३४॥ ऐशिया मजलागीं आसक्त। माझ्या ठायीं अनन्यचित्त। विसरल्या देहसुखें समस्त। अतिअनुरक्त मजलागीं॥३५॥ माझेनि वियोगें तत्त्वतां। त्यांसी माझी तीव्र व्यथा। ते व्यथेची अवस्था। बोलीं सांगतां मज न ये॥३६॥ मजवेगळें जें जें सुख। तें गोपिकांसी केवळ दुःख। कैशी आवडी अलोलिक। मज हृदयीं देख न विसंबती॥३७॥ मज गोकुळी असतां। माझे ठायीं आसक्तचित्ता। ते आसक्तीची समूळ कथा। ऐक आतां सांगेन॥३८॥

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥११॥

नवल गोपिकांचा हरिख। मज वृंदावना जातां देख। माझें पाहोनि श्रीमुख। प्रातःकाळीं सुख भोगिती॥३९॥ गायी पाजोनियां पाणी। गोठणीं बैसवीं मध्यान्हीं। तेथें उदकमिषें गौळणी। पाहावयालागूनी मज येती॥१४०॥ तेथें नाना कौतुकें नाना लीला। नाना परींच्या खेळतां खेळां। तो तो देखोनि सोहळा। सुखें वेल्हाळा सुखावती॥४१॥ मज सायंकाळीं येतां देखोनी। आरत्या निंबलोण घेऊनी। सामोऱ्या येती धांवोनी। लागती चरणीं स्वानंदें॥४२॥ ऐशीं त्रिकाळ देशनें घेतां। धणी न पुरे त्यांचे चित्ता। त्याहीवरी वर्तली कथा। एकांतता अतिगुह्य॥४३॥ त्या गुह्याचें निजगुज। उद्धवा मी सांगेन तुज। महासुखाचें सुखभोज। मी अधोक्षज नाचिन्नलों॥४४॥ तें सुख गोपिका जाणती। कीं माझें मी जाणें श्रीपती। जे रासक्रीडेच्या रातीं। झाली सुखप्राप्ती सकळिकांसी॥४५॥ त्या सुखाची सुखगोडी। रमा काय जाणे बापुडी। ब्रह्मादिकें केवळ वेडीं। त्या सुखाची गोडी नेणती॥४६॥ पावावया त्या सुखासी। सदाशिव झाला योगाभ्यासी। तरी प्राप्ति नव्हे तयासी। भुलला मोहिनीसी देखतां॥४७॥ उमा होऊनि भिल्लटी। तिणें भुलविला धूर्जटी। त्या सुखाची सुखगोष्टी। नेणती हटी तापसी॥४८॥ जवळी असोनि निश्चितीं। संकर्षण महामूर्ती। त्यासी त्या सुखाची प्राप्ती। नव्हे निश्चितीं उद्धवा॥४९॥ रासक्रीडा गोपिकांप्रती। कोणी म्हणेल कामासक्ती। तेथ कामाची कैंची प्राप्ती। ऐक निश्चितीं उद्धवा॥१५०॥ शिवातें जिणोनि फुडा। काम म्हणे मी सबळ गाढा। माझी भेदावया रासक्रीडा। वाऊनि मेढा चालिला॥५१॥ जेथ माझ्या स्वरूपाचें वोडण। तेथ न चले कामाचें कामपण। मोडले मदनाचे बाण। दृढ वोडण स्मरणाचें॥५२॥ काम कामिकां चपळदृष्टी। निजक्षोभाची तीक्ष्ण बाणाटी। संधि साधूनि विंधे हटी। ते नव्हेचि पैठी हरिरंगीं॥५३॥ जेथ मी क्रीडें आत्माराम। तेथ केवीं रिघे बापुडा काम। माझे कामें गोपिका निष्काम। कामसंभ्रम त्यां नाहीं॥५४॥ जो कोणी स्मरे माझें नाम। तिकडे पाहूं न शके काम। जेथ मी रमें पुरुषोत्तम। तेथ कामकर्म रिघेना॥५५॥ काम म्हणे कटकटा। अभाग्य भाग्यें झालों मोटा। रासक्रीडेचिया शेवटील गोटा। आज मी करंटा न पवेंचि॥५६॥ देखोनि रासक्रीडा गोमटी। काम घटघटां लाळ घोटी। लाज सांडूनि जन्मला पोटीं। त्या सुखाचे भेटीलागोनि॥५७॥ तो काम म्यां आपुले अंकीं। केला निजभावें निजसुखी। तें माझें निजसुख गोपिकीं। रासमिषें कीं भोगिलें॥५८॥ ते रासक्रीडेची राती। म्यां ब्रह्मषण्मास केली होती। गोपिका अर्धक्षण मानिती। वेगीं कां गभस्ती

उगवला॥५९॥ जेथ माझा क्रीडासुखकल्लोळ। तेथ कोण स्मरे काळवेळ। गोपिकांचें भाग्य प्रबळ। माझें सुख केवळ पावल्या॥१६०॥ ऐशा माझिया संगतीं। भोगिल्या राती नेणों किती। तरी त्यांसी नव्हे तृप्ती। चढती प्रीती मजलागीं॥६१॥ गोपिका करूनि माझी भक्ती। मी प्रसन्न केलों श्रीपती। रास मागीतला एकांतीं। माझी सुखप्राप्ती पावावया॥६२॥ त्या जाण वेदगर्भींच्या श्रुती। श्रुतिरूपें नव्हे मत्प्राप्ती। तैं परतल्या म्हणोनि 'नेति नेति'। माझी सुखसंगती न पवेचि॥६३॥ विषयबुद्धि तें मुख्य अज्ञान। तें असतां मी न भेटें जाण। असतां वेदोक्त जाणपण। तेणेंही संपूर्ण न भेटें मी॥६४॥ जाणीवनेणीव गेलिया निःशेष। माझें पाविजे निजात्मसुख। श्रुति जाणोनि हें निष्टंक। गोकुळीं त्या देख सुखार्थ आल्या॥६५॥ त्याचि जाण समस्त श्रुती। गोपिकारूपें गोकुळा येती। रासक्रीडामिसें एकांतीं। माझी सुखप्राप्ती पावल्या॥६६॥ हाही असो अभिप्रावो। उद्धवा ज्यासी जैसा भावो। त्यालागीं मी तैसा देवो। यदर्थी संदेहो असेना॥६७॥ उद्धवा मी भक्तांसी देख। कोणे काळीं नव्हें विमुख। जो तैसा भावी भाविक। तैसा मी देख तयासी॥६८॥ मी जनांसी सदा सन्मुख। जनचि मजसी होती विन्मुख। यासी कांहीं न चले देख। दाटूनि दुःख भोगिती॥६९॥ मी सकाम सकामाच्या ठायीं। निष्कामासी निष्काम पाहीं। नास्तिका मी लोकीं तिहीं। असतूचि नाहीं नास्तिक्यें॥१७०॥ असो हे किती उपपत्ती। ऐक गोपिकांसी माझी प्रीती। माझे सुखसंगें भोगिल्या राती। त्या मानिती निमेषार्ध॥७१॥ माझ्या वियोगें त्या त्या राती। ज्या आलिया यथास्थिती। त्या गोपिका कल्पप्राय मानिती। सन्निध स्वपती असतांही॥७२॥ त्यांच्या दुःखाची अवस्था। बोलें न बोलवे सर्वथा। माझेनि वियोगें मातें स्मरतां। समाधिअवस्था पावल्या॥७३॥

तां नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥१२॥

मज गोकुळीं असतां। माझे ठायीं आसक्तचित्ता। हे अवघी समूळ कथा। तुज म्यां तत्त्वतां सांगीतली॥७४॥ ऐशियांसी म्यां अतिनिचाडतां। कृतघ्नाचे परी सांडूनि जातां। माझ्या वियोगकाळींची व्यथा। पाषाण पाहतां उतटती॥७५॥ यापरी मजवेगळ्या असतां। मागें माझी कथा वार्ता। सदा माझें स्मरण करितां। मदाकारता पावल्या॥७६॥ करितां दळण कांडण। माझे दीर्घस्वरें गाती गुण। कीं आदरिल्या दधिमंथन। माझें चरित्रगायन त्या करिती॥७७॥ करितां सडासंमार्जन। गोपिकांसी माझें ध्यान। माझेनि स्मरणें जाण। परिये देणें बालकां॥७८॥ गायीचें दोहन करितां। माझे स्मरणीं आसक्तता। एवं सर्व कर्मीं वर्तता माझ्या विसराची वार्ता विसरल्या॥७९॥ करितां करितां गमनागमन। अखंड माझ्या ठायीं मन। आसन भोजन प्राशन। करितां मद्ध्यान तयांसी॥१८०॥ एवं मज गेल्यिापाठीं। ऐशी माझी आवडी मोठी। अखंड माझ्या ठायीं दृष्टीं। माझ्याचि गोष्टी सर्वदा॥८१॥ ऐसी अनन्य ठायींच्या ठायीं। गोपिकांसी माझी प्रीति पाहीं। त्या वर्तंतांही देहगेहीं। माझ्या ठायीं विनटल्या॥८२॥ यापरी बुद्धि मदाकार। म्हणोनि विसरल्या घरदार। विसरल्या पुत्रभ्रतार। निजव्यापार विसरल्या॥८३॥ विसरल्या विषयसुख। विसरल्या द्वंद्वदुःख। विसरल्या तहानभूक। माझेनि एक निदिध्यासें॥८४॥ जेणें देहें पतिपुत्रांतें। आप्त मानिलें होतें चित्तें। तें चित्त रातलें मातें। त्या देहातें विसरोनी॥८५॥ विसरल्या इहलोक परलोक। विसरल्या कार्यकारण निःशेख। विसरल्या नामरूप देख। माझें ध्यानसुख भोगितां॥८६॥ निरसोनि तत्त्वांचे विकार। समाधि पावे मुनीश्वर। तो विसरे जेवीं संसार।

तेवीं मदाकार गोपिका॥८७॥ जेवीं कां नाना सरिता। आलिया सिंधूतें ठाकितां। तेथें पावोनि समरसता। नामरूपता विसरल्या॥८८॥ तेवीं गोपिका अनन्यप्रीतीं। माझी लाहोनियां प्राप्ती। नामरूपाची व्युत्पत्ती। विसरल्या स्फूर्ती स्फुरेना॥८९॥ सच्चिदानंदस्वरूपप्रभावो। नेणतां माझा निजस्वभावो। गोपिकांचा अनन्यभावो। परब्रह्म पहा हो पावल्या॥१९०॥

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः। ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥१३॥

त्या केवळ अबला निश्चितीं। मत्संगाची अतिप्रीती। तेही संगती कामासक्ती। शास्त्रप्रवृत्तीविरुद्ध॥९१॥ मी भ्रतारू नव्हें शास्त्रविधी। रूपें मदनमोहन त्रिशुद्धी। मज रतल्या ज्या अविधी। जारबुद्धीं व्यभिचारें॥९२॥ चौं प्रकारींच्या कामिनी। हस्तिनी इत्यादि पद्मिनी। चौघींसी चौं मुक्तिस्थानीं। काममोहनीं मी रमवीं॥९३॥ इतर पुरुषांचे संगतीं। क्षणभंगुर सुख भोगिती। अविनाश निजसुखप्राप्ती। कामासक्ती माझेनि॥९४॥ स्वपतिसंगें क्षणिक आनंदू। माझ्या सुखाचा निजबोधू। नित्य भोगिती परमानंदू। स्वानंदकंदू सर्वदा॥९५॥ यालागीं गा अबळा चपळा। सांडूनि स्वपतीचा सोहळा। मजचि रातल्या सकळा। माझी कामकळा अभिनव॥९६॥ नव रसांचा रसिक। नवरंगडा मीच एक। यालागीं माझ्या कामीं कामुक। भावो निष्टंक गोपिकांचा॥९७॥ जीवाआंतुलिये खुणे। मीचि एक निववूं जाणें। ऐसें जाणोनि मजकारणें। जीवेंप्राणें विनटल्या॥९८॥ अंगीं प्रत्यंगीं मीचि भोक्ता। सबाह्य सर्वांगे मीचि निविता। ऐसें जाणोनि तत्त्वतां। कामासक्तता मजलागीं॥९९॥ हावभावकटाक्षगुण। मीचि जाणें उणखूण। कोण वेळ कोण लक्षण। कोण स्थान मिळणीचें॥२००॥ जे निजोनियां निजशेजारीं। जे काळीं माझी इच्छा करी। तेचि काळीं तेचि अवसरीं। सुखशेजारीं मी निववीं॥१॥ मज कुडकुडें नाहीं येणें। नाहीं कवाड टणत्कारणें। नित्य निजशेजें निववणें। जे जीवेंप्राणें अनुसरली॥२॥ ऐसा सर्वकामदायक। पुरुषांमाजीं मीचि एक। हा गोपिकीं जाणोनि विवेक। भाव निष्टंक धरियेला॥३॥ ज्यासी भाळले निष्काम तापसी। ज्यासी भाळले योगी संन्यासी। गोपी भाळल्या त्यासी। देहगेहांसी विसरोनी॥४॥ अंधारीं गूळ खातां। कडू न लगे तो सर्वथा। तेवीं नेणोनि माझी सच्चिदानंदता। मातें सेवितां मी जाहल्या॥५॥ परीस मानोनि पाषाण। फोडूं जातां लोहाचा घण। लागतांचि होय सुवर्ण। तैशा जाण गोपिकां॥६॥ विष म्हणोनि अमृत घेतां। मरण जाऊनि ये अमरता। तेवीं जारबुद्धीं मातें भजतां। माझी सायुज्यता पावल्या॥७॥ म्यां गोपिकांसी कामू केला। कीं त्यांचा सर्व कामू हरिला। विचारितां अर्थ एथिला। मोक्ष फावला मत्कामें॥८॥ ज्यांसी झाली माझी संगती। त्या एक दोन सांगों किती। शत सहस्र अमिती। निजपदाप्रती पावल्या॥९॥ वैरागराच्या मणीप्रती। खडे लागले हिरे होती। तैशा गोपिका माझ्या संगतीं। नेणों किती उद्धरल्या॥२१०॥ मी परब्रह्ममूर्ति चोखडी। माझिया व्यभिचारपरवडी। धुतल्या अविद्यापापकोडी। मुक्ति रोकडी पावल्या॥११॥ मी अथवा माझे संत। संगती होईल ज्यांसी प्राप्त। ते मज पावले निश्चित। संदेह येथ न धरावा॥१२॥ माझे स्वरूपावरी लोक। विकल्पें ठेविती नाना दोख। संत माझे निर्दोख। तत्संगें सुख निर्दुष्ट॥१३॥ उद्धवा त्वांही येचि अर्थीं। बहुत न करावी व्युत्पत्ती। धरोनियां सत्संगती। संसारगुंती उगवावी॥१४॥

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्। प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥१४॥

माझें स्वरूप शुद्ध निर्गुण। वेद तितुका गा त्रिगुण। त्या वेदाचें जें प्रेरण। तें गौण जाण

मत्प्राप्तीं ॥ १५ ॥ त्या वेदार्थें श्रुतिस्मृती। नाना कर्में करविती। त्या कर्माची कर्मगती। न कळे निश्चितीं कोणासी ॥ १६ ॥ कर्म स्वरूपें परम गूढ। विधिनिषेधें अतिअवघड। सज्ञानासी नव्हे निवाड। शास्त्रें दृढ विचारितां ॥ १७ ॥ केवळ कर्मचि कर्माआंत। एक प्रवृत्त एक निवृत्त। सकाम निष्काम अद्भुत। अंगीं आदळत साधकां ॥ १८ ॥ कर्म तितुकें आविद्यक। वेद तों त्रिगुणात्मक तत्संबंधीं श्रवण देख। साधनरूप वेदांत ॥ १९ ॥ तमोगुणें कर्मकांड। रजोगुणें उपासनाकांड। सत्त्वगुणें ज्ञानकांड। वेद त्रिकांड त्रिगुणात्मक ॥ २२० ॥ वेदशास्त्र विधानविधी। यांचें मूळ अविद्या आधीं। जे अविद्येस्तव देहबुद्धी। विधिनिषेधीं गोंवित ॥ २१ ॥ यालागीं उद्धवा तूं आधीं। सांडीं अविद्या पां त्रिशुद्धी। अविद्या सांडिल्या संबंधीं। सहजें वेदविधी सांडिला ॥ २२ ॥ आधीं अविद्या ते कोण। हेंच आम्हां न कळे जाण। मग तिचें निराकरण। केवीं आपण करावें ॥ २३ ॥ निजकल्पनेचा जो बोध। तेचि अविद्या स्वतःसिद्ध। तेणेंचि बाधे विधिनिषेध। ते त्यागिल्या शुद्ध ब्रह्मचि तो ॥ २४ ॥ धूर पडिलिया रणीं। सहज कटक जाय पळोनी। तेवीं अविद्या सांडितां सांडणीं। विधिविधान दोनी सहजेंचि ॥ २५ ॥ आंखु छेदिलिया पडिपाडें। रथ न चाले असतांही घोडे। तेवीं अविद्या छेदिलिया निवाडें। विधिनिषेध पुढें न चलती ॥ २६ ॥ मूळ छेदिलिया एके घायीं। शाखा पल्लव छेदिले पाहीं। तेवीं अविद्या छेदिलिया लवलाहीं। विधिनिषेध राही सहजचि ॥ २७ ॥ ऐकें वेदींचा तात्पर्यार्थ। मुख्य भजावा मी भगवंत। तोचि शास्त्रीं विशदार्थ। करी वेदांतश्रवणार्थें ॥ २८ ॥ श्रवण केलियाचें फळ जाण। करावें अविद्यानिरसन। अविद्या निरसिलिया श्रवण। पुढारें जाण लागेना ॥ २९ ॥ जेवीं ठाकिलिया स्वस्थान। पुढारें न लगे गमनागमन। तेवीं झालिया अविद्या निरसन। श्रवण मनन लागेना ॥ २३० ॥ म्हणसी अविद्या केवीं सांडे। हेंचि अवघड थोर मांडे। हें अवघें उगवे सांकडें। तें मी तुज पुढें सांगेन ॥ ३१ ॥ वेदशास्त्रकर्मविधान। हें अविद्यायुक्त साधन। ते अविद्या जावया जाण। मजलागीं शरण रिघावें ॥ ३२ ॥

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्। याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥ १५ ॥

सांडूनि स्त्रीपुत्रविषयध्यान। सांडूनि योग योग्यता शहाणपण। सांडूनि कर्मठता कर्माभिमान। मजलागीं शरण रिघावें ॥ ३३ ॥ सांडूनियां वेदाध्ययन। सांडूनियां शास्त्रश्रवण। सांडूनि प्रवृत्ति निवृत्ति जाण। मजलागीं शरण रिघावें ॥ ३४ ॥ सांडूनि धनमानचेष्टा। सांडूनि सज्ञान प्रतिष्ठा। सांडूनियां नाना निष्ठा। शरण वरिष्ठा मज यावें ॥ ३५ ॥ सांडूनियां वैदिक लौकिक। सांडूनि आगम तांत्रिक। मज शरण रिघालिया देख। माझें निजसुख पावसी ॥ ३६ ॥ सांडूनि कुळाचें उंचपण। सांडूनि जातीचा अभिमान। सांडूनि आश्रमाचें श्रेष्ठपण। मजलागीं शरण रिघावें ॥ ३७ ॥ सांडूनियां ज्ञान ध्यान। सांडूनियां विधिविधान। सांडूनियां देहाभिमान। मजलागीं शरण रिघावें ॥ ३८ ॥ माझें नांव अंतर्यामी। हृदयींचें जाणता मुख्यत्वें मी। तो मी चाळवेना शब्दधर्मीं। श्रद्धा परब्रह्मीं निर्ममत्वें ॥ ३९ ॥ सर्व त्यागाचें त्यागितेपण। उद्धवा तुज मी सांगेन खूण। सर्व सांडावा अभिमान। हें मुख्य लक्षण त्यागाचें ॥ २४० ॥ सर्वही सांडोनि अभिमान। मज रिघालिया शरण। तुज कैंचें जन्ममरण। माझे प्रतापें जाण तरशील ॥ ४१ ॥ शरण रिघावयासाठीं। काय रिघावें गिरिकपाटीं। किंवा सेवावी दरकुटी। अथवा दिक्पटीं भंवावें ॥ ४२ ॥ तुज वस्तीसी नाहीं गांवो। नित्य नेमस्त कोण ठावो। शरण रिघावया कोठें धांवों। ऐसा भावो कल्पिसी ॥ ४३ ॥

म्हणसी शरण रिघावें कवणे ठायीं। तरी मी असें तुझ्या हृदयीं। त्या हृदयस्थासी लवलाहीं। शरण पाहीं रिघावें॥४४॥ सर्वभावें सर्वस्वेंसीं। मज हृदयस्था शरण येसी। तैं माझी सर्वगतता पावसी। सर्वभूतनिवासी हृदयस्थू॥४५॥ तिळभरी राखोनि अभिमान। जरी मज रिघशी शरण। तरी माझी प्राप्ती नव्हे जाण। अभिमान विघ्न प्राप्तीसी॥४६॥ श्वानें स्पर्शिलें पक्वान्न। तें जेवीं नातळती ब्राह्मण। तेवीं जीवीं असतां अभिमान। साधकासी मी जाण नातळें॥४७॥ रजस्वलेची ऐकोनि वाणी। दूर पळिजे पुरश्चरणीं। तेवीं अहंकाराच्या साधनीं। थिता जवळुनी मी जायें॥४८॥ रजकविटाळाचें जीवन। जेवीं नातळती सज्जन। तेवीं हृदयीं असतां अभिमान। उद्धवा मी जाण न भेटें॥४९॥ डोळां हरळू न विरे। घायीं कोत न जिरे। टांकी मुक्तापळीं न शिरे। खिरीमाजीं न सरे सरांटा॥२५०॥ तेवीं मजमाजीं अभिमान। उद्धवा न रिघे गा जाण। हे त्यागतात्पर्याची खूण। तुज म्या संपूर्ण सांगीतली॥५१॥ पत्नी विचरतां परपुरुषीं। देखोनि निजपती त्यागी तिसी। तेवीं अभिमानरत भक्तांसी। मी हृषीकेशी नातळें॥५२॥ यालागीं सांडूनि अभिमान। मज हृदयस्था रिघालिया शरण। तुज मी उद्धरीन जाण। देवकीची आण उद्धवा॥५३॥ म्हणसी तुज दोघी माता। कोणतीची आण मानूं आतां। मज तुझीच आण तत्त्वतां। तुज निर्भयता माझेनि॥५४॥ तूं बोलीं नातुडसी कांहीं। तुज सर्वथा क्रिया नाहीं। तुझी आणभाक मानावी कायी। ऐसें जरी कांहीं कल्पिसी॥५५॥ पातेजूनि तुझिया बोलासी। थितें सांडावें स्वधर्मासी। लटकें जाहलिया आणेसी। कोणें समर्थासीं भांडावें॥५६॥ उद्धवा ऐसें न म्हण। म्या जे वाहिली तुझी आण। तें परमात्म्यावरी प्रमाण। सत्य जाण सर्वथा॥५७॥ उद्धवा तूं आत्मा परिपूर्ण। मज तुज नाहीं मीतूंपण। त्या तुझी म्यां वाहिली आण। परम प्रमाण परमात्मता॥५८॥ असतां प्रत्यक्ष प्रमाण। कां लागे भाक आण। सर्वभावें मज आलिया शरण। आतांचि जाण तरशील॥५९॥ मज शरण रिघाल्या वाडेंकोडें। कळिकाळ तुझिया पायां पडे। कायसे भवभय बापुडें। कोण तुजकडे पाहेल॥२६०॥ शरण रिघतांचि तत्काळ। तूं लाहासी माझें बळ। तेव्हां भवभय पळे सकळ। तुज कळिकाळ कांपती॥६१॥ तृणीं पेटलिया अग्निस्फुलिंग। तो जाळी नाना वनांचे दांग। तैसें शरण आलिया अव्यंग। संसारदांग तूं जाळिसी॥६२॥ शरण यावें हृदयस्थासी। तो हृदयस्थ न कळे आम्हांसी। उद्धवा तूं ऐसें म्हणसी। तरी ऐक त्या स्वरूपासी सांगेन॥६३॥ सांडूनि रूपनामअभिमान। स्फुरे जें कां उद्धवपण। तें मज हृदयस्थाचें रूप जाण। त्यासी तुवां शरण रिघावें॥६४॥ नाम-रूप-गुणवार्ता। हे माया जाण तत्त्वतां। ते सांडूनि जे स्फुरे सत्ता। तें मज हृदयस्थाचें रूप॥६५॥ ऐसेनि हृदयस्थ जोडल्या पहा हो। तेव्हां सर्व भूतीं पाहतां देवो। तेथ वेगळा उरावया उद्धवो। रिता ठावो न दिसेचि॥६६॥ तेव्हां सर्व भूतीं मी एकू। निश्चयें जाण निष्टंकू। देखतांही अनेक लोकू। त्यांसी मी एकू एकला॥६७॥ ऐसा तूं मिळोनि हृदयस्थासी। मी होऊनि मज पावसी। माझी प्राप्ती उद्धवा ऐसी। निर्भयेंसीं निश्चळ॥६८॥ ऐशी सांगोनि गुह्य गोष्टी। देवो उद्धवाची पाठी थापटी। येरें चरणीं घातली मिठी। उठवितां नुठी सर्वथा॥६९॥ तुवां जें सांगितलें निजगुज। तें मज मानलें गा सहज। बोला एकाचा संशय मज। तो मी तुज पुसेन॥२७०॥

उद्धव उवाच-संशय: शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर। न निवर्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मन:॥१६॥

वेदशास्त्राचें मथित सार। योगदुर्गीचें भांडार। पिकल्या सुखाचा सुखसागर। मज साचार

उपदेशिला॥७१॥ तूं योगियांचा योगेश्वर। सकळ जगाचा ईश्वर। तुझें सत्य गा उत्तर। संशयकर मज वाटे॥७२॥ तुवांच सांगितलें साक्षेपें जाण। करावें गा स्वधर्माचरण। तें सत्य मानूनि वचन। सर्वस्वें जाण विश्वासलों॥७३॥ करावें जें स्वधर्माचरण। तेंच म्हणशी माझें भजन। शेखीं तेंही आतां सांडून। रिघावें शरण म्हणतोसी॥७४॥ तरी आत्मा कर्ता कीं अकर्ता। हेंचि न कळे तत्त्वतां। कर्म करावें कीं सर्वथा। आम्हीं आतां सांडावें॥७५॥ तुझी विषम उपदेशव्युत्पत्ती। सांगतां आम्हां अबळांप्रती। थोर संदेह वाढत चित्तीं। काय श्रीपती करावें॥७६॥ जरी आत्मा झाला अकर्ता। तरी कर्माचा कोण कर्ता। जैं आत्म्यासी आली अकर्तव्यता। तैं त्याग सर्वथा घडेना॥७७॥ ऐकोनि उद्धवाचा प्रश्न। सांवळा राजीवलोचन। काय बोलिला हांसोन। सावधान परिसावें॥७८॥

श्रीभगवानुवाच— स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥१७॥

ऐक बापा उद्धवा। मी मायेच्या निजस्वभावा। अनुसरोनि जीवभावा। कर्तृत्व जीवा जीवत्वें॥७९॥ जळीं प्रतिबिंबला सविता। तो जलकंपें दिसे कांपता। तेवीं अकर्तांचि मी दिसें कर्ता। जीवअहंतास्वभावें॥२८०॥ राजा झालिया निद्रेआधीन। तो स्वप्नीं रंक होय आपण। तेवीं प्रकृतीस्तव मज जाण। जीवपण आभासे॥८१॥ स्वयें राजा आहे आपण। तो स्वप्नीं रंकत्वें करी कोरान्न। तेथें जो दे पसाभर कण। त्यासी वानी आपण राजा रे तूं॥८२॥ आपणचि राजा आहे। हें त्याचें त्यास ठाउकें नव्हे। तैसेंच जीवासही होये। पूर्णत्व स्वयें स्मरेना॥८३॥ जेवीं स्वप्नाचिया अवस्था। राजा रंकक्रिया करी समस्ता। तेवीं अविद्येस्तव तत्त्वतां। कर्मकर्ता मी झालों॥८४॥ तेथें वेदोक्त विधिविधान। जीवाअंगीं आदळे जाण। जंव नव्हे ब्रह्मज्ञान। तंव स्वधर्माचरण करावें॥८५॥ राजा राजपदीं जागा नव्हे। तंव रंकक्रिया त्यासी संभवे। तेवीं जंव ब्रह्मज्ञान नव्हे। तंव सर्व करावे स्वधर्म॥८६॥ राजा राजपदीं जागा झाला। तो भीक म्हणतांचि लाजला। तेवीं ब्रह्मज्ञान जो पावला। तो 'मी कर्ता' या बोला न बोले कदा॥८७॥ जैसें रायास मिथ्या रंकपण। तेवीं परमात्म्यासी जीवत्व जाण। त्या जीवास शरीरीं संसरण। तें उपलक्षण अवधारीं॥८८॥ जैसा जीव जडातें जीवविता। यालागीं जीवू ऐशी वार्ता। सहजें तरी स्वभावतां। चैतन्यरूपता जीवाची॥८९॥ घटामाजीं दीपू घातला। तैं घटभरी प्रकाशू झाला। तोचि घरामाजीं ठेविला। घरभरी झाला प्रकाश॥२९०॥ तेवीं शरीरमाजीं तरी जीवू। सहजें तरी हा सदाशिवू। येथ बोलणें न लगे बहू। जीवशिवअनुभवू तो ऐसा॥९१॥ आरिशाचा सूर्य दिसे हातीं। तेवीं शरीरीं जीवाची प्रसूती। प्रकर्षेंसीं राहती स्थिती। यालागीं 'प्रसूती' बोलिजे॥९२॥ आरसा अत्यंत लहान। तेथें सूर्य बिंबे संपूर्ण। तेवीं विदेहा देहधारण। 'विवरप्रवेशन' त्या नांव॥९३॥ थिल्लरीं चंद्रासी अभिव्यक्ती। तो गगनींचा दिसे अधोगती। तेवीं शरीरीं जीवाची प्रसूती। अव्यक्त व्यक्तीं प्रवेशे॥९४॥ जळीं सविता प्रतिबिंबला। परी तो जळें नाहीं ओला झाला। तेवीं कर्मे करोनि संचला। अलिप्त ठेला निजआत्मा॥९५॥ जळीं प्रतिबिंब आंदोलायमान। तेवीं जीवासी जन्ममरण। थिल्लरीं चंद्र अडकला संपूर्ण। तेवीं कर्मबंधन जीवासी॥९६॥ थिल्लरजळ आटलें। तेथें काय चंद्रबिंब निमालें। तें चंद्रबिंब होवोनि ठेलें। जाहलें निमालें दोनी मिथ्या॥९७॥ थिल्लरींचा चंद्र काढूं जातां। तो मिथ्यात्वें न ये

हाता। तेवीं देहीं मिथ्या जीवता। ते सत्य मानितां अतिदुःखी॥१८॥ आरसा थोर अथवा लहान। तेथें सूर्य बिंबे संपूर्ण। तेवीं मी अंतर्यामी जाण। सर्वांभूतीं समान समग्र असें॥१९॥ सूर्य थिल्लराआंतौता। अडकला दिसे समस्तां। तेवीं जीवासी कर्मबद्धता। मूर्ख तत्त्वतां मानिती॥३००॥ गगनींचा सूर्यो न देखती। थिल्लरीं अडकला मानिती। तेवीं निर्गुणीं जया नाहीं प्रतीती। ते बद्ध म्हणती जीवातें॥१॥ अग्निज्वाळा जाळीं आकळितां। जाळें जळे आकळूं जातां। तेवीं आत्मया कर्मीं बांधतां। कर्मीं कर्मता निष्कर्म॥२॥ नादउत्पत्तीसी ठावो। मुख्य वावो कां दुसरा घावो। या दोहींवेगळा नित्य निर्वाहो। तो नादू पहा हो अनुहत॥३॥ अनुहताचा सोलींव शब्दू। परापरतीरीं पराख्य नादू। ज्याचा योगियां सदा छंदू—। बोलिला अनुवादू नव्हे त्याचा॥४॥ ज्या नादाची सुखगोडी। सदाशिवूच जाणे फुडी। कां सनकादिकीं चोखडी। चाखिली गाढी ते चवी॥५॥ वायूचें शोधितां सत्त्व। त्यासी एकवटलें तें शब्दतत्त्व। उभयचेतनें जीवित्व। मनोमयत्व धरूं पाहे॥६॥ चेतनेचें चेतनत्व। तें वायूचें शोधित सत्त्व। तेंचि शब्दाचें निजतत्त्व। तेणें जीवित्व मनोरूप होय॥७॥ जीवाचा शरीरसंयोग। स्वयें सांगे तो श्रीरंग। आधारादिचक्रप्रयोग। क्रमेंचि साङ्ग सांगत॥८॥ अहमिति प्रथमाध्यासें। जीवासी जीवत्व आभासे। तो जे जे तत्त्वीं प्रवेशे। तें मी ऐसें म्हणतचि॥९॥ तेथ मी देहो म्हणतां। तत्काळ जाय पूर्णता। तेव्हां एकदेशी परिच्छिन्नता। देहात्मता लागली॥३१०॥ निर्विशेष नाद अतिसूक्ष्म प्राण। त्यासहित आधारीं प्रवेशोन। अतिसूक्ष्म प्रथम स्फुरण। पावोनि जाण परा झाली॥११॥ आधारचक्रीं सूक्ष्म प्राण। परा वाचा तेथींची जाण। मनाचें कोंवळें स्फुरण। अतिसपूरपण सूक्ष्मत्वें॥१२॥ स्वाधिष्ठानचक्राच्या ठायीं। मनाचें वाढतें बाळसें पाहीं। पश्यंती वाचा तये ठायीं। बोलूं देखे परी कांहीं बोलेना॥१३॥ तिये चक्रीं एकवटला प्राण। पुढारां न चलेचि गा जाण। प्राणापानां झालें भांडण। दोघेजण रूसले॥१४॥ घरकलहो लागला भारी। मग निघाले वेगळेचारी। पांचही राहिले पांचापरी। ऐक निर्धारीं विचारू॥१५॥ मागें रुसोनि गेला जाण। त्या नांव म्हणती अपान। रागें पुढारां आला जाण। त्या नांव प्राण म्हणताती॥१६॥ दोहींमाजीं समत्वें जाण। नाभीं राहिला तो समान। कंठीं राहिला तो उदान। व्यानासी रहावया स्थान असेना॥१७॥ अद्यापि शरीरीं जाण। व्यानासी नाहीं एक स्थान। तो सर्वांगीं सर्वदा जाण। परिभ्रमण करीतसे॥१८॥ याहून धाकटे पांच प्राण। तेही वेगळे राहिले जाण। तिंहीं वेगळालें आपण। वस्तीसी स्थान योजिलें॥१९॥ नाग कूर्म कृकल देवदत्तू। पांचवां धनंजय जाण तेथू। यांची वस्ती जे शरीरांतू। ऐक निश्चितू सांगेन॥३२०॥ शिंक जांभई आणि ढेंकर। नाग कूर्म कृकलांचें घर। उचकी देवदत्ताचें बिढार। धनंजयासी थार मिळेचिना॥२१॥ जीवदेहांचे आप्तवादापासीं। धनंजयो राहिला वस्तीसी। जीवें सांडिल्या शरीरासी। मुहूर्तार्ध देहासी तो वांचवी॥२२॥ स्वाधिष्ठानाहोनि जाण। अनुक्रमें दशधा होती प्राण। त्यांचें स्थान मान उपलक्षण। तुज म्यां जाण सांगीतलें॥२३॥ मागें म्यां सांगितली गोष्टी। प्राणापान रुसल्यापाठीं। दोघां अद्यापि नाहीं भेटी। महाहटी छांदस॥२४॥ त्या दोघांसी करी बुझावण। तो माझा पढियंता तूं जाण। त्या सर्वस्व दें मी आपण। योगसाधन या नांव॥२५॥ उद्धवा प्राणलक्षणें सांगतां। अवचटें प्राणापानसमता। प्रसंगीं आली कथा। त्वांही स्वभावातां ऐकावी॥२६॥ स्वाधिष्ठानाहूनि मणिपुरा येतां। जीवामनांसी एकात्मता। सूक्ष्मप्राण तेथ वसतां। परेच्या ऐक्यता पश्यंती॥२७॥ तेथ

मनाचें खेळुगेपण। कुमार अवस्था बाणली जाण। तंव डोलत पुढें चाले प्राण। अनाहतस्थान ठाकिलें॥ २८॥ धरोनि पश्यंतीचें अनुसंधान। मध्यमा वाचा उपजे जाण। मौनाची मिठी न सोडून। करी गुणगुण आपणांत॥ २९॥ तेथ मनाची पौगंड अवस्था। मागें पुढें सांभाळितां। वांछी नाना भोग अवस्था। लाजा सर्वथा बोलेना॥ ३३०॥ मग वेगें ठाकिलें विशुद्धिस्थान। तेथ उसळत उदान झाला प्राण। तंव मनासी तारुण्यपण। पुरतें जाण बाणलें॥ ३१॥ त्या विशुद्धचक्राप्रती। परा मिळोनि आंतौती। पश्यंती मध्यमा एक होती। वाचा घुमघुमती झणत्कारें॥ ३२॥ त्या झणत्कारापरिपाठीं। वक्त्रीं वाचा तत्काळ उठी। तारुण्यें उन्मत्त झाली मोठी। त्या स्वरवर्ण चावटी मांडिली॥ ३३॥ आज्ञाचक्र भ्रूस्थान। तें याहूनि वेगळें जाण। तेथें वाचेसी नाहीं गमन। हंसलक्षण योग्यांचें॥ ३४॥ हीं साही चक्रें अनुक्रमें जाण। चार मातृका अठ्ठावीस वर्ण। सोळाही स्वर संपूर्ण। हंसलक्षण योगियांचें॥ ३५॥ कोण चक्रीं कोण वर्ण। मातृकांचें कोणतें स्थान। कोठें उठती स्वर संपूर्ण। तेंही लक्षण अवधारीं॥ ३६॥ आधारचक्रीं चतुर्दळ उभारा। तेथ न्यसिल्या चारी मात्रा। व श ष स या अक्षरां। बोलिजे मात्रा शास्त्रज्ञीं॥ ३७॥ स्वाधिष्ठान षड्दळ जेथ। साही वर्ण स्थापिले तेथ। बकरादि लकारान्त। जाण निश्चित ते स्थानीं॥ ३८॥ मणिपूर दशदळ निश्चित। दहा वर्ण स्थापिले तेथ। डकारादि फकारान्त। वर्ण नांदत ते चक्रीं॥ ३९॥ अनाहतचक्र द्वादशदळयुक्त। बारा वर्ण न्यसिले तेथ। ककारादि ठकारान्त। वर्ण विराजत ते चक्रीं॥ ३४०॥ विशुद्धिचक्रींच्या सोळा दळां। अ इ उ ऋ ऌ हे वर्ण सोळा। कंठस्थानीं मीनला मेळा। यांचा वेदीं आगळा प्रताप॥ ४१॥ आज्ञाचक्र अति अवघड। नुघडे काकीमुखाचें कवाड। न चले प्राणांची चडफड। मार्ग अतिगूढ लक्षेना॥ ४२॥ तें आज्ञाचक्र गा द्विदळ। केवळ हंसाचें राउळ। तेथ पावावया योगबळ। अतिप्रबळ पाहिजे॥ ४३॥ हें स्थान पावावयासाठीं। योगी झाले महाहटी। अभ्यास करितां अतिसंकटीं। तेही शेवटीं न पावती॥ ४४॥ हें पावावया माझें स्थान। अतिगुह्य आहे अनुष्ठान। सोहंहंसाचें साधन। सावधान जो साधी॥ ४५॥ प्राणाचेनि गमनागमनें। सोहंहंसाचेनि स्मरणें। सावधानें जो साधूं जाणे। तेणें पावणें हें स्थान॥ ४६॥ त्यासीचि पवनजयो घडे। तोचि आज्ञाचक्रामाजीं चढे। तेथूनिही मार्ग काढी पुढें। अतिनिवाडें अचूक॥ ४७॥ तेथ नानाभोगसमृद्धिफळें। आणिती ऋद्धिसिद्धींचें पाळें। तें डावलूनियां सकळें। निघे निर्मळें निजपंथें॥ ४८॥ जो कां ऋद्धिसिद्धींसी भुलला। मी सिद्ध ये श्लाघे आला। तो आज्ञाचक्रावरोनि चेवला। केल्या मुकला कष्टासी॥ ४९॥ ज्यासी वैराग्य असे सपुरतें। तो कदा भुलेना सिद्धीतें। लाता हाणोनि भोगमान्यतेतें। निघे निजपंथें मजलागीं॥ ३५०॥ तैं औटपीठ गोल्हाट। सांडूनि भ्रमरगुंफा कचाट। शोखूनि सहस्रदळाचे पाट। मजमाजीं सुभट मिसळले॥ ५१॥ सांगतां आज्ञाचक्राची संस्था। पुढें गोडी लागली योगपंथा। मागील विसरलों जी कथा। क्षमा श्रोतां करावी॥ ५२॥ म्हणाल वाहवटीं पडला मासा। तो परतेना जेवीं सहसा। ग्रंथनिरूपणीं तूं तैसा। जल्पू वायसा कां करिसी॥ ५३॥ जेवीं चुकलिया बाळकातें। माता शिकवण दे त्यातें। तेवीं तुमचें वचन मातें। निजहितातें द्योतक॥ ५४॥ करितां चक्रांचें निरूपण। योगारूढ झालें मन। विसरोनि मागील निरूपण। गेलें निघून शेवटां॥ ५५॥ हें ऐकोनि हांसिले श्रोते। तूं कर्ता नव्हसी येथें। हें कळोनि गेलें आमुतें। नको परिहारातें उपपादूं॥ ५६॥ आलोडितां ग्रंथकोडी॥ न कळे योगज्ञानाची गोडी। ते तुवां विशद केली फुडी। निजपरवडीविभागें॥ ५७॥

तुझेनि मुखें कृष्णनाथें। श्रीभागवत जें कठिण होतें। तें अर्थविलें यथार्थें। सत्य आमुतें मानलें॥५८॥ हा बारावा अध्यावो। अतिगूढ बोलिला देवाधिदेवो। तेथींचाही त्वां अभिप्रावो। विशद पहा हो विवरिला॥५९॥ ऐसा संतीं करोनि आदरू। निर्भय दिधला नाभिकारू। एका जनार्दनीं हर्षनिर्भरू। केला नमस्कारू संतांसी॥३६०॥ 'वैखरी मात्रा स्वर वर्ण'। या पदांचें झालें व्याख्यान। तेंचि दृष्टांतें श्रीकृष्ण। उद्धवासी जाण सांगतू॥६१॥ सूक्ष्म जीवशिवांचें मूळ। तोचि वाग्द्वारा झाला स्थूल। येचि अर्थीं अतिविवळ। करूनि प्रांजळ सांगत॥६२॥

यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी॥१८॥

अव्यक्तरूपें ऊष्मा गगनीं। व्यापकपणें असे वन्ही। तो अरणीमाजीं मथितां मंथनीं अतिसूक्ष्मपणीं प्रकटला॥६३॥ अनळा अनिळ निजसखा। कोमळ तूळें फुंकितां देखा। दिसे लखलखीत नेटका। ज्वाळा साजुका कोंवळिया॥६४॥ तेथ पावला दशा मध्यम। मग हवनद्रव्यें करितां होम। तेणें थोरावला निरुपम। वाढला व्योमचुंबित॥६५॥ तैसा सूक्ष्म नाद शिवसंयोगें। प्राणसंगमें लागवेगें। षटचक्रादिप्रयोगें। वैखरीयोगें अभिव्यक्त॥६६॥ मरा हे ऐकतां गोठी। ते वाचा सर्वांशें वाटे खोटी। तेंचि अक्षरें केल्या उफराटीं। रामनामें गोमटी निववी वाचा॥६७॥ करितां सुष्ठु दुष्टु उच्चार। वर्ण नव्हती क्षर अक्षर। यालागीं नांव तें अक्षर। यापरी पवित्र ते वाणी॥६८॥ जैशी वाचेची अभिव्यक्ती। तैशीच इतर इंद्रियप्रवृत्ती। संक्षेपें तेही स्थिती। उद्धवाप्रती सांगतू॥६९॥

एवं गदिः कर्म गतिर्विसर्गो घ्राणो रसो दृक् स्पर्शः श्रुतिश्च।
सङ्कल्पविज्ञानमथाभिमानः सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः॥१९॥

जैशी वाचेची व्युत्पत्ती। तैशीच कर्मेंद्रियांची प्रवृत्ती। चरणांच्या ठायीं गती। ग्रहणशक्ती हस्तांची॥३७०॥ विसर्ग जाण पायूचा। सुखोद्रेक तो लिंगाचा। कर्मेंद्रियीं पांचवी वाचा। विस्तारू तिचा सांगीतला॥७१॥ तैशींच जाण ज्ञानकरणें। दृष्टी उठी देखणेपणें। रसना रसातें चाखों जाणे। श्रवणा श्रवणें अधिकारू॥७२॥ शीत उष्ण मृदु कठिण। हें त्वगिंद्रियाचें लक्षण। सुगंध दुर्गंध जाणतेपण। घ्राण विचक्षण ते कर्मीं॥७३॥ संकल्प विकल्प मनाचे। निश्चयो कर्म बुद्धीचें। चिंतन जाण चित्ताचें। अहंकाराचें मीपण॥७४॥ सूत्र तंव प्रधानाचें। विकार रजतमसत्त्वांचे। संक्षेपें विवरण तिहींचें। ऐक साचें सांगेन॥७५॥ आधिदैव आधिभौत। ज्यासी आध्यात्म म्हणत। वाढला जो प्रपंचू येथ। ईश्वराचें अभिव्यक्त स्वरूप जाण॥७६॥ जगाचें मूळकारण। अंगें ईश्वरचि आपण। त्या कारणाहूनि कार्य भिन्न। नव्हे जाण सर्वथा॥७७॥ हो कां घृताची एके काळीं। थिजोनि झालिया पुतळी। ते घृताहोनि वेगळी। नाहीं देखिली प्रत्यक्ष॥७८॥ काष्ठाचा घोडा केला। अंगें ठाणें अति मिरविला। तो काष्ठपणा नाहीं मुकला। सर्वांगें शोभला काष्ठत्वें॥७९॥ त्याचे पाहतां वेगळाले अवयव। खूर खांद काष्ठचि सर्व। तेवीं महाभूतें गुणप्रभव। स्वरूप सावेव शिवाचें॥३८०॥ सुवर्णाचें झालें लेणें। तें जेवीं मिरवे सोनेपणें। तेवीं महाभूतें विषयकरणें। अभिन्नपणें शिवरूप॥८१॥ फडा पुच्छ वांकुडा बाग। येणें आकारें म्हणती नाग। तो नाग नव्हे सोनेंचि चांग। तेवीं हें जग मद्रूप॥८२॥ प्रपंच ईश्वरासी अभिन्न। येचि अर्थीं नारायण। उद्धवासी सांगें आपण। अभिन्नपण जीवशिवां॥८३॥

अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनिरव्यक्त एको वयसा स आद्यः।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति बीजानि योनिं प्रतिपद्य वद्वत्॥ २०॥

जीवाचा जीवू आपण। यालागीं बोलिजे शिवपण। जीवशिवरूपें हा भिन्न। जीवत्व जाण या हेतू॥८४॥ सागरु आपुल्या अंगावरी। वर्तुळ आवर्त करी धरी। तेवीं लोकपद्मातें श्रीहरी। करी धरी निजनाभीं॥८५॥ 'त्रिवृदब्ज' म्हणिजे यापरी। त्या नाभिकमळामाझारीं। स्वलीला त्रैलोक्यातें धरी। पद्मनाभ श्रीहरी या हेतू॥८६॥ सुवर्णाच्या सिंहासनीं। सुवर्णमूर्ती बैसवूनी। पूजिजे सुवर्णसुमनीं। एकपणें तीन्ही भासती॥८७॥ तेवीं नाभिपद्मीं त्रैलोक्य धरितां। तिहींतें भासवी अभिन्नता। यालागीं पद्मनाभ तत्त्वतां। आलें वाक्पथा श्रुतीचिया॥८८॥ दृति मार्दवें पिंवळी। एकली भासे चांपेकळी। तेचि विकासे जेवीं नाना दळीं। तेवीं मी वनमाळी लोकत्वें॥८९॥ हें नसतां कार्यकारण। यापूर्वी मी अव्यक्त जाण। जो मी प्रमाणांचाही प्रमाण। भेदें जेथ आण वाहिली॥३९०॥ हेतु मातु दृष्टांत। रिघों न शके ज्याच्या गांवांत। अपार अनादि अनंत। आद्य अव्यक्त मी ऐसा॥९१॥ एवं केवळ जें अभेद। तेथें कैंचे त्रिविध भेद। जेथ लाजोनि परतले वेद। स्वरूप शुद्ध तें माझें॥९२॥ तो न मेळवितां साह्यमेळू। स्वलीलाक्षोभें क्षोभक काळू। स्वशक्तीनें झालों सबळू। शक्तिबंबाळू चेतविला॥९३॥ ते निजशक्तीचे विभाग। म्यांचि विभागिले चांग। त्या विभागांचे भाग। ऐक साङ्ग सांगेन॥९४॥ गुणशक्ति देवताशक्ती। मनःशक्ति इंद्रियशक्ती। महाभूतांची भूतशक्ती। एथ क्रियाशक्ती मुख्यत्वें॥९५॥ जीवापासाव अदृष्टशक्ती। झाली अनिवार त्रिजगतीं। हरिहरां नावरे निश्चितीं। अदृष्टशक्ती अनिवार॥९६॥ जें अदृष्टशक्तीनें जिवातें। बांधोनि केलें आपैतें। तिसी आवरावया मातें। सामर्थ्य येथें आथीना॥९७॥ जेवीं कां राजाज्ञा जाण। राजा प्रतिपाळी आपण। तेवीं अदृष्टशक्तिउल्लंघन। मी सर्वथा जाण करींना॥९८॥ जीभ कापूनि देवासी वाहती। तैसें नासिक न छेदिती। तेवीं मी छेदीं कर्मस्थिती। परी अदृष्टगती छेदींना॥९९॥ अथवा विशेषेंसीं निश्चितीं। मीं माया आलिंगिली निजशक्ती। तो मी एकूचि त्रिजगतीं। बहुधाव्यक्तीं आभासें॥४००॥ माझिया साक्षात्कारा आला। जो जीवन्मुक्तत्व पावला। तोही अदृष्टें बांधला। वर्तें उगला देहगेहीं॥१॥ जनकू राजपदीं नांदे। शुक नागवा प्रारब्धें। कळी लाविजे नारदें। अदृष्ट छंदें विनोदी॥२॥ वसिष्ठ पुरोहितत्व करी। भीष्म पहुडे शरपंजरीं। याज्ञवल्क्या दोनी नारी। अदृष्टाकारीं वर्तत॥३॥ यापरी गा अदृष्टशक्ती। अनिवार वाढली त्रिजगतीं। त्या जीव बांधले अदृष्टगतीं। जेवीं गारोडियाहातीं वानर॥४॥ त्या जीवादृष्टें बहुधा व्यक्ती। मी एक भासें त्रिजगतीं। 'विश्वतश्चक्षु' या श्रुतीं। बहुधामूर्ती मी एक॥५॥ मृत्तिकेचीं गोकुळें केलीं। नाना नामाकारें पूजिलीं। परी ते मृत्तिकाचि संचली। तेवीं सृष्टि झाली मद्रूपें॥६॥ जेवीं एकला एकु आपण निद्रेसी देतां आलिंगन। स्वप्नीं देखे बहुविध आपण। तेवीं मी जाण विश्वात्मा॥७॥ जेवीं सूक्ष्म वटबीज केवळ। त्यासी मीनल्या भूमिजळ। वाढोनियां अतिप्रबळ। वृक्ष विशाळ आभासे॥८॥ तेथ नाम रूप पुष्प फळ। तें बीजचि आभासे समूळ। तेवीं जगदाकारें सकळ। भासे केवळ चिदात्मा॥९॥ जे कां मूळ बीजाची गोडी। तोचि स्वाद वाढला वाढी। कांडोकांडीं स्वादुपरवडी। अविकार गोडी ऊंसाची॥४१०॥ तेवीं मूळीं चिदात्माचि कारण। तेथूनि जें जें तत्त्व झालें जाण। तें तें निखळ चैतन्यघन। जग संपूर्ण चिद्रूप॥११॥ ऊंस सर्वांगें बीज सकळ। बीजरूपें ऊंस सफळ।

तेवीं जगाचें चिन्मात्र मूळ। जाण सकळ तें चिद्रूप॥ १२॥ बीज ऊंस दोनी एकरूप। तैसा प्रपंच जाण चित्स्वरूप। येचि अर्थीं अतिसाक्षेप। कृपापूर्वक सांगत॥ १३॥

यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः।

यालागीं संसार जो समस्त। माझ्या ठायीं असे ओतप्रोत। मजवेगळें कांहीं येथ। नाहीं निश्चित अणुमात्र॥ १४॥ येचि अर्थींचा दृष्टांतू। देवो उद्धवासी सांगतू। जेवीं कापुसाचे सूक्ष्मतंतू। कांतोनि निश्चितू पटु केला॥ १५॥ आडवेतिडवे विणले तंतू। त्यांसी वस्त्र नाम हे मृषा मातू। तेवीं संसारशब्द हा व्यर्थू। स्फुरें भगवंतू मी तद्रूप॥ १६॥ पाहतां सूतचि दिसे उघडें। त्यांचें नाम म्हणती लुगडें। प्रत्यक्ष चैतन्य स्फुरतां पुढें। त्यासी संसारु वेडे म्हणताती॥ १७॥ सुतावेगळें वस्त्र न दिसे। मजवेगळा प्रपंचु नसे। उद्धवा अप्राप्ताचें भाग्य कैसें। मीचि नसें म्हणताती॥ १८॥ यापरी मी सर्वगत। विश्वात्मा विश्वभरित। वृक्षदृष्टांतें प्रस्तुत। तुज म्यां येथ सांगीतलें॥ १९॥ मज देखणा ज्याचा निर्धारू। त्यासी मी केवळ सर्वेश्वरू। मज अप्राप्त जो नरू। त्यासी संसारू आभासे॥ ४२०॥ जो सर्वात्मा सर्वेश्वरू। भ्रांतासी भासे भवतरुवरू। त्या भवतरूचा विस्तारू। स्वयें श्रीधरू सांगत॥ २१॥

य एष संसारतरुः पुराणः कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते॥ २१॥

भ्रांतीस्तव भवतरुवरू। कर्माकर्मजळें वाढला थोरू। जीर्ण जुनाट अपरंपारू। ओतंबरू फळपुष्पीं॥ २२॥ त्याचें कोण बीज कोण मूळ। कोण रसू कोण फळ। जेणें भ्रमले जीव सकळ। तें मी समूळ सांगेन॥ २३॥

द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥ २२॥

भ्रमभूमीमाजिवडें। पापपुण्यजोडपाडें। बीज पडतांचि वृक्ष विरूढे। अग्रीं वाढे कल्पना॥ २४॥ पान फूल न दिसे फळ। वेलाअंगीं दोरवा सकळ। तेणेंचि वेला वाढ प्रबळ। तेवीं संसार सबळ कल्पनाग्रें॥ २५॥ कर्माकर्मप्रवाहजळें। भरिलें अविद्येचें आळें। अनंत वासना तेचि मूळें। वृक्ष तेणें बळें ढळेना॥ २६॥ सूक्ष्म वासना कल्पकोडी। अधोगती रुतल्या बुडी। संकल्पविकल्पें चहूंकडीं। पसरल्या बुडीं बुचबुचित॥ २७॥ संचितक्रियमाण वापे भारी। सुबद्ध भरले जळेंकरीं। भरिलेच मागुते भरी। प्रवाहो त्यावरी पडलासे॥ २८॥ तेणें वृक्ष सबळ भारी। नित्य नूतन वाढी धरी। सगुण गुणाचे वाढीवरी। त्रिगुण अहंकारीं त्रिनाळ॥ २९॥ त्रिगुणगुणांची परवडी। येरांची येरांमाजीं मुरडी। येरयेरांवरी बुडी। मिसळे वाढीं वाढती॥ ४३०॥ पंचभूतांच्या खांद्या थोरी। प्रपंच वाढल्या बाहेरी। पसरल्या येरयेरांवरी। मीनल्या परस्परीं वाढती॥ ३१॥ समूळ गर्भ साधूनि रुखा। मनोमय वाढलिया शाखा। अग्रीं दशेंद्रियफांटे देखा। तिच्या झुळका डोलती॥ ३२॥ त्या त्या शाखांमाजीं देखा। दैवतें आलीं वस्तीसुखा। करूनि कर्माचा आवांका। आपुलाली शाखा ते धरिती॥ ३३॥ दशधा वायूची झडाड। तेणें तें डोलत दिसे झाड। त्यामाजीं दों पक्ष्यांचें नीड। अतिगूढ अतर्क्य॥ ३४॥ जेथूनि उपजे निजज्ञान। तेंचि नीड हृदयभुवन। जीवू परमात्मा दोघेजण। अतर्क्य पूर्ण वसताती॥ ३५॥ जीवू जो देहाभिमानी। परमात्मा जो निरभिमानी। इंहीं दोघींजणीं मिळोनी। हृदयभुवनीं नीड केलें॥ ३६॥ जीव संकल्पविकल्पप्राप्ती। परमात्मा निर्विकल्पस्थिती। दोहींची हृदयामाजीं वस्ती। नीड निश्चितीं या हेतू॥ ३७॥ पाहें पां वात पित्त

श्लेष्मा। या आंतरत्वचा भवद्रुमा। वल्कलें म्हणावयाचा महिमा। भक्तोत्तमा या हेतू॥३८॥ गगनाहूनि वाढला वरुता। शून्यासहित लांबला आरुता। सैंघ पसरला सभोंवता। दिशांच्या प्रांता सांडूनी॥३९॥ एवं विस्तारलेनि विस्तारा। वृक्ष उन्मळोनि मदभरा। पंचरसांच्या विषयधारा। अतिमधुरा वर्षतू॥४४०॥ श्रुति-स्मृति हींच पानें। त्यामाजीं उगवलीं स्वर्गसुमनें। दीक्षितभ्रमर ज्यांकारणें। अतिसत्राणें उडताती॥४१॥ त्या वृक्षाचीं जावळीं फळें। सुखदु:ख दोनी एके मेळें। शेंडा धरोनि समूळें। दोनींचि फळें पैं त्यासी॥४२॥ जितुकीं सूर्यमंडळें भासती। तितुकी जाण याची स्थिती। सुखदु:खफळें तितुक्यांप्रती। कर्मप्राप्ती देतुसे॥४३॥ सूर्यमंडळाआरुतें। सांगीतलें भववृक्षातें। चंद्रमंडळादि समस्तें। भवभय तेथें नाहीं न म्हण॥४४॥ मी सूर्यमंडळमध्यवर्ती। त्या मजवेगळी जे स्फुरे स्फूर्ती। तेथवरी भवभयाची प्राप्ती। जाण निश्चितीं उद्धवा॥४५॥ सूर्याचें जें सूर्यमंडळ। तेंही संसारामाजीं केवळ। जो न खाय या वृक्षाचें फळ। तोचि रविमंडळभेदक॥४६॥ वृक्षाचीं दोनी फळें येथें। दोहों फळांचे दोघे भोक्ते। दोघे संसाराआंतौते। ऐक तूतें सांगेन॥४७॥

अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासा:।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्॥२३॥

दु:खफळाचे भोक्ते। अत्यंत विषयासक्त चित्तें। गीध गृहस्थ कां जे येथें। अविधीं विषयांतें सेविती॥४८॥ ग्राम्य विषयीं अतितत्पर। यालागीं बोलिजे ग्रामचर। ग्रामगीध जैसे घार। तैसे सादर विषयांसी॥४९॥ जेवीं कां घार गगना चढे। तेथूनि आविसा उडी पडे। तेवीं नरदेह पावोनि चोखडे। विषयीं झडपडे झोंबती॥४५०॥ एवं विषयासक्त जे चित्तें। जे अधोगतीतें पावते। ते दु:खफळाचे भोक्ते। जाण येथें निश्चित॥५१॥ सांडोनियां गार्हस्थ्य। वनवासी वानप्रस्थ। त्यांसचि सुखफल प्राप्त। जाण निश्चित उद्धवा॥५२॥ त्या सुखफळाचे विभाग। ब्रह्मसदनान्त इतर स्वर्ग। कर्में करूनियां सांग। जेथींचा मार्ग चालिजे॥५३॥ ब्रह्मचर्यें वेदाध्ययन। गार्हस्थ्यें पूजिते अग्निब्राह्मण। वानप्रस्थाश्रमीं जाण। वन्यफळभोजन वनवासी॥५४॥ येणें क्रमेंचि क्रममुक्तिस्थान। जिंहीं ठाकिलें ब्रह्मसदन। सुखफळाचे भोक्ते ते जाण। ब्रह्मभुवननिवासी॥५५॥ इतर स्वर्गीं सुखप्राप्ती। जेथें आहे पुनरावृत्ती। ब्रह्मसदनीं पावल्या वस्ती। त्यांसी क्रमें मुक्ती होईल॥५६॥ मूळींचें पद 'अरण्यवासी'। तेणें द्योतिलें वानप्रस्थासी। तेथ नाहीं घेतला संन्यासी। त्यासी वनवासी म्हणों न ये॥५७॥ संन्याशांसी निवासस्थान। वेदीं बोलिलें नाहीं जाण। तिंहीं स्वदेहाचें केलें दहन। नेमिलें स्थान त्यां नाहीं॥५८॥ जे अविद्यादिकर्मप्रवृत्ती। विरजाहोमीं स्वयें जाळिती। ते भववृक्षाचीं फळें खाती। हेही युक्ती घडेना॥५९॥ जागृतीच्या पाहुण्यासी। जेवूं धाडावें स्वप्नगृहासी। तेवीं न्यस्तसंकल्प संन्यासी। संसारसुखासी केवीं भोक्ते॥४६०॥ स्वकर्म जाळोनि विरजाहोमीं। जिंहीं साध्य केलें ब्रह्माहमस्मि। त्यांसी निवासस्थान कोण नेमी। वनीं ग्रामीं नेमस्त॥६१॥ बिढार द्यावया आकाशासी। कोण घर नेमावें त्यासी। तेवीं न्यस्तसंकल्प संन्यासी। त्यांच्या निवासासी कोण नेमी॥६२॥ जे न्यस्तसंकल्प संन्यासी। त्यांसी कोण म्हणे अरण्यवासी। मायिक भववृक्षींच्या फळासी। भोक्ते त्यांसी म्हणों नये॥६३॥ मूळींचें पद 'अरण्यवासी'। तें भागा आलें वानप्रस्थासी। वानप्रस्थ सदा वनवासी। दुसऱ्या फळासी तो भोक्ता॥६४॥ ऐक संन्याशांची सुखप्राप्ती। दोनी फळें मिथ्या जाणती। मीचि एक त्रिजगतीं। हे प्रतीति निश्चितीं त्यां

झाली॥६५॥ जो हा बहुरूपें विस्तारू। तो मी चिदात्मा साचारू। जाणोनि गुरुमुखें निर्धारू। माझें सुख साचारू पावले॥६६॥ ते मद्रूपें मज पावले। माझेनि सुखें सुखरूप झाले। सुखदु:खफळांतें मुकले। येवों चुकले संसारा॥६७॥ संसार मायामय मिथ्याभास। जाणे तोचि वेदज्ञ विद्वांस। त्यासीच बोलिजे परमहंस। विश्वनिवासनिवासी॥६८॥ ऐशी होआवया पदप्राप्ती। सुदृढ करावी गुरुभक्ती। तेणें होय संसारनिवृत्ती। तेंचि श्रीपती सांगत॥६९॥ पहिली सांगितली सतसंगती। तेणें जाहली मत्पदप्राप्ती। तेचि अध्यायाच्या अंतीं। करावी गुरुभक्ती सांगतू॥४७०॥

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीर:।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्त: सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम्॥२४॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे द्वादशोऽध्याय:॥९२॥

न करितां सद्गुरुभजन। नव्हे भववृक्षाचें छेदन। जरी कोटिकोटी साधन। आनेआन केलिया॥७१॥ भववृक्षातें छेदिती। केवळ जाण गुरुभक्ती। अरिनिर्दळणी निश्चितीं। जेवीं निजशक्ति शूरांची॥७२॥ दूरी करावया दुरित। जेवीं गंगाजळ समर्थ। तेवीं भवभया भस्म करीत। जाण निश्चित गुरुभक्ति॥७३॥ करितां सत्यव्रतग्रहण। पाप स्वयें जाय पळोन। तेवीं करितां गुरुभजन। भवनिर्दळण स्वयें होय॥७४॥ हनुमंत देखतां दिठीं। भूतें पळती बारा वाटीं। तेवीं गुरुभजनपरिपाटीं। पळे उठाउठी भवभय॥७५॥ मरतां घडे अमृतपान। तैं मरणासचि आलें मरण। तेवीं करितां गुरुभजन। जन्ममरण निमालें॥७६॥ अंतीं अवचटें हरि म्हणतां। पांपरा हाणे यमदूतां। तेवीं सद्गुरूतें भजतां। हाणे लाता भवभया॥७७॥ करावया भवनिर्दळण। मुख्य करावें गुरुभजन। हेंचि श्रेष्ठ गा साधन। सभाग्य जाण गुरुभक्त॥७८॥ कोण सद्गुरु कैशी भक्ती। ऐसें कांहीं कल्पिसी चित्तीं। तेही मी यथानिगुतीं। मागां तुजप्रती सांगीतली॥७९॥ जो शब्दपरनिष्णात। शिष्यप्रबोधनीं समर्थ। तोचि सद्गुरु येथ। जाण निश्चित उद्धवा॥४८०॥ जो स्वरूपीं करी समाधान। तोचि सद्गुरु सत्य जाण। त्यावेगळें सद्गुरुपण। होआवया कारण असेना॥८१॥ त्या सद्गुरुभजनाची परी। तुज मी सांगेन निर्धारीं। सर्व कर्मधर्मांचिया शिरीं। जो कां करी गुरुभजन॥८२॥ गुरु म्हणों पित्यासमान। तंव तो एकजन्मींचा जाण। हा मायबापू सनातन। जनक पूर्ण जगाचा॥८३॥ गुरु मातेसमान पाहों। तंव गर्भजन्में तिचा स्नेहो। गर्भवास निवारी गुरुरावो। अधिक स्नेहो पुत्रापरिस॥८४॥ उदराबाहेर पडल्यापाठीं। पुत्रस्नेहें माता उठी। तें बाहेरील घालूनि पोटीं। स्नेहें गोमटी गुरुमाता॥८५॥ गुरु मानूं स्वामीसमान। स्वामी निवारूं न शके मरण। सद्गुरु चुकवी जन्ममरण। स्वामी संपूर्ण गुरुरावो॥८६॥ गुरु मानूं कुलदेवता। तंव तिसी कुलधर्मी पूज्यता। हा कुलदेवतेची देवता। नित्य पूज्यता निजकर्मी॥८७॥ गुरु मानूं कल्पतरूसमान। तंव कल्पतरु दे कल्पिलें दान। सद्गुरु दे निर्विकल्पता पूर्ण। अगाध दान निर्लोभें॥८८॥ चिंतामणी दे चिंतिल्या अर्था। सद्गुरु करी चिंतेच्या घाता। चित्ता मारूनि दे चैतन्यता। अक्षयता निजदान॥८९॥ कामधेनूचें दुभतें। तें कामनेचपुरतें। सद्गुरु दुभे स्वानंदार्थें। कामनेतें निर्दळी॥४९०॥ गुरुसमान म्हणों सागरू। तो गंभीर परी सदा क्षारू। हा स्वानंदें नित्य निर्भरू। अतिमधुरू निजबोधें॥९१॥ गुरु परब्रह्मसमान। हेंही बोलणें किंचित न्यून। गुरुवाक्यें ब्रह्म सप्रमाण। येरवीं ब्रह्मपण शब्दमात्र॥९२॥ शब्दीं लोपूनि शब्दार्था। गुरु प्रबोधी संविदर्था।

त्याहूनि पूज्य परता। नाहीं सर्वथा त्रिलोकीं॥९३॥ गुरु माता गुरु पिता। गुरु स्वामी कुळदेवता। गुरूवांचोनि सर्वथा। आणिक देवता स्मरेना॥९४॥ थोर मांडलिया सांकडें। जैं गगन गडगडूनि पडे। तैं न पाहे आणिकाकडे। नाम पढे गुरूचें॥९५॥ काया वाचा मनें प्राणें। जो गुरूवांचोनि आन नेणे। तैसाचि भजे अनन्यपणें। गुरुभक्ति म्हणणें त्या नांव॥९६॥ पक्षिणीचीं अपक्ष पिलें। तीं तिसीच स्मरती सर्वकाळें। तेवीं जागृति-स्वप्न-सुषुप्तिमेळें। जो गुरुवेगळें स्मरेना॥९७॥ मागां सांगीतलें भगवद्भजन। आतां सांगसी गुरुसेवन। नाहीं एकविध निरूपण। ऐसा विकल्प जाण न धरावा॥९८॥ सद्गुरु तोचि माझी मूर्ती। निश्चयेंसीं जाण निश्चितीं। विकल्प न धरावा ये अर्थीं। अनन्यभक्ति या नांव॥९९॥ एकाग्रता जें गुरुभजन। तेंचि माझें परमपूजन। गुरूसी मज वेगळेपण। कल्पांतीं जाण असेना॥५००॥ गुरु भगवंत दोन्ही एक। येणें भावें निजनिष्टंक। भजे तोचि गुरुसेवक। येरू तो देख अनुमानी॥१॥ माझिया ऐक्यता अतिप्रीतीं। जेणें आदरिली गुरुभक्ती। तोचि धन्यधन्य त्रिजगतीं। भजती स्थिती तें ऐक॥२॥ करावया गुरुसेवे। मनापुढें देह धांवे। एकला करीन सर्व सेवे। येवढे हांवे उद्यतू॥३॥ सेवेच्या दाटणी जाण। अधिकचि होय ठाणमाण। अंग अंगऊनि अंगवण। सेवेमाजी जाण विसांवा त्यासी॥४॥ सेवेचिया आवडीं। आरायेना अर्धघडी। आवडीचे चढोवढी। चढती गोडी गुरुभजनीं॥५॥ नित्य करितां गुरुसेवा। प्रेमपडिभरू नीच नवा। सद्भावाचिया हांवा। गुरुचरणीं जीवा विकिलें॥६॥ आळसु येवोंचि विसरला। आराणुकेचा ठावो गेला। गुरुसेवासंभ्रमें भुलला। घेवों विसरला विषयांतें॥७॥ तहान विसरली जीवन। क्षुधा विसरली मिष्टान्न। करितां गुरुचरणसंवाहन। निद्रा जाण विसरला॥८॥ जांभयी यावयापुरती। सवडी उरेना रिती। तेथें निद्रेलागीं केउती। राहावया वस्ती मिळेल॥९॥ मुखीं सद्गुरूचें नाम। हृदयीं सद्गुरूचें प्रेम। देहीं सद्गुरूचें कर्म। अविश्रम अहर्निशीं॥५१०॥ गुरुसेवेसी गुंतलें मन। विसरला स्त्री पुत्र धन। विसरला मनाची आठवण। मी कोण हें स्फुरेना॥११॥ नवल भजनाचा उत्सावो। भजतां नाठवे निजदेहो। थोर सेवेचा नवलावो। निजात्मभावो गुरुचरणीं॥१२॥ ऐसाही प्रारब्धमेळा। अवचटें झालिया वेगळा। न तुटे प्रेमाचा जिव्हाळा। भजनीं आगळा सद्भावो॥१३॥ गुरूचा वसता जो ग्राम। तेथेंचि वसे मनोधर्म। गुरुध्यान तें स्वधर्मकर्म। सेवासंभ्रम सांडीना॥१४॥ गुरुमूर्तीची सवे त्यासी। ते मूर्ति बैसवी हृदयावकाशीं। मग नानाभजनविलासीं। आवडी कैशी भजनाची॥१५॥ चिन्मात्र पूर्णिमा गुरु पूर्णचंद्र। तळीं आपण होय आर्त चकोर। मग स्वानंदबोधाचे चंद्रकर। निरंतर स्वयें सेवी॥१६॥ सद्गुरु सूर्य करी चिद्गगनीं। आपण होय सूर्यकांतमणी। त्याचेनि तेजें प्रज्वळोनी। स्वभावें मायावनीं होळी करी॥१७॥ सद्गुरुकृपामृताच्या डोहीं। स्वयें तरंगू होय तये ठायीं। सबाह्य तद्रूपें पाहीं। भावना हृदयीं भावितु॥१८॥ आपुला निजस्वामी जो सद्गुरु। भावी निर्विकल्प कल्पतरू। त्याचे छाये बैसोनि साचारू। मागे वरू गुरुभक्ति॥१९॥ सद्गुरु कामधेनु करी जाणा। वत्सरूपें भावी आपणा। आवडीं चाटवी बोधरसना। स्वानंदपान्हा सेवितू॥५२०॥ तुझ्या सकळ वृत्तींची सेवा। म्यांचि करावी गा गुरुदेवा। ऐसें प्रार्थूनि सद्भावा। हा वरू मज द्यावा कृपानिधी॥२१॥ तेथ संतोषोनि गुरुनाथें। वरू दीधला वरदहस्तें। हर्षें वोसंडत चित्तें। धन्य मी वरातें लाधलों॥२२॥ ऐसी लाहोनि वरदस्थिती। तेचि सेवा आदरी प्रीतीं। अतिधन्य भावार्थ गुरुभक्ति। नाना उपपत्ती गुरुभजना॥२३॥ सद्गुरूचीं दहाही करणें। मनबुद्ध्यादि अंतःकरणें।

क्रियामात्र मीचि होणें। ऐसें जीवेंप्राणें भावितु॥ २४॥ सद्‌गुरु जे जे भोग भोगिती। ते मीचि होईन निश्चितीं। एवं मीचि एक गुरुभक्ती। दुजी स्थिती हों नेदीं॥ २५॥ सद्‌गुरु जेथें उभे ठाकती। तैं पायांतळीं मीचि क्षिती। सद्‌गुरु जेथें जेथें चालती। ते मार्गींची माती मी होईन॥ २६॥ चरणक्षालनासी समस्त। मीचि उदक मीचि तस्त। मीचि चरण प्रक्षालित। चरणतीर्थ मी सेवीं॥ २७॥ सद्‌गुरुचरणींचे रजःकण। मीचि होईन आपण। सद्‌गुरु करिती आरोहण। तें सिंहासन होईन मी॥ २८॥ सद्‌गुरुचें सिंहासन। तें मीचि होईन आपण। त्यावरी बैसतें आसन। तेंही जाण होईन मी॥ २९॥ सद्‌गुरूसी स्नेह लागे। तें मी होईन सर्वांगे। गुरूसी वोठंगावया पुढें मागें। मृदुळी सर्वांगें मी होईन॥ ५३०॥ मनींचा ऐसा आवांका। सद्‌गुरूच्या सिद्ध पादुका। त्या मी होईन देखा। नेदीं आणिकां आतळों॥ ३१॥ मी होईन गुरूच्या श्वासोच्छ्वासा। वेगीं बाहेर निघेन नासा। गुरु घेतील ज्या सुवासा। त्या त्या विलासा मी होईन॥ ३२॥ गुरु अवलोकिती कृपादृष्टी। त्या दृश्याची मी होईन सृष्टी। गुरूसी देखती देखणी पुष्टी। ते मी उठाउठीं होईन॥ ३३॥ गुरूसी आवडतें निरूपण। तें मी श्रवणीं होईन श्रवण। अथवा रुचेल जें कीर्तन। तें गाता गायन मी होईन॥ ३४॥ सद्‌गुरुमुखींची जे कथा। ते मी आदरें होईन तत्त्वतां। अक्षरीं अक्षर अक्षरार्था। मीचि सर्वथा होईन॥ ३५॥ सद्‌गुरु जेथ करिती स्नान। तें मी अंगस्पर्शनाचें जीवन। गुरु करिती जें आचमन। तेंही जाण होईन मी॥ ३६॥ गुरु परिधान करिती वास। तें मी होईन सुवास। गुरुचरण पुसावयास। तेंही धूतवास मी होईन॥ ३७॥ गुरूसी करिती विलेपन। तें मी होईन शुद्ध चंदन। चरणीं अर्पितें सुमन। मीचि जाण होईन॥ ३८॥ सद्‌गुरु करिती भोजन। तेथ मीचि ताट मीचि अन्न। रसस्वाद पंक्तिकारु जाण मी होईन॥ ३९॥ मथोनियां दहीं मथित। सारांश तें नवनीत। वैराग्यअग्निसंतप्त। भोजनीं मुख्य घृत मी होईन॥ ५४०॥ परिपाकीं स्वादिष्टपण। सर्वां चवींचें कारण। मी होईन वरी लवण। न्यून तें पूर्ण गुरु करिती॥ ४१॥ गुरु करिती प्राशन। तें मी होईन जीवन। सद्‌गुरूचें धालेपण। ते उद्‌गार जाण मी होईन॥ ४२॥ गुरूसी जें जें गोड लागे। ते ते पदार्थ मी होईन अंगें। सद्‌गुरूसी ज्याची रुचि लागे। तें मी सर्वांगें होईन॥ ४३॥ सद्‌गुरु आंचवती जेथ। मी उष्णोदक मी तस्त। शिंतोडे लागती जेथ जेथ। तेही समस्त होईन मी॥ ४४॥ गुरूसी अर्पिती जें फळ। तें मी होईन तत्काळ। गुरुअर्पणें सफळ। फळाचें फळ मी होईन॥ ४५॥ सद्‌गुरूचें घ्यावया उच्छिष्ट। मजचि मोठा लवलवाट। मांजर होऊनियां ताट। चरचराट चाटीन मी॥ ४६॥ गुरु करिती करोद्वर्तन। तो मी होईन सुगंधचंदन। मुखवासा सुवासपण। मीचि जाण होईन॥ ४७॥ फळाशा फोडूनि फोडी। वासनाशिरा काढूनियां विडी। रिघोनियां सद्‌गुरूच्या तोंडीं। तांबूलगोडी मी होईन॥ ४८॥ जाळूनियां अहंकठिणपणा। मी होईन सोहं शुद्ध चुना। शांतिपरिपक्क लागोनि पाना। सद्‌गुरुवदना पावेन॥ ४९॥ सर्व सारांचें शुद्ध सार। तो होईन खदिरसार। सद्‌गुरुमुखी रंगाकार। मीचि साचार शोभेन॥ ५५०॥ सद्‌गुरुमुखींचें पवित्र पीक। वरच्यावरी मी घेईन देख। पिकदाणीचे मुखाचें मुख। आवश्यक मीच होईन॥ ५१॥ गुरूचा उगाळू मी होईन। पीक पिकदाणी धरोनि जाण। चवरी जी मक्षिकानिवारण। ती मी होईन निजांगें॥ ५२॥ गुरूचा उगाळू घ्यावया देख। मी होईन आगळा सेवक। नातरी लडिवाळ बाळक। गुरुअंकीं देख मी होईन॥ ५३॥ माझिया गुणांची सुमनमाळा। आवडीं घालीन गुरूच्या गळां। गुरु झेलिती लीलाकमळा। त्या करकमळा मी होईन॥ ५४॥ गुरूसी नीराजन करिती। ते मी

निजतेजें उजळीन ज्योती। गुरु जेणें प्रकाशें चालती। ते दीपिकादीप्ति मी होईन॥५५॥ जीवभावाचें निंबलोण। गुरूसी मी करीन आपण। इडापीडा मी घेईन जाण। तें लोणलक्षण मज लागो॥५६॥ मी छत्र मी छत्राकारू। मी चवर मीचि चवरधरू। मीचि विंजणा मीचि विंजणवारू। गुरूचा परिवारू मी होईन॥५७॥ गुरु करिती आरोहण। तो मी होईन श्यामकर्ण। गुरूचा भरभार साहावया जाण। वाजीवाहन होईन मी॥५८॥ गुरूपुढें मी वाटसुभटू। गुणवर्णनीं मी गर्जता भाटू। गुरुगृहीं शांतिपाठू। पढता भटू मी होईन॥५९॥ मीचि बारी मी कव्हेरी। मी हडपी मी फुलारी। मी झाडणा मी खिल्लारी। मी द्वारपाळ द्वारीं होईन॥५६०॥ गुरु जेथें देती अवधान। ते ते कळा मी होईन जाण। गुरूवेगळा अर्धक्षण। गेला प्राण तरी न वचें॥६१॥ गुरु सांगती जे कथा। तेथ मी होईन सादर श्रोता। गुरुकृपा मी होईन वक्ता। निजात्मता बोलका॥६२॥ गुरु गंभीर दान देत। दीन मागतें मी होईन तेथ। गुरूचें निजगुज समस्त। करितां एकांत मी होईन॥६३॥ गुरु बैसती सावकाश। तैं मी होईन अवकाश। गुरुहृदयींचें चिदाकाश। निरवकाश मी होईन॥६४॥ गुरु बैसती आपण। तें मी होईन सुखासन। तें मीचि वाहेन आपण। भोई होईन चालणा॥६५॥ स्वामी सूनियां दिठी। चपळ पाउलांच्या नेटीं। चालेन मी उठाउठी। धुरेसी गोठी सांगत॥६६॥ आंतुले दृष्टीं पुढीले चालीं। गोवींचें पाऊल उगवोनि घालीं। उंच नीच भूमीची खोली। चुकवूनि चालीं चालेन॥६७॥ संकल्पविकल्पांचे झोंक। जाते वाम सव्य अनेक। ते आवरूनियां देख। पाहत श्रीमुख चालेन मी॥६८॥ न चुकतां निजमार्ग। न हालतां धुरेचें आंग। न करितां आणिकांचा पांग। भोई चांग मी होईन॥६९॥ सुखासनाचेनि पडिपाडें। चालतां सुख अधिक वाढे। मागील सूड काढूनि पुढें। सुखसुरवाडें चालेन॥५७०॥ चढणें पडणें अडखळणें। दडकणें फडकणें अडकणें। सांभाळूनियां निष्ठेनें। टणकपणें चालेन॥७१॥ उरीं शिरीं खांदीं कोंपरीं। मागील सूड पुढें धरीं। दृष्टी ठेऊनि पायांवरी। निर्विकारी चालेन॥७२॥ आटी मुरडी उलट लोट। धापकांप पडे मेट। आधार धरूनि सुभट। चढती वाट चालेन॥७३॥ उल्लंघूनि कामाचा पाट। आंवरूनि क्रोधाचा लोट। चुकवूनि खोलव्याची वाट। धुरेसकट मी चालेन॥७४॥ ममतेची ओल प्रबळ। ते ठायीं रुती गुंती सबळ। तेथ न माखतां पाउल। लंघूनि तत्काळ जाईन॥७५॥ मोहनदीची थोर कराडी। माजीं सबळ जळें प्रबळ वोढी। शिंतोडा न लागतां धूर मी काढीं। परापर थडी तत्काळ॥७६॥ दृष्टी ठेवूनि स्वामीकडे। सवेग चालतां मागेंपुढें। भोई होईन दोहींकडे। सूड सुडें काढीन॥७७॥ एवं मीचि मी मागें पुढें। सुखासनाचेनि सुरवाडें। स्वामीची निजनिद्रा न मोडे। तेणें पडिपाडें वाहेन॥७८॥ उच्छिष्ट अन्नाचा पोसणा। आठां प्रहरांचा जागणा। सदा गुरुगुरु करीत जाणा। गुरुद्वारीं सुणा मी होईन॥७९॥ विजाती देखोनि नयना। सोहं भावें भुंकेन जाणा। भजनथारोळा बैसणा। गुरुदारीं सुणा मी होईन॥५८०॥ ऐसऐशिया भावना। गुरुसेवेलागीं जाणा। अतिशयें आवडी मना। नाना विवंचना विवंची॥८१॥ जरी दैववशें दूर गेला। परी तो भावबळें जवळी आला। गुरुसेवे जो जीवें विकला। तो शास्त्र पावला सद्विद्या॥८२॥ असो जवळी अथवा दूरी। परी गुरुभक्तीची आवडी भारी। जीवित्व ठेविलें सेवेवरी। गुरूच्या द्वारीं भजनासी॥८३॥ ऐसा गुरुभक्तीसी सादर। चढत्या आवडीं एकाग्र। तेंचि सद्विद्यालक्षण शस्त्र। गुरुकृपाकुठार पैं पावे॥८४॥ लावोनि वैराग्याचे साहाणे। प्रत्यावृत्तिबोधकपणें। शस्त्र केलें जी सणाणें। तीक्ष्णपणें

अतिसज्ज ॥ ८५ ॥ शस्त्र सजिलें निज दृष्टीं। दृढ धरिलें ऐक्याचे मुष्टीं। शस्त्र आणि शस्त्रधरा एकी गांठी। करूनि उठी भवच्छेदा ॥ ८६ ॥ दृढ साधोनियां आवो। निजबळें घालितां घावो। झाला भववृक्षाचा अभावो। घायेंवीण पहा हो छेदिला ॥ ८७ ॥ जीवाशयाची वासना। ते छेदावी निजकल्पना। तोचि भववृक्षाचा छेदू जाणा। सावधाना धृतिबळें ॥ ८८ ॥ झालिया चैतन्यपदप्राप्ती। सकळ साधनें सहजें जाती। भोजनीं झालिया पूर्ण तृप्ती। ठायींच राहती पक्वान्नें ॥ ८९ ॥ परमतृप्ती उथळल्या पोटीं। अमृतही न लावी ओंठीं। तेवीं ब्रह्मपद पावल्यापाठीं। साधनआटाटी सांडाव्या ॥ ५९० ॥ हाचि भावो धरोनि चित्तीं। मागां सांगीतलें तुजप्रती। सांडीं साधनव्युत्पत्ती। प्रवृत्तिनिवृत्तीसमवेत ॥ ९१ ॥ पावलिया परब्रह्म। मिथ्या वेदोक्त सकळ कर्म। मिथ्या आश्रमादि वर्णधर्म। हें त्यागितें वर्म कर्माचें ॥ ९२ ॥ स्वप्नीं चालतां लवडसवडीं। जो अडखळूनि पडला आडीं। तो जागा होऊनि आपणातें काढी। तैशी वृक्षा वोढी साधनीं ॥ ९३ ॥ पीक आलिया घुमरी। ते शेतीं कोण नांगर धरी। गजान्तलक्ष्मी आलिया घरीं। भीक दारोदारीं कोण मागे ॥ ९४ ॥ हातीं लागलिया निधान। नयनीं कोण घाली अंजन। साधलिया निजात्मज्ञान। वृथा साधन कोण सोशी ॥ ९५ ॥ अंगीकारोनि ज्ञानशक्ती। कलीं संसारनिवृत्ति। ते हे त्यागावी निजवृत्ती। जाण निश्चतीं उद्धवा ॥ ९६ ॥ अग्निस्तव निपजे अन्न। तें वाफ न जिरतां परमान्न। पोळी अवशेष तापलेपण। रांधितेंहीं जाण चवी नेणे ॥ ९७ ॥ आंबया पाडु लागला जाण। तरी अंगीं असे आम्लपण। सेजेसि मुरालिया मघमघोन। न चाखतां घ्राण चवी सांगे ॥ ९८ ॥ सेजे मुरावयाची गोठी। तेथ न व्हावी द्वैताची दिठी। येरयेरां जाहलिया भेटी। दोनी शेवटीं ठिकाळती ॥ ९९ ॥ ठिकाळलीं सेजे घालिती। तत्संगें आणिकें नासती। निश्चळ राहिल्या एकांतीं। परिपाकपूर्ती घ्राण सांगे ॥ ६०० ॥ शत्रु जिणोनियां कडाडीं। रणांगणीं उभवितां गुढी। शस्त्रेंसीं कवच जंव न फेडी। तंव विश्रांति गाढी न पविजे ॥ १ ॥ गरोदरेसी प्रसूति होये। पुत्रजन्में सुखावली ठाये। तेही बारावळी जैं पाहे। तैं भोगूं लाहे पुत्रसुख ॥ २ ॥ पुरुष निमोनियां जाये। त्या देहाचें दहन होये। तरी अवशेष सुतक राहे। तें गेलिया होये निजशुद्धी ॥ ३ ॥ तेवीं जावोनियां अज्ञान। उरला जो ज्ञानाभिमान। तोही त्यागिलिया जाण। चित्समाधान स्वानंदें ॥ ४ ॥ खैराचा शूळ तत्त्वतां मारी। मा चंदनाचा काय आन करी। तेवीं अभिमान दोहींपरी। बाधकता धरी ज्ञानाज्ञानें ॥ ५ ॥ लोखंडाची बेडी तोडी। मा आवडीं सोनियाची जडी। चालतां तेही तैशीच आडी। बाधा रोकडी जैशी तैशी ॥ ६ ॥ 'ब्रह्माहमस्मि' हा अभिमान। शुद्ध ब्रह्म नव्हे जाण। अहंपणें तेंही कठिण। तेंही लक्षण अवधारीं ॥ ७ ॥ जळापासोनि लवण होये। तें जळींचें जळीं विरोनि जाये। मोतीं झालें तें कठिण पाहें। उदकीं न जाये विरोनी ॥ ८ ॥ मुक्तपणें मोला चढलें। तें वनिताअधरीं फांसा पडिलें। मुक्तचि परी नासा आलें। कठिण केलें अभिमानें ॥ ९ ॥ तेवीं अज्ञानअभिमान आहे। तो सर्वथा तत्काळ जाये। ज्ञानाभिमान कठिण पाहें। गोंविताहे मुक्तत्वें ॥ ६१० ॥ अपक्व घटू तत्काळ गळे। तो पृथ्वीचा पृथ्वीस मिळे। भाजिलें खापर अतिकाळें। पृथ्वीस न मिळे कठिणत्वें ॥ ११ ॥ प्रपंच अज्ञानें झाला लाठा। ज्ञानअज्ञानांचा सत्ववांटा। फेडूनि कांटेन कांटा। दोनी आव्हांटा सांडावे ॥ १२ ॥ जरी सांडिले वाटेवरी। तरी अवचटें आपणासीचि बाधु करी। यालागीं सांडावे दूरी। निजनिर्धारीं हा त्यागू ॥ १३ ॥ जेथवर अहंपण। तितुकेंही बाधक जाण। शुद्धाशुद्ध अभिमान। निःशेष सज्ञान सांडिती ॥ १४ ॥ उद्धवा